032

421

उद्योतकर का न्यायवार्तिक: एक अध्ययन

(लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि हेतु
स्वीकृत प्रबन्ध १९६४)

डॉ० दयाशङ्कर शास्त्री
एम० ए०, पी-एच० डी० आचार्य

आमुख लेखक
प्रोफेसर-को० आ० सुब्रह्मण्य अय्यर
अवकाशप्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष-संस्कृतविभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
तथा
भूतपूर्व कुलपति लखनऊ विश्वविद्यालय एवं
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय प्रकाशन, चौक, कानपुर

प्रकाशक
भारतीय प्रकाशन
चौक-कानपुर

संस्करण—प्रथम, १९७४
मूल्य : चालीस रुपया मात्र

मुद्रक
ज्योतिष प्रकाश प्रेस
कालभैरव मार्ग
वाराणसी—१

UDYOTAKARA KĀ NYĀYAVĀRTIKA : ĒKA ADHYAYANA

{Thesis approved for the degree of Doctor of Philosophy in Sanskrit by the University of Lucknow, 1964}

Dr. Daya Shankar Shastri
M.A. Ph.D. Acharya

Foreword by :
Prof. K. A. S. Iyer
Formerly Professor and Head of the Deptt, of Sanskrit, Lucknow University, Lucknow
Ex Vice-Chancellor, Lucknow University
and Vārāṇaséya Sanskrit University.

BHARTIYA PRAKASHAN
CHOWK, KANPUR

Publisher : Bhartiya Prakashan, Chowk, Kanpur
Printer : Jyotish Prakash Press, Varanasi—1
Edition : First, 1974
Price : Rs. 40/—

समर्पण

पूज्य गुरुदेव आचार्य पं० आनन्द झा जी

के

करकमलों में सादर

समर्पित

FOREWORD

The Nyāyavārtika of Udyotakara is an important work belonging to the old Nyāya. So far no detailed study of that work has appeared in any language, though the different Histories of Indian Philosophy, published by eminent scholars like Dr, Surendranath Das Gupta has something to say about old Nyāya and Udyotakara. That gap has now been filled by the present work of Dr. Dayashankar Shastri, entitled : "उद्योतकर का न्यायवार्तिक—एक अध्ययन ।"

This work is in 12 chapters and expounds in detail in Hindi what Udyotakara has to say on the sixteen *padārthas*, enumerated by Gautam. The four pramāṇas, accepted by *Nyāya*, are discussed in detail and how the others come under *anumāna* is shown with great lucidity. Apart from the accepted four pramāṇas, much has been said of *pramā* and *pramāṇa* in general which will be of great use to a studend of any system of Indian Philosophy. The chapter on आचार दर्शन is particularly interesting as it throws a great deal of light on ancient Nyāya ethics. The last chapter gives briefly the arguments by which the views of some other philosopher are refuted and gives a completeness to the work.

On the whole, this young scholar, Dr. Dayashankar Shastri is to be congratulated on his success in his attempt to present a lucid exposition of the views of a philosopher, reputed to be difficult to understand who, however, forms an important link in the history of Indian Philosophy.

Lucknow
7-3-1975.

A. Subramania Iyer

सम्मति

विद्वन्मूर्धन्य मिश्र वाचस्पति ने जिसके ऊपर 'तात्पर्यटीका' लिखते हुये यह कहा है कि "इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम्। उद्योतकर-गवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्॥" अप्रतिम तार्किक उद्योतकर की उस अप्रतिम कृतिन्यायवार्त्तिक की गरिमा का वर्णन जितना भी क्यों न किया जाय थोड़ा ही रहेगा।

ऐसे महत्त्वपूर्ण दुरुह तर्कबहुल दार्शनिक संस्कृत ग्रन्थ को विषय बनाकर राष्ट्र की उदीयमान भाषा हिन्दी के माध्यम से उपस्थित किये गये इस प्रशंसनीय शोध-निबन्ध को इस सुन्दर रूप में मुद्रित एवं प्रकाशित देखकर इसलिये अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है कि इससे इसके यशस्वी प्रणेता अपने अन्यतम प्रिय शिष्य डॉ० दयाशङ्कर शास्त्री का वह एतद्विषयक सश्रम अध्ययन स्मृतिपथ पर आ उतरा है जिसके अनन्तर उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण कार्य का प्रारम्भ किया था।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इसकी सर्वतोमुख भद्रता पर आकृष्ट होने वाला विज्ञसमाज इसका उचित आदर करेगा और उच्चकोटि के जिज्ञासुजन इससे अधिकाधिक लाभ उठावेंगे। इति।

आनन्द झा
प्रधान—प्राच्य संस्कृत विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

१३—४—७९

Dr. S. Venkitasubramonia Iyer,
M. A. Ph. D., Professor & Head of the Department of Sanskrit.
University of Kerla

8. 1. 1976

......your book 'Udyotakara ka Nyāyavārttika : Ek Adhyayana' which embodies a lucid exposition and the result of your careful study of a difficult and neglected text in Nyāya philosophy.

Prof. V. Subba Rao
Head of the Dept. of Sanskrit
Andhra University,
Waltair.

17. 12. 1975

I heartily congratulate you on your splendid achievement. The context of your work is clear-cut, lucid and explanatory and highly valuable to those who wish to pursue higher studies in Tarka Shastra.

E/4, University Campus
Kurukshetra (Haryana)

Dr. Gopikamohan Bhattacharya
M. A. D. Phil. (Cal.) Dr. Phil. (Vienna)
Kāvà–Nyāyatīrtha

Professor and Head of the Department of
Sanskrit, Pali and Prakrit
Director, Institute of Indic Studies

As I was glancing through the book I was thinking that serious research in Sanskrit philosophical texts is not a matter of the past and a difficult text like Nyāyavārttika still attracts the attention of scholars. You have filled up a gap by presenting this highly commendable work and have rendered valuable service to the literature on Nyāya. May I congratulate you for this creditable performance ?

Thaning you.

Yours Sincerely
G. Bhattacharya
12. 12, 75

Review from the Annals of Oriental Research of the University of Madras Volume XXVII Parts I & II, 1977.

Udyotakara kā Nyāyavārtika–Ek Adhyayana. Prof. Dr. Daya Sankara Sastri, Bhārtiya Prakashana. Kanpur, Pages 321, Rs. 40/

This doctoral thesis approved by the Lucknow University gives a detailed study of Udyotakara's Vārtika on the Nyāyasūtra–bhāṣya. Udyotakara flourished in the 7th Century A. D. and wrote the commentary mainly to refute the views of Buddhist logicians like Dignāga and Vasubandhu and defend the principles of rcalism against all kinds of 'subtle idealistic arguments.'

The present work which is in Hindi brings out the special stand-point of the Nyāya–Vais'eṣika in the light of the criticisms of the views of the Buddhist Logicians. The treatment of the subject is historical and analytical. The author has read widely and deeply and has consulted all the original texts and expositions connected with the subject.

Even advanced students of Nyāya will stand to gain immensely by reading this book.

—N. Veezhinathan

Karnatak University
Department of Sanskrit

Dr. K. Krishnamoorthy
Professor and Head of the Dept.

Dharwar–3
Mysore State–India
25th Nov. 1975

I have always felt that in our whole Nyāya literature there are just two outstanding thinkers, Udyotakara and Jayanta Bhatta...

Hence I am so happy to find that you have given a thorough-going and comprehensive study of the former without leaving out any important aspect. The light it throws on the growth of epistemological polemics in the most creative period of Indian logic is indeed a welcome addition to our existing knowledge of the subject.

I congratulate you heartily on your brilliant work.

Dr. M. M. Sharma
M. A., Ph. D., D. Litt., Kavyatirtha
Professor & Head of the Deptt. of Sanskrit
Gauhati Univeısity

31. 1. 76

After the publication of your lucid exposition the very difficult text of Udyotakara should no longer remain a sealed casket for the modern students of Indian epistemology.

दो शब्द

'उद्योतकर का न्यायवार्तिक : एक अध्ययन' आपके सामने प्रस्तुत है। प्राचीन न्यायदर्शन में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में 'न्यायवार्तिक' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। डॉ० रैण्डिल तो 'न्यायवार्तिक' को तर्कशास्त्र पर लिखे गये विश्व के उच्चतम निबन्धों में से अन्यतम मानते हैं। जो भी हो इस ग्रन्थ की दुर्बोधता एवं महत्त्व से विद्वद्वर्ग भलीभाँति परिचित है। भाषा के सारल्य एवं विषय की स्पष्टता पर विशेष ध्यान दिया गया है। न्यायदर्शन का किसी भी रूप में अध्ययन करने वाले व्यक्ति के लिए यह ग्रन्थ उपादेय होगा ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रकृत ग्रन्थ एक शोध प्रबन्ध है जिसे लखनऊ विश्वविद्यालय ने सन् १९६४ ई० में पी-एच० डी० उपाधिहेतु स्वीकृत किया था। यह कार्य माननीय गुरु डॉ० सत्यव्रत सिंह (भूतपूर्व संस्कृतविभागाध्यक्ष, लखनऊ विश्वविद्यालय) के सन्निर्देशन में सम्पन्न हुआ। एतदर्थ लेखक उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता है। हम अपने सम्माननीय पूज्य गुरुदेव प्रोफेसर को० आ० सुब्रह्मण्य अय्यर की कृपा के अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने इस कार्य को करने के लिए सदैव प्रोत्साहित किया और अपना बहुमूल्य समय देकर यदा-कदा कुछ आवश्यक सुझाव देते रहे। अत्यधिक व्यस्त रहने पर भी आपने ग्रन्थ का foreword लिखकर लेखक पर असीम अनुकम्पा की है। लेखक के प्रति विशेष स्नेह रखने वाले तथा समय-समय पर कतिपय समस्याओं पर प्रकाश डालकर अनुगृहीत करने वाले परमादरणीय गुरुदेव डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय आज हमारे बीच में नहीं हैं। लेखक श्रद्धावनत होकर उनका स्मरण करता है।

जिनके चरणों में बैठकर लेखक ने वर्षों भारतीय दर्शन का अध्ययन किया है उन्हीं विद्वद्वरेण्य पूज्य गुरुदेव आचार्य पं० आनन्द झा (अध्यक्ष प्राच्य संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) को यह कृति समर्पित की जा रही है।

एतादृश आचार्यों के विषय में ही यास्क ने लिखा है—'आचारं ग्राह्य त्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति'।

परमादरणीय गुरु डॉ० शिवशेखर जी मिश्र (प्रोफेसर एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) के सत्परामर्श, मार्गदर्शन एवं अनवरत प्रेरणा का लेखक विशेष आभारी है जिन्होंने अनेक प्रकार से सहायता प्रदान की है। सम्माननीय गुरु डॉ० मातृदत्त जी त्रिवेदी के स्वाभाविक स्नेह का लेखक ऋणी है जो शास्त्रचर्चा द्वारा लेखक को सदा प्रेरित करते रहे हैं तथा अपनी व्यक्तिगत पुस्तकों को उपयोगार्थ देते रहे हैं।

सम्मान्य विद्वान् डॉ० आद्याप्रसाद जी मिश्र (प्रयाग विश्वविद्यालय) ने प्रकृत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि का अवलोकन करके प्रकाशक को ग्रन्थ प्रकाशन हेतु प्रोत्साहित किया जिससे ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित हो सका। एतदर्थ मैं डॉ० मिश्र के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। प्रकाशक महोदय अपने उत्साह एवं कर्मठता के कारण प्रशंसा एवं आशीर्वचन के पात्र हैं।

लेखक

विषयानुक्रमणी

अध्याय १

'न्यायवार्तिक' में प्रमा और अप्रमा का स्वरूप

अध्याय २

'न्यायवार्तिक' में प्रमाण का लक्षण एवं प्रत्यक्ष प्रमाण

अध्याय ३

'न्यायवार्तिक' में प्रत्यक्ष के विषय-अवयवी एवं प्रत्यक्ष के अविषय-परमाणु पर विचार

अध्याय ४

'न्यायवार्तिक' में अनुमान प्रमाण

अध्याय ५

'न्यायवार्तिक' में उपमान और शब्द प्रमाण

अध्याय ६

'न्यायवार्तिक' में प्रमाणविषयक समस्यायें

अध्याय ७

प्रमा में सहायक अन्य पदार्थ

अध्याय ८
'न्यायवार्तिक' में जाति एवं निग्रहस्थान

अध्याय ९

'न्यायवार्तिक' में आत्मा एवं तत्सम्बन्धी अन्य पदार्थ

अध्याय १०

'न्यायवार्तिक' का आचारदर्शन

अध्याय ११

'न्यायवार्तिक' में ईश्वर

अध्याय १२

'न्यायवार्तिक' में अन्य विभिन्न मतों की आलोचना

परिशिष्ट



उद्योतकर का 'न्यायवार्तिक' : एक अध्ययन

प्राक्कथन

'न्यायवार्तिक' के पूर्व न्यायदर्शन का स्वरूप
(उद्भव और विकास)

न्यायदर्शन के साहित्य में प्राचीनतम ग्रंथ 'न्यायसूत्र' है। न्यायसूत्रों में न्यायदर्शन के तात्कालिक सिद्धान्तों को संकलित एवं व्यवस्थित किया गया है। यह कार्य महर्षि गौतम[1] ने किया है। न्याय का दर्शन सूत्रों से अधिक प्राचीन है। 'आन्वीक्षिकी' विद्या तथा उपनिषद् के 'वाकोवाक्य' को न्यायदर्शन का स्रोत माना जाता है। ब्राह्मण और उपनिषद् के 'आत्मा' पर उपनिषत्कालीन ऋषियों ने विचार किया[2]। जिस विद्या में 'आत्मा' का विवेचन किया गया है उसे उपनिषदों में आत्मविद्या कहा गया है,[3] और उसी विद्या को कालान्तर में 'आन्वीक्षिकी' (लगभग ई० पू० ६५०—ई० पू० १०० वर्ष) कहा गया है।

आत्मा एवं उसके विवेचन के लिए उपयोगी प्रमाण आदि का भी तर्कपूर्ण विचार करने के कारण आन्वीक्षिकी को 'आत्मविद्या' से अलग कर दिया गया[4]। आत्मविद्या का प्रयोजन आत्मासम्बन्धी सिद्धान्तों को केवल प्रस्तुत

---

१. न्यायसूत्रकार का नाम 'गोतम' है अथवा 'गौतम' इस विषय में भी मतभेद है—

'तत्र तावन्न्यायशास्त्रप्रणेता भगवान् महर्षिर्गौतमः कस्मिन् काले कस्मिन् देशे आविरासीदिति निर्णयस्तु दूरे गतस्तस्य नाम्न्येव विवादो वर्तते। स च गोतमो गौतमो वा ? दृश्यते चानेकत्र गोतम इति बहुत्र च गौतम इति। ......'

(न्यायवार्तिक—भूमिका, पृष्ठ १४–१५ एवं आगे)

२. Vidyabhusana : A History of Indian Logic p. 2, foot-note 2, 3., p. 3, footnote 4.

३. Vidyabhusana : A History of Indian Logic p. 4.

४. देखिये—'तस्याः पृथक् प्रस्थानाः संशयादयः पदार्थाः। तेषां पृथग्-वचनमन्तरेणाध्यात्मविद्यामात्रमियं स्यात्, यथोपनिषदः।'

(न्यायभाष्य १।१।१)

करना ही था। आन्वीक्षिकी आत्मा और उसके विवेचन के हेतु दोनों के स्वरूप पर विचार करती थी। हेतु पर विचार करने के कारण आन्वीक्षिकी को कालान्तर में 'हेतुशास्त्र', 'तर्कविद्या', 'वादविद्या' और अन्त में 'न्यायशास्त्र' कहा गया है[1]। इस विवेचन से यही प्रतीत होता है कि न्यायदर्शन का स्रोत बहुत प्राचीन है तथा न्यायसूत्रों के सिद्धान्तों का प्रचार सूत्रों के प्रणयन के पूर्व था।

न्यायसूत्र :—न्यायसूत्र के रचयिता गौतम माने जाते हैं[2]। इन्हें 'अक्षपाद' भी कहा जाता है[3], किन्तु डॉ० विद्याभूषण गौतम और अक्षपाद को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। उनके अनुसार न्यायसूत्र दोनों की सम्मिलित कृति है[4]। सभी सूत्रों की रचना एक ही समय नहीं हुई है। कुछ सूत्रों को समय-समय पर लिखकर पूर्वलिखित सूत्रों में मिलाया गया। डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार प्राचीनतम सूत्रों का समय ई० पू० 'चतुर्थ या तृतीय' शताब्दी होना चाहिये और कुछ सूत्र ईसायुग के बाद तक के होने चाहिये[5]। जेकोबी न्यायसूत्रों में नागार्जुन (ईसा की तृतीय शताब्दी) में शून्यवाद तथा असङ्ग एवं वसुबन्धु (ईसा की चतुर्थ शताब्दी का मध्य) के विज्ञानवाद की आलोचना मानकर सूत्रों का रचना-काल ईसा की द्वितीय से चतुर्थ शताब्दी तक मानते हैं[6]। शून्यवाद और विज्ञानवाद के सिद्धान्त—जिनकी आलोचना सूत्रों में पायी जाती है—नागार्जुन एवं असङ्ग तथा वसुबन्धु से प्राचीन हैं, इसलिए जेकोबी का उक्त मत उचित नहीं प्रतीत होता है। विभिन्न विद्वान् न्यायसूत्रों

---

१. Vidyabhusana : A History of Indian Logic pp; 5, 7, 8.

२. पद्मपुराण, उत्तरखण्ड २६३ और स्कन्दपुराण, कालिकाखण्ड १७ में गौतम को न्यायदर्शन का आचार्य माना गया है।

३. वात्स्यायन, उद्योतकर, माधव, वाचस्पति और जयन्त आदि नैयायिक 'अक्षपाद' को न्यायसूत्रों का रचयिता मानते हैं।

४. 'The lete Dr. S. C. Vidyābhūsaṇa in J. A. R. S. 1918 thinks that the earlier part of Nyāya was written by Gautam about 550 B. C. whereas the Nyāya sūtras of Akṣapāda were written about 150 A. D,……'
(Dasgupta : A History of Indian Philosophy, p. 279)

५. Radhakrishnan : Indian Philosophy, vol. II pp. 36–37.

६. J. A. O. S. XXXI 1911, pp. 2, 13.

का काल ई० पू० चतुर्थ शताब्दी से लेकर ईसा की पंचम शताब्दी तक मानते हैं।

न्यायसूत्र पाँच अध्यायों में विभक्त हैं। प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। सूत्रों में न्यायदर्शन के सिद्धान्तों के प्रतिपादन के अतिरिक्त विज्ञानवाद, शून्यवाद, सांख्य, मीमांसा और योग आदि दर्शनों का उल्लेख एवं यथासम्भव आलोचना पायी जाती है।

न्यायसूत्रों की आलोचना :— बौद्ध आचार्य नागार्जुन (ई० २५०–३२०) ने न्यायसूत्रों में प्रतिपादित न्यायसिद्धान्तों की आलोचना 'विग्रहव्यावर्तिनी' एवं 'उपायकोशल' नामक अपनी कृतियों में किया है[१]। आर्यदेव (ई० सन् ३२०) नामक बौद्ध दार्शनिक ने 'शतशास्त्र' में न्यायदर्शन की आलोचना के प्रसङ्ग में कुछ न्यायसूत्रों (अध्याय ३, आह्निक १, सूत्र सं० ७, १२, १४ एवं १८) को उद्धृत किया है[२], तथा न्यायदर्शन के सिद्धान्तों की आलोचना की है।

न्यायभाष्य :— बौद्धकृत आलोचनाओं का उत्तर देने एवं सूत्रों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए वात्स्यायन ने न्यायसूत्रों पर भाष्य लिखा। न्यायसूत्रों पर सर्वप्रथम उपलब्ध व्याख्या न्यायभाष्य ही है। वात्स्यायन का दूसरा नाम 'पक्षिलस्वामी' भी है। डॉ० विद्याभूषण वात्स्यायन को दक्षिण भारत का निवासी तथा इनका समय ईसा की चतुर्थ शताब्दी मानते हैं[३]। एक मत के अनुसार ये मैथिल ब्राह्मण थे[४]। वात्स्यायन ने कई स्थानों पर सूत्रों की व्याख्या विकल्प से की है, इससे ज्ञात होता है कि सूत्र और भाष्य के बीच समय का अधिक व्यवधान हो जाने के कारण सूत्रों का ठीक-ठीक अर्थ समझना कठिन हो गया था[५]। भाष्य के अनेक स्थलों पर 'एके', 'केचित्', 'अन्ये' आदि शब्दों का प्रयोग करके पूर्ववर्ती तार्किकों की ओर संकेत किया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि इन तार्किकों का सूत्रगत विभिन्न शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध

---

१. Radhakrishnan : Indian Philosophy, vol. II, p. 38.
२. Tucci : Pre-Dinnaga Buddhist Texts on Logic from Chinese Sources, Introduction, p. (XXVII).
३. Vidyabhusana : A History of Indian Logic, pp. 115-17.
४. वात्स्यायनविषयक विस्तृत विवेचन न्यायवार्तिक की भूमिका (पृष्ठ ७३–१३३) में प्राप्त होता है।
५. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 38.

में मतभेद रहा होगा। वात्स्यायन ने बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन के सापेक्षवाद की आलोचना भाष्य (सूत्र ४।१।३९–४०) में की है। इसके अतिरिक्त शून्यवाद (न्यायभाष्य ४।१।३७–४०, ४८), विज्ञानवाद (न्यायभाष्य ४।२।२६) और क्षणिकवाद (न्यायभाष्य ३।२।१०–१२) की भी आलोचना न्यायभाष्य में पायी जाती है। बौद्ध-मतों की आलोचना के साथ ही साथ सांख्य, मीमांसा एवं योग आदि दर्शनों के सिद्धान्तों का उल्लेख एवं यथासम्भव आलोचना की गयी है।

वात्स्यायन ने पाँच के स्थान पर न्यायवाक्य के दस अवयव मानने का खण्डन किया है। ईश्वर और मोक्ष के सम्बन्ध में वात्स्यायन ने नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

न्यायभाष्य की आलोचना :—वसुबन्धु (ई० सन् ४१०–४९०) और उनके शिष्य दिङ्नाग (ई० सन् ४५०–५२०) ने अपने ग्रन्थों में न्यायभाष्य की आलोचना की है। 'वादविधि', 'वादमार्ग' और 'वाद-कोशल' वसुबन्धु की रचनाएँ मानी जाती हैं। डॉ० विद्याभूषण 'तर्कशास्त्र' को भी इनकी रचना मानते हैं किन्तु टुची को 'तर्कशास्त्र' के रचयिता के बारे में सन्देह है[1]। अभी तक वसुबन्धु द्वारा रचित कुल ३२ ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं[2]। तात्पर्य-टीकाकार ने स्थान-स्थान पर वसुबन्धु का उल्लेख किया है, जिससे सिद्ध होता है कि वसुबन्धु ने भाष्य की आलोचना की थी, जिसका उत्तर वार्तिककार ने दिया।

दिङ्नाग ने 'प्रमाणसमुच्चय', 'न्यायप्रवेश', 'हेतुचक्रहमरु', प्रमाणसमुच्चय-वृत्ति', 'प्रमाणशास्त्रन्यायप्रवेश', 'आलम्बनपरीक्षा', 'त्रिकालपरीक्षा', 'आलम्बन-परीक्षावृत्ति' एवं 'मर्मप्रदीपवृत्ति' नामक ग्रन्थ लिखे। दिङ्नाग ने वात्स्यायन और गौतम के सिद्धान्तों की आलोचना, बौद्धमतों की रक्षा एवं मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। डॉ० विद्याभूषण ने इस आचार्य को मध्ययुगीन भारतीय न्याय का जनक माना है[3]। धर्मकीर्ति आदि परवर्ती बौद्ध दार्शनिकों

१. Tucci : Pre–Dinnaga Buddhist Texts on Logic from Chinese Sources, Introduction, p. 1.
२. डॉ. महेश तिवारी : विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि का प्राक्कथन, पृष्ठ ४–५.
३. 'Dignāga is justly regarded as the Father of. Mediaeval Logic'.
(Vidyabhusana : A History of Indian Logic, p. 270).

ने दिङ्नाग के मत की रक्षा में और नैयायिक एवं मीमांसक आदि हिन्दू दार्शनिक दिङ्नाग की आलोचना में तत्पर हो गये। दिङ्नाग से परवर्ती भारतीय न्याय के इतना प्रभावित होने के कारण डॉ० विद्याभूषण इन्हें प्रथम एवं अन्तिम 'भारतीय तर्कशास्त्री' कहना उचित समझते हैं। वाचस्पति मिश्र ने दिङ्नाग के सिद्धान्तों और लक्षणों को प्रायः उद्धृत करके उनकी आलोचना की है। यद्यपि वार्तिककार ने भी ऐसा ही किया है किन्तु वे दिङ्नाग का नामोल्लेख नहीं करते।

न्यायवार्तिक

उद्योतकर ने बौद्धों की आलोचनाओं का उत्तर देने के लिए सातवीं शताब्दी में न्यायभाष्य पर 'न्यायवार्तिक' नामक व्याख्या का प्रणयन किया। इनकी एकमात्र यही रचना उपलब्ध होती है।

उद्योतकर का समय :—सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' में उद्योतकर का न्याय के स्थापक के रूप में उल्लेख किया है[1] और बाण ने 'हर्षचरित' में सुबन्धु की कृति—'वासवदत्ता' का उल्लेख किया है[2]। 'हर्षचरित' के देखने से पता चलता है कि युवक बाण हर्षवर्धन के दरबार में रहते थे। हर्षवर्धन ने ई० सन् ६२९ से ई० सन् ६४४ तक राज्य किया। इस प्रकार उद्योतकर बाण के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। उद्योतकर का समय कतिपय विद्वान् ईसा की छठी शताब्दी मानना उचित समझते हैं। डॉ० विद्याभूषण इनका समय ६३५ ई० के आसपास मानते हैं और रैण्डिल ७वीं शताब्दी का प्रारम्भ[3]।

उद्योतकर का व्यक्तिगत नाम :—वार्तिक के प्रणेता आचार्य के 'भारद्वाज', पाशुपत', और 'उद्योतकर' नाम मिलते हैं[4]। न्यायवार्तिक के अन्तिम

१. Vasavadatta, p. 236, Hall's edition.

२. 'कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।'

(हर्षचरित, उच्छ्वास १)

३. Vidyabhusana : A History of Indian Logic, p. 124.
Randle : Fragments from Dinnaga. p. 2.

४. 'इति श्रीपरमर्षि-भारद्वाज-पाशुपताचार्यश्रीमदुद्योतकरकृतौ न्यायवार्तिके पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः।'

(न्यायवार्तिक, पृष्ठ ५६०)

श्लोक में उद्योतकर ने अपने को 'भारद्वाज' कहा है । श्लोक इस प्रकार है—

'यदक्षपादप्रतिभो भाष्यं वात्स्यायनो जगौ ।
अकारि महतस्तस्य भारद्वाजेन वार्त्तिकम् ।।'

सम्भव है कि उस समय भरद्वाज गोत्र या वंशनाम को अधिक महत्त्व दिया जाता हो इसलिए उन्होंने अपने को 'भारद्वाज' कहा हो । अपने को भारद्वाज कहने का दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि जब तक वार्तिक (उद्योत) की रचना एवं उसकी ख्याति नहीं हो पायी थी अपने को वार्तिक-कार या उद्योतकर कैसे कहते ? अधिक सम्भव है कि 'भारद्वाज' नाम न होने पर भी उस समय इस नैयायिक का परिचय 'भारद्वाज' शब्द से प्राप्त किया जाता हो, इसीलिए पूर्वज्ञात 'भारद्वाज' संज्ञा से अपना परिचय देना ठीक समझा हो ।

किन्तु वार्तिक के रचयिता का मुख्य नाम 'भारद्वाज' मान लेना कहाँ तक उचित होगा ? भरद्वाजवंशीय या भरद्वाजगोत्रीय होने के कारण भी इन्हें भारद्वाज कहा जा सकता है । राम को भी 'राघव' कहा जाता है किन्तु राघव राम का नाम नहीं हो सकता है । हाँ, 'राघव' शब्द के सुनने पर सर्वप्रथम राम का ही स्मरण होता है । यद्यपि राम के अतिरिक्त लक्ष्मण आदि भी राघव हैं किन्तु रघुवंश में महत्ता की दृष्टि से राम की प्राथमिकता है । इसी प्रकार वार्तिक के रचयिता भी भरद्वाज-परिवार में अधिक प्रसिद्ध और सर्वश्रेष्ठ होने के कारण पहले से ही भारद्वाज कहे जाते होंगे ।

वार्तिक के रचयिता ने अपने को भारद्वाज लिखा हो यह भी निश्चित नहीं । ऐसा प्रतीत होता है कि वार्तिक का अन्तिम श्लोक—जिसमें भारद्वाज ने अपने को वार्तिक का रचयिता कहा है—प्रक्षिप्त है, और उसे वाचस्पति मिश्र के पश्चात् वार्तिक में मिलाया गया है, क्योंकि वाचस्पति मिश्र ने इस श्लोक की व्याख्या नहीं की है । इसके पूर्व के श्लोक की, जिसे हम वार्तिक का उपसंहारवाक्य कह सकते हैं उन्होंने, व्याख्या की है । यदि अन्तिम श्लोक को सरल मानकर तात्पर्यटीकाकार उसकी व्याख्या न करते तो उसका संकेत करके 'स्पष्टम्' आदि लिखकर छोड़ देते । इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि इनका मुख्य नाम 'भारद्वाज' होना निश्चित नहीं है । कीथ भी 'भारद्वाज' को वंशनाम मानते हैं[१] ।

१. Keith : Indian Logic and Atomism, p. 28.

वार्तिक की महत्ता और प्रौढ़ता के कारण लोगों ने भारद्वाज को उद्योतकर (उद्योत-वार्तिक) कहा होगा, क्योंकि भरद्वाजवंशीय होने के कारण इनकी उतनी ख्याति नहीं हुई होगी जितनी 'उद्योत' व्याख्या लिखने के कारण। वाचस्पति मिश्र ने वार्तिक को 'उद्योत' निबन्ध कहा है[1] और उद्योत के रचयिता को उद्योतकर। इस प्रकार उद्योतकर या वार्तिककार भी रचयिता का मुख्य नाम नहीं माना जा सकता। हाँ, वासवदत्ता में उद्योतकर शब्द मिलता है अतएव उसे अन्य नामों में सबसे अधिक प्राचीन मानना उचित होगा।

'पाशुपत' भी वार्तिककार का मुख्य नाम नहीं हो सकता। डॉ० विद्याभूषण इन्हें 'पाशुपत शैवमत के अनुयायी होने के कारण 'पाशुपत' मानते हैं न कि उनका व्यक्तिगत नाम होने के कारण[2]। इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि भारद्वाज, पाशुपत, उद्योतकर अथवा वार्तिककार में से कोई भी न्यायवार्तिक के रचयिता का व्यक्तिगत नाम नहीं है। वस्तुतः इनका नाम अज्ञात है[3]।

उद्योतकर का स्थान :—उद्योतकर के जन्मस्थान एवं निवासस्थान का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। न्यायवार्तिक में 'श्रुघ्न' नामक स्थान का उल्लेख मिलता है[4]। यह स्थान थानेश्वर से ४० मील दूर उत्तर रहा होगा। डॉ० विद्याभूषण का अनुमान है कि न्यायवार्तिक की रचना के समय उद्योतकर

---

१. तात्पर्य टीका—प्रस्तावना, पृष्ठ २.

२. 'The name Bhāradvāja, as applied to Uddyotakar, is derived from the family to which he belonged while he is called Pāśupatācārya on account of his having been a preceptor of the Pāśupata Śaiva Sect.'
(Vidyabhusana : A History of Indian Logic, p. 124)

३. 'The attacks of Dignāga were replied to by Uddyotakara, 'the ellustrator', whose family name was Bhāradvāja, but whose personal name we do not know.'
(Keith : Indian Logic and Atomism, p. 28)

४. 'गोपालकेन मार्गोऽपदिष्टे एष पन्थाः श्रुघ्नं गच्छतीति नावधारणस्य विषयं पश्यामः'।
(न्यायवार्तिक १।१।३३, पृष्ठ ११०)

थानेश्वर में राज्याश्रित-रूप में रहते होंगे और श्रुघ्न एक बड़ी सड़क द्वारा थानेश्वर से मिला होगा। डॉ० विद्याभूषण न्यायवार्तिक में केवल एक स्थान 'श्रुघ्न' का ही उल्लेख मानते हैं[1] उनकी यह मान्यता उचित नहीं, क्योंकि न्यायवार्तिक में 'श्रुघ्न' के अतिरिक्त 'पाण्ड्य', 'मथुरा' और 'तक्षशिला' का भी उल्लेख हुआ है[2]। परम्परा के अनुसार पद्मावती (मालवा का आधुनिक नरवार स्थान) उद्योतकर का जन्मस्थान माना जाता है। कीथ के अनुसार उद्योतकर के एक शताब्दी बाद पद्मावती न्यायदर्शन के लिए प्रसिद्ध हो गया था,[3] किन्तु पण्डित विन्ध्येश्वरी प्रसाद पद्मावती में न्याय के किसी भी आकर-ग्रन्थ की रचना स्वीकार नहीं करते हैं और तदनुसार पद्मावती को उद्योतकर का जन्म-स्थान मानना उचित नहीं समझते हैं। उनके अनुसार उद्योतकर मैथिल ब्राह्मण हो सकते हैं[4]। उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उद्योतकर का जन्मस्थान एवं निवासस्थान दोनों ही पूर्णतः निश्चित नहीं हैं।

न्यायवार्तिक में उल्लिखित विभिन्न आचार्य, ग्रन्थ एवं स्थान

उद्योतकर ने वार्तिक में केवल दो व्यक्तियों 'अक्षपाद' और 'तथागत' का उल्लेख आचार्य के रूप में किया है[5], इसके अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया। अनेक स्थलों पर 'भदन्त' शब्द का प्रयोग किया गया है[6] किन्तु डॉ० विद्याभूषण का यह कथन कि वार्तिक में दिङ्नाग के

---

१. Vidyabhusana : A History of Indian Logic, p. 124.

२. 'यद्यनपेक्षं संयोगं कुर्यात् पाण्ड्यमथुरासम्बन्धिनि देवदत्ते उत्पन्नं कर्म तक्षशिलासम्बन्धिनि यज्ञदत्ते संयोगं कुर्यात्।'
(न्यायवार्तिक–१।१।३३, पृष्ठ २२०)

३. '......though tradition places his birthplace at Padmāvatī, now Narwar in Malwa, which a century later was Certainly celebrated as a School of Logic.'
('Keith : Indian Logic and Atomism, p. 28)

४. न्यायवार्तिक की भूमिका, पृष्ठ १३६.

५. 'अक्षपाद'—(न्यायवार्तिक १।१।१, प्रस्तावना, प्रारम्भिक श्लोक, पृष्ठ १)
'तथागत'—(न्यायवार्तिक १।१।५, पृष्ठ ४२; ३।१।४, पृष्ठ ३५४)

६. 'कोऽन्यो भदन्ताद्वक्तुमर्हति'—(न्यायवार्तिक १।१।४, पृष्ठ ४२)
'अहो प्रमाणाभिज्ञता भदन्तस्य'—न्यायवार्तिक १।१।६, पृष्ठ ५८)
'कौशलं भदन्तस्य'—(न्यायवार्तिक १।१।२१, पृष्ठ १०६)

लिए सर्वत्र 'भदन्त' शब्द का प्रयोग किया गया है[१] उचित नहीं, क्योंकि अनेक स्थलों पर दिङ्नाग के लिए 'अपरे' शब्द का भी प्रयोग हुआ है[२]। 'अपरे', 'अन्य', 'केचित्' और 'एके' शब्दों का प्रयोग करके बौद्ध एवं अन्य दार्शनिकों के मतों का परिचय दिया गया है[३]।

वार्तिक में कुछ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। ऐसे ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

१. सर्वाभिसमयसूत्र (न्यायवार्तिक ३।१।१, पृष्ठ ३९९)
२. वादविधानटीका (न्यायवार्तिक १।१।३३, पृष्ठ ११७)
३. वादविधि (न्यायवार्तिक १।१।३३, पृष्ठ ११७)
४. हेतुवार्तिक (न्यायवार्तिक १।१।३५, पृष्ठ १२८)
५. वृत्ति (वृत्तिपदानि) (न्यायवार्तिक १।२।१, पृष्ठ १५७)
६. वार्तिक (न्यायवार्तिक १।२।१ पृष्ठ १६०)
और ७. हेत्वाभासवार्तिक (न्यायवार्तिक १।२।४, पृष्ठ १६८)

इनमें से 'सर्वाभिसमय' का उद्धरण संयुक्तनिकाय में मिलने से उसे 'संजुत्तनिकाय' समझना चाहिए[४]। 'वादविधि' को वसुबन्धु की रचना माना

---

१. Dignāga is throughout designated as Bhadant (a venerable Buddhist monk)......'
(Vidyabhusana : A History of Indian Logic, p. 125)

२. "अपरे तु मन्यन्ते 'अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्भावो नास्तितासति।"
(न्यायवार्तिक १।१।५, पृष्ठ ५५)
"अपरे तु ब्रुवते नान्तरीयकार्थदर्शनं तद्विदोऽनुमानमिति।'
(न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ५४)

३. 'अपरे'–(न्यायवार्तिक, पृष्ठ १४, ३४, ३७, ४०, ५४, १४१, १५४, १५०, १६३, १७१, १८३, २३८, ४३६, ४७४)
'अन्ये'—(न्यायवार्तिक, पृष्ठ ४९, १२५, १३५, १३६, १५४, २३४, २८०, २८१, ४६२, ४६४, ४८८ आदि)
'केचित्'—(न्यायवार्तिक, पृष्ठ २२, १४१, १६४, २३५, २३६, २७२, आदि)
'एके'—(न्यायवार्तिक, पृष्ठ १५, ३३, ४५, ४८, ८१, ८४, ९३, १२०, २८० आदि)

४. Vidyabhusana : A History of Indian Logic, p. 126.

जाता है[१]। कीथ के अनुसार 'वादविधानटीका' बौद्ध दार्शनिक विनीतदेव के 'वादन्यायटीका' का ही दूसरा नाम है[२], किन्तु कीथ का यह कथन समीचीन नहीं प्रतीत होता। कारण, विनीतदेव उद्योतकर से परवर्ती धर्मकीर्ति[३] के ग्रन्थों के टीकाकार रहे हैं। इसी प्रमाण से कीथ की इस धारणा का कि 'वादविधि' धर्मकीर्तिरचित 'वादन्याय' है, निरास हो जाता है। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार 'वादविधान' (वादविधानटीका) और 'वादविधि' एक ही ग्रन्थ है और वसुबन्धुकृत है[४]। 'वृत्ति' से तात्पर्य सम्भवतः दिङ्नाग की 'प्रमाणसमुच्चयवृत्ति' से हो, अन्य ग्रन्थों का परिचय प्राप्त करने का कोई साधन नहीं है।

न्यायवार्तिक में कुल चार स्थानों का उल्लेख हुआ है—श्रुघ्न, पाण्ड्य, मथुरा और तक्षशिला[५]।

'न्यायवार्तिक' लिखने का प्रयोजन

नागार्जुन, वसुबन्धु और दिङ्नाग आदि बौद्ध दार्शनिकों ने न्यायसूत्र और न्यायभाष्य की यथासम्भव आलोचना की थी। उद्योतकर के वार्तिक लिखने का मुख्य प्रयोजन इन आलोचनाओं का उत्तर देना था। उद्योतकर ने वार्तिक के प्रारम्भ में स्वयं सूचित किया है कि कुतार्किकों के अज्ञान को दूर करने के लिए वे मुनिश्रेष्ठ अक्षपाद के शास्त्र पर निबन्ध (वार्तिक) लिख रहे हैं—

'यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः॥'

बौद्धों के लिए 'कुतार्किक' शब्द का प्रयोग उन (बौद्धों) की प्रखर प्रतिभा का सूचक है। वाचस्पति दिङ्नाग को मुख्य कुतार्किक मानते होंगे, क्योंकि उन्होंने 'कुतार्किक' शब्द का अर्थ 'दिङ्नागप्रभृति' लिया है[६]। दिङ्नाग

१. H. R. R. Iyengar : Pramanasamuchchaya, Introductron, p. XII.
२. Keith : Indian Logic and Atomism, p. 28.
३. Vidyabhusana : Mediaeval Logic, p. 105.
४. राहुलसांकृत्यायन : वादविधि. Introduction, p. II.
५. 'श्रुघ्न' (न्यायवार्तिक १।१।३३, पृष्ठ ११०)
'पाण्ड्य, मथुरा, तक्षशिला'—(न्यायवार्तिक २।१।३३, पृष्ठ २२०)
६. तात्पर्यटीका—१।१।१, प्रस्तावना, पृष्ठ २.

ने न्यायभाष्य की तीव्र आलोचना की थी, जिसका उत्तर देना अनिवार्य हो गया था। उद्योतकर ने इस कार्य को 'वार्तिक' लिखकर पूरा किया।

न्यायवार्तिक में बौद्ध कुतार्किकों पर व्यंग्य किया गया है और इसलिए उनके सम्बन्ध में 'महावादित्व' (न्यायवार्तिक १।१।३५, पृष्ठ १३३), 'महानैयायिकत्व' (न्यायवार्तिक १।१।३५ पृष्ठ १३३, न्यायवार्तिक १।१।३७, पृष्ठ १३६), 'विद्वस्यमानैः' (न्यायवार्तिक १।१।४, पृष्ठ ३४) एवं 'अहो पर्यायशब्देषु कौशलं भदन्तस्य' (न्यायवार्तिक १।१।३१, पृष्ठ १०६) आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। वार्तिककार ने अनेक स्थलों पर सूचित किया है कि बौद्ध एवं अन्य प्रतिपक्षी दार्शनिक उन (वार्तिककार) के मत को नहीं जानते, बल्कि नैयायिकों के मत को बिना समझे ही मनमानी आलोचना करने लगते हैं। इसीलिए वार्तिक में अनेक स्थलों पर 'न ब्रूमः'[1] का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ यह है कि जैसा समझकर प्रतिपक्षी आलोचना करता है वह हमारा कथन या कहने का अभिप्राय नहीं है। विभिन्न विषयों को लेकर प्रतिपक्षियों के अज्ञान का प्रदर्शन किया गया है, जैसे प्रतिपक्षी तर्क के स्वरूप को नहीं जानते—'तर्कस्वरूपानवबोधात्' (न्यायवार्तिक, पृष्ठ १४२), उन्हें 'समान' के स्वरूप का ज्ञान नहीं—'समानार्थापरिज्ञानात्' (न्यायवार्तिक, पृष्ठ ८९,३२२) आदि। इसी प्रकार विपक्षियों के अज्ञान को सूचित करने के लिए ही प्रायः निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग किया गया है—

'सूत्रार्थापरिज्ञानात्'—(न्यायवार्तिक, पृष्ठ ६२, ११०, १११, ३१६, ३४३, ४५३,......)

'सिद्धान्तापरिज्ञानात्'—(न्यायवार्तिक, पृष्ठ ७०)

'त्रयस्याप्यपरिज्ञानात्'—(न्यायवार्तिक, पृष्ठ १०३)

'सम्मूढेनोक्तम्'— (न्यायवार्तिक, पृष्ठ १२५)

'प्रत्ययस्वरूपानवबोधात्'—(न्यायवार्तिक, पृष्ठ १४१)

'तैस्तु न लक्षणव्यभिचारोऽवगतो नोदाहरणव्यभिचार इति'—(न्यायवार्तिक, पृष्ठ १०७)

'तन्नापरिज्ञानात्'—(न्यायवार्तिक, पृष्ठ १८३, १८४, १९५)

'न भवतास्मत्पक्षो व्यज्ञायि न स्वपक्षः' (न्यायवार्तिक, पृष्ठ १९५)

'न हेत्वर्थापरिज्ञानात्' (न्यायवार्तिक, पृष्ठ २०८, ४०९)

'नाभिप्रायापरिज्ञानात्' (न्यायवार्तिक, पृष्ठ ३६९, ४४२) इत्यादि।

---

१. 'न ब्रूमः'—(न्यायवार्तिक, पृष्ठ २६, ७०, १०८, १४७, १८३, १८४, २४१, २७९, ३५८, ४५३ आदि)

इस प्रकार बौद्ध आदि विरोधी दार्शनिकों के अज्ञान का प्रदर्शन करके वार्तिककार ने उनके सिद्धान्तों की आलोचना की है।

किन्तु वार्तिककार वार्तिक में किसी आचार्य का नामोल्लेख नहीं करते। प्रायः विभिन्न प्रतितन्त्र सिद्धान्तों का उद्धरण देकर उनकी आलोचना की गयी है। सिद्धान्तों से सम्बद्ध दार्शनिकों का ज्ञान तात्पर्यटीका द्वारा होता है जिसमें यथासम्भव कुछ दार्शनिकों के नाम उल्लिखित हुए हैं।

नागार्जुन की आलोचना :—बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन के दृष्टान्तलक्षण—'तथा सिद्धो दृष्टान्तः' का वार्तिक में उद्धरण देकर खण्डन किया गया है[1]। नागार्जुन दृष्टान्त को सिद्ध मानते हैं, अर्थात् दृष्टान्त में साध्य और हेतु का होना आवश्यक मानते हैं दोनों के होने के ज्ञान को नहीं। वार्तिककार के अनुसार दृष्टान्त में साध्य और साधन दोनों धर्मों का एक साथ समझा जाना आवश्यक है, जैसे 'कृतकत्व' साधन है और 'अनित्यत्व' साध्य। ये दोनों धर्म जिस वस्तु में सिद्ध अर्थात् निर्णीत होंगे वही दृष्टान्त माना जा सकेगा। किन्तु बौद्धमत में उक्त दोनों धर्मों का अस्तित्व दृष्टान्त होने के लिए आवश्यक है। दृष्टान्त रूप में ली जाने वाली वस्तु के विद्यमान रहने पर प्रकृत वस्तु के प्रागभाव (कृतकत्व) और प्रध्वंसाभाव (अनित्यत्व) उसमें न रह पायेंगे, फिर उस वस्तु को दृष्टान्त कैसे माना जायेगा?

अभिप्राय यह है कि नागार्जुन के अनुसार दृष्टान्त उसे माना जाता है जिसमें साध्य का निर्णय पहिले से हो—'तथा सिद्धः' का अर्थ 'साध्यवत्तया सिद्धः' लेकर उक्त सिद्धान्त का स्पष्टीकरण होता है। वार्तिककार ने उक्त लक्षण का खण्डन इस अभिप्राय से किया है कि दृष्टान्त होने के लिए उसमें केवल साध्य का निर्णीत होना ही आवश्यक नहीं है, अपितु साध्य एवं हेतु दोनों का निर्णय हुआ रहना आवश्यक है। तदनुसार साध्य और हेतु इन दोनों का सामानाधिकरण्य निर्णय जिसमें हुआ रहेगा वही दृष्टान्त हो सकता है। केवल साध्यमात्र के निर्णय होने से कोई दृष्टान्त नहीं हो सकता।

अन्य स्थलों पर भी नागार्जुन के मतों की आलोचना हुई है।

वसुबन्धु की आलोचना :—वसुबन्धु के प्रत्यक्षलक्षण 'ततोऽर्थाद् विज्ञानम्' को उद्धृत करके खण्डन किया गया है[2]। वसुबन्धु ने अक्षपाद के प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण के लक्षणों की आलोचना की थी जिसका उल्लेख वार्तिक

---

१. न्यायवार्तिक १।१।३७, पृष्ठ १३६.
२. न्यायवार्तिक १।१।४, पृष्ठ ४०.

में मिलता है[1]। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी वसुबन्धु के पक्ष आदि के लक्षणों एवं सिद्धान्तों की आलोचना की गयी है।

दिङ्नाग की आलोचना :—दिङ्नाग के आक्षेपों का निवारण और उनके सिद्धान्तों का खण्डन वार्तिक लिखने का मुख्य प्रयोजन था। वार्तिक में दिङ्नाग के सिद्धान्तों को कहीं-कहीं शब्दशः उद्धृत किया गया है, जैसे—

१—'अपरे तु मन्यन्ते प्रत्यक्षं कल्पनापोढमिति।'

(न्यायवार्तिक १।१।४, पृष्ठ ४१)

२—'अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्भावो नास्तितासति।'

(न्यायवार्तिक १।१।५, पृष्ठ ५५)

३—'तत्र यः सन् सजातीये द्वेधा चासंस्तदत्यये।'

(न्यायवार्तिक १।१।३५, पृष्ठ १२९)

इस प्रकार उद्धरण देकर दिङ्नाग के सिद्धान्तों की आलोचना करने के अतिरिक्त विना उद्धरण दिये प्रतिपक्षी के अभिप्राय को अपने शब्दों में व्यक्त करके भी आलोचना की गयी है। दिङ्नाग के हेतुलक्षण और 'लिङ्गीविशिष्ट देश' के अनुमान मानने की आलोचना वार्तिक में मिलती है। दिङ्नाग ने न्याय के इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व) की आलोचना 'प्रमाणसमुच्चय' (प्रथम अध्याय) में की थी, उसका भी उत्तर वार्तिककार ने दिया है।

उक्त विषयों के अतिरिक्त वार्तिक में जिन बौद्ध सिद्धान्तों की आलोचना पायी जाती है उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं—

१. बौद्धों के विभिन्न अनुमान-लक्षण,
२. बौद्धों के हेतु-लक्षण,
३. बौद्धों की उपमानविषयक मान्यता,
४. शब्दविषयक बौद्ध-सिद्धान्त,
५. बौद्धों के वाद-सिद्धान्त,
६. 'सिद्धान्त'विषयक बौद्धमत,
७. आत्मासम्बन्धी बौद्धमत,
८. जाति एवं निग्रहस्थान-सम्बन्धी बौद्धमत,
९. अपोह,

और १०. जगत् की सृष्टिविषयक बौद्धमत।

---

1. न्यायवार्तिक १।१।३७, पृष्ठ १३६.

मीमांसादर्शन की आलोचना :—वार्तिक में जैमिनि के प्रत्यक्षलक्षण 'सत्सम्प्रयोगे पुरुषेन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्[१]' की आलोचना मिलती है। इसके अतिरिक्त मीमांसादर्शन के शब्दविषयक सिद्धान्तों की विस्तृत आलोचना की गयी है। निरीश्वरवादी होने के कारण मीमांसक जगत् की सृष्टि में ईश्वर को कारण नहीं मानते। वार्तिक में मीमांसा के निरीश्वरवाद का खण्डन किया गया है। वैदिक वाक्यों को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए मीमांसा का सहारा लिया गया है किन्तु मीमांसासम्मत वेद की नित्यता वार्तिककार को मान्य नहीं है।

सांख्यदर्शन की आलोचना :—वार्तिक में बौद्धदर्शन को छोड़कर सांख्य की ही सबसे अधिक आलोचना मिलती है। सांख्यदर्शन के केवल दो उद्धरण मिलते हैं जिनमें से एक उद्धरण 'श्रोत्रादि वृत्तिः[२]' सांख्याचार्य वार्षगण्य का प्रत्यक्ष लक्षण है और दूसरा सांख्य का अनुमानलक्षण—'सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्[३]' है। इसके रचयिता का नाम तथा कृति अज्ञात है। ईश्वरकृष्ण की कारिका से एक भी उद्धरण नहीं मिलता। अन्य स्थलों पर वार्तिककार ने सांख्यसिद्धान्तों का अपने शब्दों में प्रतिपादन करके उनका खण्डन किया है। उक्त प्रत्यक्ष और अनुमान-सम्बन्धी सिद्धान्तों के अतिरिक्त मुख्य सांख्यसिद्धान्त, जिनकी आलोचना वार्तिक में हुई है, निम्नलिखित हैं—

१. शब्दविषयक सांख्यसिद्धान्त,
२. इन्द्रियविषयक सांख्यसिद्धान्त,
३. बुद्धिविषयक सांख्यसिद्धान्त,
४. सृष्टिविषयक सांख्यसिद्धान्त,
और ५. सांख्य की निरीश्वरवादिता।

किसी वार्तिक के लिखने का प्रयोजन त्रुटियों एवं आक्षेपों के निवारण (दुरुक्तचिन्ता) के अतिरिक्त स्वशास्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्तों की पुष्टि (उक्तचिन्ता) तथा अन्य नवीन विषयों का प्रतिपादन (अनुक्तचिन्ता) भी होता है, जैसा कि वार्तिक के लक्षण से प्रतीत होता है—

'उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥'

न्यायवार्तिक में भी भाष्यप्रतिपादित सिद्धान्तों की यथासम्भव पुष्टि,

---

१. न्यायवार्तिक १।१।५, पृष्ठ ४३.
जैमिनिसूत्र १।१।५,
२. न्यायवार्तिक १।१।४, पृष्ठ ४३.
३. न्यायवार्तिक १।१।५, पृष्ठ ५७.

नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन, बौद्ध, सांख्य एवं मीमांसा आदि मतों की आलोचना तथा भाष्यगत त्रुटियों का परिमार्जन किया गया है। इस प्रकार न्यायवार्तिक में उक्तचिन्ता, अनुक्तचिन्ता एवं दुरुक्तचिन्ता प्राप्त होने के कारण इस ग्रन्थ का 'वार्तिक' नाम सार्थक है।

न्यायवार्तिक से सम्बद्ध मुख्य ग्रन्थकारों तथा उनके ग्रन्थों का परिचय

वाचस्पति मिश्र :—उद्योतकर के न्यायवार्तिक की लगभग दो शताब्दियों तक व्याख्या नहीं हुई। इस बीच में धर्मकीर्ति आदि बौद्धविद्वानों ने न्यायवार्तिक की आलोचना करके उसे अत्यन्त निष्प्रभ एवं जीर्ण कर दिया था। वाचस्पति मिश्र के अनुसार न्यायवार्तिक कीचड़ में फँसी हुई बूढ़ी गाय के समान हो गया था जिसके उद्धार का पुण्य प्राप्त करने के लिए उन्होंने 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' नामक व्याख्या लिखी[1]। ये मिथिला के निवासी थे। इनका समय ८४१ ई० के आसपास है।

वाचस्पति मिश्र ने लगभग सभी आस्तिक दर्शनों पर महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ लिखी हैं, इसलिए इन्हें 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' कहा जाता है। इन्होंने सांख्यकारिकाओं पर 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' योगभाष्य पर 'तत्त्ववैशारदी', मण्डन मिश्र की विधिविवेक पर 'न्यायकलिका' तथा शाङ्करभाष्य पर 'भामती' नामक व्याख्याएँ लिखीं। वैशेषिक दर्शन पर इनकी किसी कृति का उल्लेख नहीं मिलता। इन्होंने 'न्यायसूचीनिबन्ध' 'तत्त्वसमीक्षा' और 'तत्त्वबिन्दु' नामक ग्रन्थों की भी रचना की है।

तात्पर्यटीका का प्रणयन करके वाचस्पति मिश्र ने समाप्तप्राय न्यायदर्शन का पुनः उद्धार किया। तात्पर्यटीका में बौद्धदर्शन के चारों सम्प्रदायों—माध्यमिक, विज्ञानवाद, सौत्रान्तिक और वैभाषिक का उल्लेख एवं आलोचना मिलती है। विशेषकर दिङ्नाग और धर्मकीर्ति की आलोचना की गयी है। इसके अतिरिक्त मीमांसा, सांख्य, वेदान्त, जैन एवं शैव आदि दर्शनों की भी आलोचना की गयी है। तात्पर्यटीका में अनेक नवीन सिद्धान्तों का समावेश करके वाचस्पति मिश्र ने क्षीणप्रभ न्यायदर्शन को सशक्त कर दिया।

उदयनाचार्य :—तात्पर्यटीका की आलोचना कल्याणरक्षित एवं धर्मोत्तराचार्य प्रमुख अनेक बौद्ध तार्किकों ने किया। उदयनाचार्य ने बौद्धों की आलोचनाओं का उत्तर देने तथा न्यायसिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए 'तात्पर्यटीका'

---

१. 'इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम्।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्॥'
(तात्पर्यटीका १।१।१, पृष्ठ १)

पर 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि' नामक व्याख्या लिखी। इसमें बौद्धों की आलोचनाओं के उत्तर के साथ ही अनेक मौलिक विचार उपस्थित किये गये हैं। उदयनाचार्य का समय ९८४ ई० के आसपास है। ये मिथिला के निवासी थे। 'परिशुद्धि' के अतिरिक्त इन्होंने 'न्यायकुसुमाञ्जलि', 'आत्मतत्त्व-विवेक', प्रशस्तपादभाष्य की टीका 'किरणावली', वैशेषिकदर्शन पर 'लक्षणावली' एवं 'न्यायपरिशिष्ट' नामक ग्रन्थों की रचना की है।

कुसुमाञ्जलि में ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन किया गया है। कल्याणरक्षित नामक बौद्धदार्शनिक ने 'ईश्वरभङ्गकारिका' में ईश्वर की सत्ता का खण्डन किया था। 'कुसुमाञ्जलि' लिखने का प्रयोजन उक्त खण्डन का खण्डन करना था। भारतीय दर्शन में यह ग्रन्थ ईश्वरसत्ता के प्रतिपादन के लिए प्रसिद्ध है। 'आत्मतत्त्वविवेक' में आत्मासम्बन्धी बौद्धमतों की आलोचना एवं शाश्वत आत्मा की सिद्धि की गयी है। कल्याणरक्षित ने 'अन्यापोहविचारकारिका' में क्षणभङ्ग का समर्थन तथा 'श्रुतिपरीक्षा' में श्रुति को अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास किया था। उदयन ने बौद्धों के उक्त सिद्धान्तों के खण्डन तथा न्याय-संम्मत आत्मा एवं श्रुति के समर्थन के लिए 'आत्मतत्त्वविवेक' जैसे प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना की। पाँच अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ के प्रथम चार अध्यायों में क्रमशः क्षणभङ्ग, बाह्यार्थभङ्ग, गुणगुणीभेदभङ्ग तथा अनुपलम्भ की आलोचना और अन्तिम अध्याय में शाश्वत आत्मा की सिद्धि की गयी है। 'किरणावली' प्रशस्तपादभाष्य की महत्त्वपूर्ण टीका है। 'लक्षणावली' वैषेषिकदर्शन का ग्रन्थ है।

वर्धमान उपाध्याय :—उदयन की 'परिशुद्धि' पर वर्धमान उपाध्याय ने 'न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिप्रकाश' नामक व्याख्या लिखी। इस व्याख्या को 'न्यायनिबन्धप्रकाश' भी कहा जाता है। यह ग्रन्थ नव्यन्याय से प्रभावित है। वर्धमान उपाध्याय नव्यन्याय के प्रवर्तक गङ्गेश उपाध्याय के पुत्र थे। इनका समय १२२५ ई० सन् के आसपास माना जाता है।

पद्मनाभ :—पद्मनाभ ने वर्धमान की 'न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिप्रकाश' पर 'वर्धमानेन्दु' नामक व्याख्या लिखी है[1]।

शङ्कर मिश्र :—पद्मनाभ के वर्धमानेन्दु पर शङ्कर मिश्र ने 'तात्पर्यमण्डन' नामक व्याख्या लिखी। अनेक दार्शनिक ग्रन्थों की रचना करने के कारण दर्शन-जगत् में इन्होंने पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त की है। इनका समय १४२५ ई० के लगभग माना जाता है।

---

१. Dasgupta : A History of Indian Philosophy, vol. I, p. 307.

न्यायदर्शन में न्यायवार्तिक का स्थान

न्यायवार्तिक न्यायदर्शन के ही नहीं, तर्कशास्त्र पर लिखे गये विश्व के उच्चतम निबन्धों में से अन्यतम माना जाता है[१]। वार्तिक के द्वारा एक ओर न्यायदर्शन के सूत्र एवं भाष्य के सिद्धान्तों की बौद्ध आलोचनाओं से रक्षा हुई है और दूसरी ओर ऐसे मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है जिनका प्रभाव परवर्ती न्याय तथा अन्य दर्शनों पर पड़ा। गौतम, वात्स्यायन और उद्योतकर नैयायिक थे। न्यायदर्शन उनका अपना दर्शन था जिसकी रक्षा करना उनका लक्ष्य था। किन्तु उद्योतकर के बाद जिन दार्शनिकों के हाथ में तर्कशास्त्र (न्यायदर्शन) पहुँचा वे, अन्य दर्शनों में जो कुछ उपयोगी देखते थे, अपना लेते थे। डॉ० रैण्डिल का विचार है कि तात्पर्यटीका में कोई भी ऐसा सिद्धान्त नहीं है जो पूर्ववर्ती ग्रन्थों में प्रतिपादित न हो चुका हो[२]। यही कारण है कि डॉ० रैण्डिल वार्तिक के साथ ही साथ विशुद्ध नैयायिक परम्परा का अन्त मानते हैं[३]।

वार्तिक में सूत्र और भाष्य में प्रतिपादित सिद्धान्तों पर विचार किया गया है और यथासम्भव उनकी पुष्टि की गई है। यद्यपि वार्तिककार कहीं-कहीं भाष्यकार के मत से विरुद्ध हैं किन्तु कुछ ही स्थलों को छोड़ करके उन्हांने सर्वत्र भाष्यकार के मत की पुष्टि की है। उदाहरण के लिए भाष्यकार ने प्रमेयों के तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान के दूर होने का प्रतिपादन किया है[४]। किन्तु इसकी पुष्टि में वार्तिककार ने मौलिक विचार प्रस्तुत किया है। मिथ्याज्ञान अनादिकाल से विद्यमान रहता है; फिर सद्यः उत्पन्न तत्त्वज्ञान से वह कैसे दूर होगा? इस शङ्का का समाधान करके वार्तिककार ने भाष्यकार के मत की पुष्टि की है[५]। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर वार्तिककार ने भाष्य के सिद्धान्तों की पुष्टि की है।

---

१. Uddyotakara's Nyāyavārtika is on the other hand one of the world's great treatises on Logic......',
(Randle : Indian Logic in the early Schools, p. 35).

२. Randle : Indian Logic in the Early Schools, p. 41.

३. Randle : Indian Logic in the Early Schools, p. 36.

४. न्यायभाष्य—१।१।२।

५. न्यायवार्तिक—१।१।२, पृष्ठ २९।

वार्तिककार ने विरोधी मतों की आलोचना के अतिरिक्त यत्र-तत्र भाष्य के मतों की भी आलोचना की है। भाष्यकार ने संशय के पाँच प्रभेद माने हैं जब कि वार्तिककार केवल तीन प्रभेद ही मानते हैं। तीन प्रभेदों को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए उन्होंने युक्तियाँ उपस्थित की हैं। ऐसे प्रत्येक स्थल पर वार्तिककार अपने मत को यथासम्भव सूत्रसम्मत सिद्ध करने का प्रयास करते हैं[१]। ऐसे स्थलों पर वार्तिककार भाष्यकार के मत से अपनी असहमति का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख नहीं करते, जिसका स्पष्टीकरण तात्पर्य-टीकाकार करते हैं[२]। इसी प्रकार वार्तिककार भाष्यकार के 'साधर्म्यसम जाति' के उदाहरण को छोड़कर दूसरा उदाहरण अपनाते हैं[३]। तात्पर्यटीकाकार ने नवीन उदाहरण देने के कारणों का निर्देश किया है[४]। अनुमान के प्रभेदों के स्वरूप के विषय में भी वार्तिककार भाष्यकार से सहमत नहीं हैं। यही स्थिति 'अभ्युपगम सिद्धान्त' के विषय में भी है। वार्तिक के अनेक स्थलों पर भाष्य-सम्मत सिद्धान्तों की उपेक्षा की गई है।

सूत्र एवं भाष्य के मतों की पुष्टि के अतिरिक्त वार्तिककार ने अनेक मौलिक विचारों को वार्तिक में निबद्ध किया। वैसे प्रत्येक पृष्ठ पर विचारों की मौलिकता स्पष्ट झलकती है किन्तु कुछ ऐसे मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जिनका प्रभाव परवर्ती दर्शन-साहित्य पर पड़ा, जैसे षट् सन्निकर्षों का सिद्धान्त। वार्तिककार के पूर्व षट् सन्निकर्षों की स्पष्ट कल्पना नहीं हो पाई थी। उन्होंने ही पहले पहल इनका प्रतिपादन किया।

वार्तिककार के द्वारा प्रतिपादित मुख्य मौलिक सिद्धान्त ये हैं :—

१. अनुमान के 'अन्वयी', 'व्यतिरेकी' एवं 'अन्वयव्यतिरेकी' प्रभेद,

२. लिङ्गविशिष्टलिङ्गी को अनुमेय मानना,

३. वैधर्म्योपमान,

---

१. 'तस्मात् पञ्चविधः संशय इति न सूत्रार्थः।'
(न्यायवार्तिक—१।१।२३, पृष्ठ ९७)

२. 'एवं स्वमतेन सूत्रं व्याख्याय भाष्यकारमतं दूषयति।'
(तात्पर्यटीका—१।१।२३, पृष्ठ २६४)

३. न्यायवार्तिक ५।१।२, पृष्ठ ५३१।

४. 'तेनैतदुपेक्ष्य वार्तिककार उदाहरणान्तरमाह।'
(तात्पर्यटीका ५।१।२, पृष्ठ ६७३)

४. वाक्छल के 'वाक्यसामान्यश्रुति' एवं 'पदसामान्यश्रुति' संज्ञक प्रभेद,
५. तेज के निम्नलिखित ४ प्रभेद :—

(क) उद्भूतरूपस्पर्श,
(ख) उद्भूतरूप अनुद्भूतस्पर्श,
(ग) उद्भूतस्पर्श अनुद्भूतरूप
और (घ) अनुद्भूतरूप अनुद्भूतस्पर्श।

६. प्रवृत्ति के २० प्रभेद।
७. दुःख के २१ प्रभेद
और ८. पद से अर्थ के ज्ञान होने की विशेष प्रक्रिया।

वार्तिककार ने न्यायसिद्धान्तों की रक्षा और विरोधी मतों के खण्डन के लिए योग, वैशेषिक और व्याकरण की सहायता ली है। एक स्थल पर 'योग-भाष्य' से उद्धरण भी दिया गया है[1]। वैशेषिक दर्शन को न्याय का समानतन्त्रीय शास्त्र माना जाता है। वैशेषिक सिद्धान्तों के द्वारा न्यायसिद्धान्तों की पुष्टि एवं विरोधी मतों का खण्डन किया गया है। यही नहीं, वार्तिककार विभिन्न स्थलों पर विरोधियों के प्रहार से वैशेषिक सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए भी पाये जाते हैं। वार्तिक में अनेक वैशेषिक सूत्रों को भी उद्धृत किया गया है।

वार्तिक में प्रायः दार्शनिक सिद्धान्तों को व्याकरण की कसौटी पर कसा गया है। दार्शनिक समस्याओं को व्याकरण की समस्या बना दिया गया है। एक पद का अनेक प्रकार से विग्रह, उसके विभिन्न अर्थों की कल्पना, अर्थों की विभिन्न व्युत्पत्तियाँ उनकी प्रतिभा का परिचय देती हैं। उन्होंने अपने वक्तव्य की पुष्टि में अनेक पाणिनि-सूत्रों को भी उद्धृत किया है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि 'न्यायवार्तिक' जैसा पूर्ण, प्रौढ, मौलिक एवं जटिल ग्रन्थ कम से कम प्राचीनन्याय में दूसरा नहीं है। वैसे वार्तिक का प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्षरूप में न्यायदर्शन की समस्त परवर्ती साहित्य-सम्पत्ति पर पड़ा। यही नहीं वैशेषिक, वेदान्त, सांख्य आदि दर्शनों के ग्रन्थों में वार्तिक का उल्लेख एवं उपयोग मिलता है। बौद्धदर्शन भी इससे अत्यधिक प्रभावित रहा है। इससे सिद्ध होता है कि 'न्यायवार्तिक' का 'न्यायदर्शन' में तथा अन्य दर्शनों के बीच महत्त्वपूर्ण स्थान है।

---

१. न्यायवार्तिक में प्राप्त प्रायः सभी उद्धरणों को एकत्र करके परिशिष्ट में दिया जा रहा है।

अध्याय १

'न्यायवार्तिक' में प्रमा और अप्रमा का स्वरूप

सभी भारतीय दर्शनों की भाँति न्याय में भी मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना गया है। न्यायदर्शन में मोक्ष की प्राप्ति प्रमाण आदि १६ पदार्थों के तत्त्वज्ञान से बताई गई है[1]। चूँकि पदार्थों के तत्त्वज्ञान के विना अपवर्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती अतएव यह प्रश्न उठना स्वाभाविक हो जाता है कि तत्त्वज्ञान का स्वरूप क्या है? क्या तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त भी कोई ज्ञान होता है? अथवा ज्ञान किसे कहते हैं? इत्यादि।

न्यायसूत्रों में ज्ञान (शरीरसम्बद्ध) आत्मा का गुण माना गया है[2]। 'बुद्धि' और 'उपलब्धि' शब्द ज्ञान के पर्याय माने गये हैं[3]। सूत्रों के इस सिद्धान्त को भाष्य-वार्तिक आदि में अक्षरशः स्वीकार कर लिया गया है। ज्ञान का विभाजन और उसकी परिभाषा सूत्र, भाष्य, वार्तिक के अतिरिक्त तात्पर्य-टीका में भी नहीं पाई जाती। हाँ, संशय, तर्क आदि ज्ञान के कुछ प्रभेदों की परिभाषायें अवश्य सूत्रों में मिलती हैं। ज्ञान के मुख्य दो प्रभेदों—प्रमा और अप्रमा के लिए न्यायसूत्रों में क्रमशः 'तत्त्वज्ञान' और 'मिथ्याज्ञान' शब्द मिलते हैं[4]।

प्रमा

न्यायसूत्रों में प्रमा की परिभाषा नहीं दी गई है। भाष्यकार के मत में विद्यमान पदार्थ को विद्यमान समझना और अविद्यमान पदार्थ को अविद्यमान समझना तत्त्वज्ञान (प्रमा) है[5]। वार्तिककार ने भाष्यकार के मत का ही स्पष्टीकरण किया है। यही स्थिति तात्पर्यटीकाकार के विषय में है।

---

१. न्यायसूत्र १।१।१।

२. न्यायसूत्र ३।२।४०।

३. न्यायसूत्र १।१।१५।

४. न्यायसूत्र १।१।१-२।

५. 'सत्सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति,
असच्चासदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति।'
(न्यायभाष्य १।१।१, प्रस्तावना)

प्रमा की उपयोगिता :—भाष्यकार ने तत्त्वज्ञान (प्रमा) की उपयोगिता प्रमेयविषयक मिथ्याज्ञान को दूर करना माना है। पदार्थविषयक मिथ्याज्ञान के दूर हो जाने से दोष नष्ट हो जाते हैं, दोषों के नष्ट हो जाने पर प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश होने पर जन्म का नाश और जन्म के नाश होने पर दुःख का नाश हो जाता है। दुःख के नाश होते ही अपवर्ग की प्राप्ति होती है[1]। अथवा यह कहना अधिक उचित होगा कि दुःखों का आत्यन्तिक विनाश ही अपवर्ग है[2]। इसीलिए तत्त्वज्ञान मोक्षप्राप्ति के लिए आवश्यक है।

प्रमा का प्राबल्य :—वार्तिक में तत्त्वज्ञान (प्रमा) से मिथ्याज्ञान के दूर होने में शंका उपस्थित करके उसका समाधान किया गया है। तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान के दूर होने में शंका इसलिए होती है कि मिथ्याज्ञान अनादिकाल से चला आ रहा है। पहिले से विद्यमान होने के कारण उसका प्रबल होना स्वाभाविक है, अतएव बाद में होने वाले तत्त्वज्ञान से वह कैसे नष्ट हो सकता है? मिथ्याज्ञान का दूर होना तभी सम्भव है जब तत्त्वज्ञान किसी प्रकार उससे प्रबल हो सके। वार्तिककार ने तत्त्वज्ञान के मिथ्याज्ञान से प्रबल होने के दो कारणों का उल्लेख किया है। पहला यह कि तत्त्वज्ञान का सहायक ज्ञेय पदार्थ हुआ करता है, क्योंकि जैसा पदार्थ होता है वैसा ही तत्त्वज्ञान (उसके स्वरूप का ज्ञान) होता है[3]। इस प्रकार पदार्थ तत्त्वज्ञान को प्रमाणित करके उसका सहायक सिद्ध होता है, जब कि वही पदार्थ मिथ्याज्ञान का सहायक न होकर उलटे विरोधी होता हैं, क्योंकि यहाँ पदार्थ कुछ दूसरा रहता है और ज्ञान किसी दूसरे पदार्थ का होता है। अतः ज्ञान और वस्तु परस्पर विरोधी होने के कारण एक-दूसरे के सहायक नहीं होते। यही कारण है कि तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान से प्रबल होता है।

तत्त्वज्ञान के मिथ्याज्ञान से प्रबल होने का दूसरा कारण यह है कि एक प्रमाण द्वारा प्राप्त हुए तत्त्वज्ञान की पुष्टि दूसरे प्रमाण भी करते हैं[4]। तात्पर्य-

१. न्यायभाष्य १।१।२।

२. 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।'
(न्यायसूत्र १।१।२२)

३. 'सम्यग्ज्ञानस्य च विषयःसहायी भवति। कस्मात्? तथात्वेनावस्थानात्, तथाभूतोऽसौ विषयो यथा तत्र तत्त्वज्ञानमिति।'
(न्यायवार्तिक १।१।२, पृष्ठ २५)

४. 'प्रमाणानुग्रहाच्च।'
(न्यायवार्तिक १।१।२, पृष्ठ २५)

टीकाकार ने उदाहरण देकर इस विषय का स्पष्टीकरण किया है—'अनुमान' प्रमाण से (नित्य) आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है। यहाँ 'आत्मा की सत्ता का ज्ञान' तत्त्वज्ञान है। शास्त्रों में आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन किया गया है, अतएव शब्द-प्रमाण द्वारा भी नित्य आत्मा की तात्त्विकता होने की पुष्टि होती है। 'अहं' प्रत्यय-रूप प्रमाण से भी आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है[१]। इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्त्वज्ञान के सहायक अन्य प्रमाण भी हुआ करते हैं, अतएव उसका प्रबल होना स्वाभाविक है। मिथ्याज्ञान का तो प्रमाणों से खण्डन ही होता है, अतएव प्रमाण उसे निर्बल बना देते हैं और इसीलिए तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान को दूर कर देता है।

प्रमा के प्रभेद :—यतः प्रमा प्रमाण से उत्पन्न होती है और विशेष प्रमाण से विशेष प्रमा उत्पन्न होती है, जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रत्यक्ष प्रमा, इसलिए जिस दर्शन में जितने प्रमाण माने जाते हैं सामान्यतः तत्तत् प्रमाणों से उत्पन्न उतने प्रकार की प्रमा भी उसे मान्य होती है। न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने जाते हैं, तदनुसार उसमें प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति एवं शाब्द ये चार प्रकार की प्रमा भी मानी जाती है। इसका विवेचन अगले अध्यायों में किया जायेगा।

कभी-कभी प्रत्यक्ष प्रमाण के कार्य का निर्वाह भी प्रमा करती है। भाष्य के विवेचन के अनुसार प्रत्यक्षप्रमा-स्थल में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होता है, सन्निकर्ष के पश्चात् प्रमा उत्पन्न होती है और प्रमा उत्पन्न होने के पश्चात् पदार्थ को ग्रहण करने, त्यागने अथवा उसके प्रति उदासीन रहने का भाव उत्पन्न होता है। जब सन्निकर्ष प्रमाण होता है तब प्रमा प्रमाण का फल मानी जाती है किन्तु जब उक्त तीन भाव फल माने जाते हैं तब प्रमा को प्रमाण माना जाता है[२]। वार्तिककार ने भी प्रमा को प्रमाण माना है और केवल सन्निकर्ष को प्रमाण मानने का विरोध किया है[३]।

अप्रमा

न्यायभाष्य और वार्तिक में जहाँ मिथ्याज्ञान (अप्रमा) का विवेचन किया गया है वहाँ उसे विपर्यय ज्ञान का ही पर्याय माना गया है। इस कथन का

---

१. 'आत्मादितत्त्वज्ञानं हि प्रमाणविशेषैरागमानुमानप्रत्यक्षैरनुगृह्यते—तस्माद् दृढमूलत्वात्तदपि तत्त्वज्ञानं मिथ्याज्ञानं निवर्त्तयतीत्यर्थः।'
(तात्पर्यटीका १।१।२, पृष्ठ ९४)

२. न्यायभाष्य १।१।३।

३. न्यायवार्तिक १।१।३, पृष्ठ २९।

यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता है कि इनके लेखकों की दृष्टि में तर्क, संशय आदि ज्ञान प्रमा के अन्तर्गत माने जाते हों, किन्तु यतः अपवर्ग का मुख्य बाधक हेतु मिथ्याज्ञान—विपर्यय ही है, अतएव विपर्ययज्ञान ही मुख्य अप्रमा माना गया है।

भाष्यकार और वार्तिककार के मिथ्याज्ञान सम्बन्धी विवेचन से इन प्राचीन नैयायिकों की दृष्टि में मिथ्याज्ञान का जो स्वरूप रहा है, स्पष्ट हो जायेगा। भाष्यकार ने मिथ्याज्ञान के स्वरूप का परिचय देने के लिए अनेक उदाहरण दिये हैं, जैसे आत्मा के विषय में 'आत्मा की सत्ता नहीं है' यह समझना मिथ्याज्ञान है[1]। वस्तुतः उक्त उदाहरण विपर्ययज्ञान का ही है क्योंकि 'आत्मा की सत्ता नहीं है' यह ज्ञान यथार्थ न होते हुए भी निश्चयात्मक है। वार्तिककार ने उक्तज्ञान को मिथ्याज्ञान मानने का कारण बतलाया है। प्रमाणों से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होने के साथ ही साथ अस्तित्ववान् आत्मा में अनस्तित्व-रूप धर्म का आरोप किया जाता है। वार्तिककार ने यहाँ मिथ्याज्ञान के प्रसङ्ग में स्पष्टतः 'विपर्येति' शब्द का प्रयोग किया है[2]. इन्होंने मिथ्याज्ञान के स्वरूप को और भी अधिक स्पष्ट किया है। शरीर को, जो कि आत्मा नहीं है, आत्मा समझना मिथ्याज्ञान है। इस मिथ्याज्ञान का कारण अहंकार है। अहंकार आत्मा का धर्म है, शरीर का नहीं। किन्तु 'मैं गोरा हूँ' यहाँ 'मैं' यह अहंकार-द्योतक पद आत्मा का वाचक है और गौरवर्ण शरीर का है। अतएव गौरवर्ण शरीर में 'मैं' ऐसा ज्ञान मिथ्याज्ञान है। विपर्यय की परिभाषा के अनुसार 'मैं गोरा हूँ' यह ज्ञान विपर्यय ही है[3]। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ मिथ्याज्ञान का अर्थ विपर्यय ही समझा गया है न कि अप्रमा से समझे जाने वाले संशय, तर्क आदि ज्ञान भी।

परवर्ती नैयायिकों ने प्रमा से अतिरिक्त ज्ञान को अप्रमा मानकर उनके प्रभेद बताये हैं। यद्यपि तर्क, संशय आदि अप्रमा के प्रभेदों के सम्बन्ध में सूत्रों से ही महत्त्वपूर्ण विवेचन प्रारम्भ होता है किन्तु अप्रमा के विभाजन और उसके वैज्ञानिक विश्लेषण का अभाव सूत्रों और उनकी व्याख्याओं में स्पष्टतः देखा जा सकता है।

---

१. न्यायभाष्य १।१।२।

२. 'सोऽयमसद्धर्मान् सत्यात्मन्यारोप्य विपर्येति नास्त्यात्मेति।'

(न्यायवार्तिक १।१।२, पृष्ठ २३,२४)

३. 'कः पुनरयं विपर्ययः, अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः।'

(न्यायवार्तिक १।१।२, पृष्ठ २४)

अप्रमा के प्रभेद:—नैयायिकों की दृष्टि में अप्रमा के निम्न-लिखित प्रभेद हैं :—

१. संशय,

२. तर्क,

३. विपर्यय

और ४. (अयथार्थ) स्मृति ।

संशय:—भाष्यकार ने 'यह क्या है' इस प्रकार के ज्ञान को संशय माना है। संशय निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता[1], इसलिए इसे वस्तु का यथार्थज्ञान नहीं माना जा सकता। वार्तिककार के मत से जो ज्ञान वस्तुओं के साधारण एवं असाधारण धर्म आदि के ज्ञान से उत्पन्न होता है किन्तु वस्तु के विशेषस्वरूप का निश्चय नहीं कराता, संशय होता है[2]। संशय के स्वरूप के सम्बन्ध में भाष्यकार और वार्तिककार ने लगभग सूत्र के विषय का ही विवेचन किया है[3]। विशेषरूप से वार्तिककार ने सूत्र और भाष्य के विवेचन के अतिरिक्त संशय की परिभाषा के सम्बन्ध में मौलिक चिन्तन नहीं किया।

संशय के प्रभेद:—भाष्यकार ने संशय के पाँच प्रभेद माने हैं और वार्तिककार ने तीन। भाष्यकार की दृष्टि में निम्नलिखित पाँच प्रकार का संशय होता है—

१. समानधर्मज्ञानसहित विशेषापेक्षाजन्य संशय:—स्थाणु (ठूँठ) और पुरुष में ऊँचाई और मोटाई आदि धर्म समान हैं। ऐसी किसी वस्तु को जो ऊँची और मोटी हो देखकर यह जिज्ञासा हो सकती है कि 'यह कौन-सी वस्तु है'? स्थाणु अथवा पुरुष। जिज्ञासा का कारण यह है कि ऊँचाई और मोटाई ये दोनों धर्म स्थाणु और पुरुष दोनों में समानरूप से पाये जाते हैं और वस्तु—जिसका प्रत्यक्ष हो रहा है—एक ही है। इस प्रकार यहाँ वस्तुगत साधारणधर्म के ज्ञान से संशय उत्पन्न होता है जिसके कारण उसे उस वस्तु के सम्बन्ध में जिज्ञासा होती है। संशय के लिए 'विशेषापेक्षा' इसलिए आवश्यक है कि समानधर्म का ज्ञान तो वस्तु के स्वरूप के निर्णय हो जाने पर भी उसमें रहता है किन्तु निर्णय के बाद सन्देह नहीं होता।

---

१. 'स चायं किंस्विदिति वस्तुविमर्शनमात्रमनवधारणं ज्ञानं संशयः।'
(न्यायभाष्य १।१।१)

२. 'समानधर्मादिभ्य उत्पन्नो विषयस्य विशेषं नावधारयति यः स संशय इत्युच्यते।' (न्यायवार्तिक १।१।२३, पृष्ठ ८७)

३. 'समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।' (न्यायसूत्र १।१।२३)

२. अनेकधर्मज्ञानसहित विशेषापेक्षाजन्य संशय :—यहाँ 'अनेक' का अर्थ है 'समानजातीय और असमानजातीय'। 'शब्द विभागज है' ऐसा ज्ञात होने पर संशय होता है कि शब्द द्रव्य है, गुण है अथवा कर्म है, क्योंकि 'विभागजत्व' जब कि शब्द का विशेष धर्म है तो वह कभी उसे त्याग नहीं सकता, उसे चाहे द्रव्य मान लिया जाये, चाहे गुण मान लिया जाये और चाहे कर्म मान लिया जाये। ऐसी स्थिति में 'विभागजत्व' जैसा अतिविशेषधर्म यह निर्णय यहीं करा सकता कि शब्द द्रव्य ही है या गुण ही है या कर्म ही है। अतः अनेक धर्म अर्थात् असाधारण धर्म का ज्ञान भी संशय उत्पन्न करता है।

वार्तिककार ने 'समानधर्म' और 'अनेकधर्म' में होने वाले अन्तर को स्पष्ट किया है[1]। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि 'अनेकधर्म' शब्द में 'धर्म' शब्द विशेषवाची है क्योंकि किसी पदार्थ का विशेष उसका धर्म ही होता है और वह विशेष स्वातिरिक्त सभी समानजातीयात्मक एवं असमानजातीयात्मक अनेक की अपेक्षा करता है क्योंकि किसी की विशेषता समानजातियों एवं असमानजातियों से होती है। इसलिए 'अनेकस्माद् विशेषः' अथवा 'अनेकेभ्यो विशेषः (धर्मः) अनेकधर्मः' इस व्याख्या के अनुसार असाधारण धर्म को निःसंकोच 'अनेकधर्म' कहा जा सकता है, इसलिए उसके ज्ञान से संशय का होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है।

३. विप्रतिपत्ति सहित विशेषापेक्षाजन्य संशय :—यहाँ 'विप्रतिपत्ति' शब्द का अर्थ 'विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले वाक्य का ज्ञान' है। कभी-कभी एक ही पदार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में परस्पर-विरोधी मत दिखाई देते हैं। एक दर्शन आत्मा की सत्ता स्वीकार करता है और दूसरा नहीं स्वीकार करता। यहाँ आत्मा के यथार्थ स्वरूप का निश्चय नहीं हो पाता, अतएव संशय होता है कि आत्मा की सत्ता है अथवा नहीं।

४. उपलब्धि (प्रतीति) की अव्यवस्थासहित विशेषापेक्षाजन्य संशय :—जलाशय में जल होने पर उसका ज्ञान होता है परन्तु सूर्य की किरणों में जल न होने पर भी जल की प्रतीति होती है अतएव ऐसी व्यवस्था नहीं बन पाती कि जो पदार्थ विद्यमान हो उसी का ज्ञान हो। ऐसी व्यवस्था न होने पर सन्देह हो जाता है कि पदार्थ के होते हुए उसकी प्रतीति हो रही है अथवा न होते हुए उसकी प्रतीति हो रही है।

---

१. न्यायवार्तिक १।१।२३, पृष्ठ ९१।

५. अनुपलब्धि की अव्यवस्थासहित विशेषापेक्षाजन्य संशय :— जिस प्रकार उपलब्धि के विषय में अव्यवस्था है उसी प्रकार अनुपलब्धि (अप्रतीति) के विषय में भी अव्यवस्था है। पदार्थ के विद्यमान होने पर भी कभी उसकी अप्रतीति होती है, जैसे—भूमि में गड़े हुए पदार्थ के मूलभाग की, और अविद्यमान पदार्थ की अप्रतीति तो स्पष्ट ही है, जैसे—शशविषाण की अप्रतीति। ऐसे स्थलों पर संशय हो जाया करता है कि वस्तु के विद्यमान होने पर भी उसका ज्ञान नहीं हो रहा है अथवा अविद्यमान होने पर।

उद्योतकर ने भाष्यकार के चौथे और पाँचवे संशय के प्रभेद को नहीं स्वीकार किया है अर्थात् कारणगतविभिन्नतामूलक विभिन्नताप्राप्त स्वतन्त्र संशयरूप में नहीं माना है क्योंकि उपलब्धि की अव्यवस्था या अनुपलब्धि की अव्यवस्था को वे संशय के प्रति कारण न मानकर संशयगत विशेष का प्रयोजकमात्र मानते हैं। उनकी दृष्टि में ये संशय के स्वतन्त्र कारणजन्य प्रभेद न होकर पूर्वोक्त कारणत्रयजन्य संशयों के अन्दर ही उक्त द्विविध—अव्यवस्थाप्रयुक्त विशेषताप्राप्त संशय होते हैं। स्वतन्त्र कारणजन्य होने के नाते पश्चाद्वर्ती द्विविध संशयों में कोई विभिन्नता नहीं होती। इसीलिए वार्तिककार ने तीन प्रकार के संशय माने हैं[1]—

प्रथम प्रभेद :—इसमें विशेष पदार्थ की जिज्ञासा का कारण समान-धर्म की उपलब्धि तथा उपलब्धि एवं अनुपलब्धि की अव्यवस्था होती है।

द्वितीय प्रभेद :—इसमें विशेष पदार्थ की जिज्ञासा का कारण असाधारण-धर्म की उपलब्धि तथा उपलब्धि एवं अनुपलब्धि की अव्यवस्था होती है।

तृतीय प्रभेद :—इसमें विशेष पदार्थ की जिज्ञासा का कारण विप्रतिपत्ति (विरोधी मतों का ज्ञान) तथा उपलब्धि एवं अनुपलब्धि की अव्यवस्था होती है।

तीनों प्रकार के संशयस्थल में कार्यभूत संशय के प्रति अपेक्षित कारण में तीन-तीन विशेषतायें हैं। उदाहरण के लिए प्रथम प्रभेद को लिया जा सकता है। यहाँ तीन विशेषतायें है—'समानधर्म की उपलब्धि', 'उपलब्धि एवं अनुपलब्धि की अव्यवस्था' और 'विशेषापेक्षा' (पदार्थ के विशेषरूप को जानने की इच्छा)। स्थाणु और पुरुष में लम्बाई-मोटाई आदि समानधर्म होते हैं। इसीलिए लम्बी और मोटी वस्तु को देखकर संशय होता है कि अमुक वस्तु स्थाणु है या पुरुष। दूसरी विशेषता है 'उपलब्धि और अनुपलब्धि की अव्यवस्था'।

१. न्यायवार्तिक १।१।२३, पृष्ठ ८७।

वार्तिककार ने उपलब्धि की अव्यवस्था के स्वरूप को बतलाते हुए यह कहा है कि संशयस्थल में 'यह है अथवा यह नहीं है' इस रूप में उपलब्धि किंवा अनुपलब्धि व्यवस्थित नहीं हो पाती[1]। अभिप्राय यह है कि उपलब्धि और अनुपलब्धि की अव्यवस्था को साधक तथा बाधक प्रमाणों का अभाव कहा जा सकता है।

तात्पर्यटीकाकार ने उक्त विषय का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—सिर तथा हाथ की उपलब्धि तथा वक्र-कोटर (टेढ़े-मेढ़े खोखले) आदि की अनुपलब्धि स्थाणुपुरुषविषयक सन्देह-स्थल में पुरुष के साधक प्रमाण हैं, किन्तु संशय-स्थल में इनका अभाव होता है अर्थात् संशय-स्थल में सिर-हाथ आदि की उपलब्धि नहीं होती है और वक्र-कोटर आदि की भी अनुपलब्धि भी ही रहती है। यह साधक प्रमाण के बारे में विवेचन हुआ। बाधक प्रमाण साधक प्रमाण के विपरीत होता है। वक्र-कोटर आदि की उपलब्धि तथा सिर-हाथ आदि की अनुपलब्धि पुरुषज्ञान के बाधकप्रमाण हैं, परन्तु प्रकृतस्थल में इन प्रमाणों का अभाव रहता है। वक्र-कोटर आदि की स्पष्टतः उपलब्धि नहीं होती है और सिर-हाथ आदि की अनुपलब्धि ही रहती है। अतएव यदि पुरुष के ज्ञान के साधक या बाधक प्रमाण प्राप्त होते तो 'यह पुरुष ही है' इस प्रकार 'इदन्तारूपेण' अथवा 'यह पुरुष नहीं है' इस प्रकार 'अनिदन्तारूपेण' व्यवस्था हो पाती, किन्तु साधक एवं बाधक प्रमाणों के अभाव के कारण व्यवस्था न होकर उलटे अव्यवस्था ही होती है[2]। ऐसी परिस्थिति होने के कारण ही वहाँ विशेषापेक्षा बनी रहती है जिसका संशय-स्थल में होना आवश्यक होता है। जब वस्तुगत विशेष धर्म को जानने की इच्छा नहीं रह जाती अर्थात् उसका निर्णय हो जाता है तब संशय नहीं उत्पन्न होता। विशेषधर्म सिर और हाथ अथवा वक्र-कोटर आदि के जानने की इच्छा ही यहाँ 'विशेषापेक्षा' मानी जायगी।

उक्त तीनों कारणों की अंगभूत विशेषताओं के साथ-साथ रहने पर भी संशय हो सकता है क्योंकि यदि 'समानधर्म की उपलब्धि' अंश को ही संशय का पूरा कारण मानलिया जाये तो विशेष-रूप से ज्ञात पदार्थ में भी संशय होने

---

१. 'उपलब्ध्यनुपलब्धी न व्यवतिष्ठते इदन्तया वा अनिदन्तया वा।'
(न्यायवार्तिक १।१।२३, पृष्ठ ८९)

२. तात्पर्यटीका, १।१।२३, पृष्ठ २४५–४६।

लगेगा, क्योंकि विशेष में सामान्यधर्म रहता ही है[1]। तात्पर्यटीकाकार ने उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया है—सिर, हाथ आदि विशेष अंगों द्वारा पुरुष का निश्चय हो जाने पर भी पुरुष की समानता स्थाणु से रहती है, किन्तु संशय नहीं होता। अतएव केवल 'समानधर्म के ज्ञान' से ही संशय नहीं हो सकता[2]।

केवल 'उपलब्धि एवं अनुपलब्धि' की अव्यवस्था' से भी संशय नहीं हो सकता। पूर्णतः अज्ञात किसी पदार्थ के विषय में उपलब्धि एवं अनुपलब्धि की अव्यवस्था होती है, किन्तु संशय नहीं होता। तात्पर्यटीकाकार के उदाहरण के अनुसार सप्तम रस और दशम द्रव्य के विषय में साधक और बाधक प्रमाणों के सर्वथा अभाव से इनकी उपलब्धि एवं अनुपलब्धि की अव्यवस्था है ही, किन्तु इन दोनों पदार्थों के विषय में किसी को संशय नहीं होता[3]। केवल 'विशेष की अपेक्षा' से भी संशय नहीं होता। तात्पर्यटीकाकार ने इसको उदाहरण देकर समझाया है—हाथी को देखकर उसके बाँधने के खूँटे (स्थूणा) और महावत (हस्तिपक) का भी स्मरण होता है[4] जो कि नियमतः निश्चयात्मक होता है, सन्देहात्मक नहीं, यद्यपि वहाँ हस्तिपक और स्थूणागत विशेष का निर्णय न होने के कारण विशेषापेक्षा बनी रहती है। यदि विशेषापेक्षामात्र से ही सन्देह होता तो वहाँ खूँटे और हस्तिपक का ही सन्देह होता, जो कि नहीं होता, प्रत्युत सन्देह के विपरीत उनका निश्चय होता है।

यदि संशय के प्रति सम्मिलितरूप में कारण होने वाले उक्त तीनों अंशों में से दो को ही कारणरूप माना जाये और एक को छोड़ दिया जाये, उदाहरण के लिए यदि 'समानधर्मदर्शन' एवं 'उपलब्धि और अनुपलब्धि की अव्यवस्था' इन दो को ही कारण माना जाये, तो यह भी संगत न होगा। कारण, अनपेक्षित वस्तु को साधारणरूप से देखते तथा उपलब्धि एवं अनुपलब्धि की अव्यवस्था का परिचय रखते हुए भी उस अनपेक्षित होने वाली वस्तु के सम्बन्ध में संशय होता हुआ नहीं देखा जाता। इसी बात को उदाहरण देते हुए वाचस्पति मिश्र ने अपनी तात्पर्यटीका में इस प्रकार बतलाया है कि नाव या किसी सवारी पर चढ़कर चलते हुए व्यक्ति को यदि दूर पर कुछ ऊँची और

१. न्यायवार्तिक, १।१।२३, पृष्ठ ९० ।
२. तात्पर्यटीका, १।१।२३, पृष्ठ २४६ ।
३. तात्पर्यटीका, १।१।२३, पृष्ठ २४६ ।
४. तात्पर्यटीका १।१।२३, पृष्ठ २४६ ।

मोटी वस्तु दिखाई भी देती हो और साधक या बाधक प्रमाण न हों अर्थात् वस्तु की उपलब्धि और अनुपलब्धि की अव्यवस्था भी हो, सारांश यह कि वह द्रष्टा व्यक्ति इस बात से भी अवगत हो कि दर्शन किसी विद्यमान और किसी अविद्यमान वस्तु का भी हुआ करता है एवं अदर्शन भी किसी विद्यमान अथवा अविद्यमान वस्तु का भी हुआ करता है, ऐसी अवगति होने पर भी दृश्यमान वस्तु में औदास्य होने के कारण तद्गत विशेष का स्मरण यदि नहीं होता है इसलिए उस विशेष के सम्बन्ध में जिज्ञासा भी नहीं होती है तो वह व्यक्ति 'यह हाथी है या पर्वत है' इस प्रकार सन्देह करता नहीं देखा जाता।

इसी प्रकार 'उपलब्धि और अनुपलब्धि की अव्यवस्था' के बिना भी संशय नहीं हो सकता, क्योंकि जहाँ अव्यवस्था नहीं होगी वहाँ व्यवस्था होगी। इस प्रकार विषय के निर्णीत होने पर संशय नहीं होगा। 'समानधर्म' के ज्ञात हुए बिना भी संशय नहीं हो सकता। शशश्रृङ्ग के विषय में संशय नहीं उत्पन्न होता क्योंकि उसका अत्यन्ताभाव होने से उसमें धर्म नहीं रहता और धर्म के अभाव होने के कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। फिर समानधर्म का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? इसलिए यहाँ साधारणधर्म का ज्ञान नहीं रहता है। इस प्रकार कारणत्रय मिलितरूप में संशय को उत्पन्न करते हैं, एक-एक या दो-दो नहीं। प्रकृत विवेचन का सम्बन्ध संशय के प्रथम प्रभेद से है। यही स्थिति द्वितीय और तृतीय प्रभेद के सम्बन्ध में भी ज्ञातव्य है।

वार्तिककार ने विप्रतिपत्तिजन्य संशय को समान-समान तथा अनेक धर्मों के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले दोनों प्रकार के संशयों से भिन्न मानने का कारण बतलाया है। विप्रतिपत्ति वस्तुतः वादी और प्रतिवादी के विरुद्ध सिद्धान्तों से उत्पन्न होती है, क्योंकि संशायकरूप में उच्चार्यमाण अनेक विरुद्ध वाक्यों का ही नाम होता है विप्रतिपत्ति और वाक्य का उच्चारण वक्ता ही करता है इसलिए विप्रतिपत्ति दो विरुद्ध वक्तृनिष्ठ वाक्यों से होती है[1] किन्तु सन्देह होता है उन दो विरुद्ध वाक्यों को सुनने वाले श्रोता को। इसलिए विप्रतिपत्तिजन्य संशय को अन्य प्रकार के संशय से अलग मानना उचित प्रतीत होता है। आत्मा का अस्तित्व तथा अनस्तित्व दो दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित विरुद्ध सिद्धान्त हैं। अतः उस सिद्धान्त के प्रतिपादक दोनों वादियों के परस्पर-विरोधी वाक्य विप्रतिपत्ति होते हैं और उसी वाक्यात्मक विप्रतिपत्ति से श्रोता को संशय

१. न्यायवार्तिक १।१।२३, पृष्ठ ९६।

होता है। इसी विशेषता के कारण प्रकृत संशय को अवशिष्ट दोनों प्रकार के संशयों से पृथक् माना गया है।

कणाद के संशयलक्षण की पुष्टि :—वार्तिककार ने कणाद के संशय-प्रतिपादक सूत्र को उद्धृत किया है। इस सूत्र की व्याख्या करके इसे समानतन्त्रीय सिद्ध करने का प्रयास किया गया है[1]। 'सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः' यह कणाद का सूत्र है। वार्तिककार ने यहाँ 'सामान्य-प्रत्यक्ष' शब्द का अर्थ 'सामान्यवान् धर्मी का प्रत्यक्ष' और 'विशेषाप्रत्यक्ष' शब्द का अर्थ 'विशेष का अनिर्णय' लेकर गौतम के संशयसूत्र से एकरूपता स्थापित करने का प्रयास किया है। कणाद के सूत्र में अनेक धर्म—असाधारण धर्म का कुछ भी विवरण नहीं है। वार्तिककार प्रकृत कणादसूत्र के 'सामान्य'—साधारण शब्द से 'असाधारण' शब्द का अर्थ निकाल लेते हैं क्योंकि साधारण धर्म का अर्थ व्यभिचारी धर्म अर्थात् 'अनेक पदार्थों में रहनेवाला धर्म' होता है।

बौद्धों के संशयलक्षण की आलोचना—बौद्धों के अनुसार संशय का लक्षण इस प्रकार है—'साधर्म्याद् विशेषोपलिप्सोर्विमर्शः संशयः' अर्थात् 'साधर्म्य के दर्शन होने पर विशेष धर्म को जानने के इच्छुक व्यक्ति का विमर्श' संशय होता है। वार्तिककार ने इस लक्षण को बौद्ध-दर्शन के सिद्धान्तों का विरोधी सिद्ध करने का प्रयास किया है। साधर्म्य के दर्शन-अवधारण के स्वीकार करने पर बौद्ध किंविषयक संशय मान सकेंगे ? यदि धर्मी को संशय का विषय माना जाये तो यह बात इसलिए उपयुक्त न होगी कि धर्म के निश्चय से धर्मी का अनिश्चय नहीं हो सकता ! यदि धर्म और धर्मी को एक ही मान लिया जाये तो भी संशय नहीं उत्पन्न हो सकता क्योंकि यहाँ साधर्म्यरूप धर्म का निश्चय माना गया है और साथ ही साथ यह दोष भी आता है कि धर्मी न मानने पर जिस विशेष के जानने की इच्छा की जा रही है वह विशेष किसका हो सकेगा ? वह विशेष धर्म का नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म का निश्चय पहले ही हो चुका है। धर्मी को संशय का विषय न मानने का एक दूसरा कारण यह भी है कि बौद्ध-सिद्धान्त में धर्मी अवयवपुञ्ज होने के कारण अदृष्ट है। धर्म और धर्मी दोनों की सत्ता मानने पर उन्हीं के सिद्धान्त का खण्डन होगा।

भाष्य में इस स्थल पर किसी मत के संशयलक्षण की आलोचना अथवा व्याख्या नहीं की गई है किन्तु वार्तिककार ने बौद्धों से संशयलक्षण की आलोचना

१. न्यायवार्तिक १।१।२३, पृष्ठ ९९।

के साथ-साथ कणाद के संशयसूत्र (किञ्चित् परिवर्तित रूप में) की व्याख्या अपने अनुकूल की है। भाष्य में संशय के पाँच प्रभेद माने गये हैं। ऐसा मानना सूत्र के अर्थ के अनुकूल प्रतीत होता है। वार्तिककार ने संशय के तीन प्रभेद माने हैं। अधिक तर्कसंगत होने पर भी यह मान्यता सूत्रार्थ से मेल नहीं खाती।

तर्क

अप्रमा का दूसरा प्रभेद तर्क है। अज्ञात पदार्थ के स्वरूप को निश्चित करने के लिए कारणनिर्देशपूर्वक किया जाने वाला ऊह (मानसव्यापार-विशेष) तर्क होता है[1]। भाष्यकार ने उदाहरण देकर तर्क के स्वरूप को निम्नलिखित प्रकार से समझाया है[2]—मान लिया जाये कि कोई व्यक्ति निश्चितरूप से न जानता हो कि जन्म का कारण नित्य है अथवा अनित्य। इस विषय में तीन परिस्थितियाँ हो सकती हैं :—

१. जन्म का कारण उत्पत्तिशील है,

२. जन्म का कारण अनुत्पत्तिशील है,

३. जन्म आकस्मिक है अर्थात् कोई भी उत्पत्तिशील या अनुत्पत्तिशील वस्तु उसका कारण नहीं है। जन्म यों ही होता है।

जन्म के कारण के सम्बन्ध में उक्त विकल्प होने के कारण सन्देह उत्पन्न हो जाता है कि कौन-सा मत यथार्थ है। यथार्थ मत को निश्चित करने के लिए ही तर्क का उपयोग किया जाता है। यहाँ तर्क का स्वरूप इस प्रकार है :—

१. यदि जन्म के कारण को उत्पत्तिशील माना जाये तो उत्पत्तिशील होने के नाते उसके विनष्ट हो जाने पर जन्म का सर्वथा उच्छेद हो जायेगा और चूँकि कारण के पुनः उत्पन्न न होने पर फिर जन्म न होगा इसलिए इस मत में पुनर्जन्म के अभाव होने के कारण मोक्ष का सिद्धान्त मान्य हो सकता है।

२. किन्तु यदि जन्म का कारण अनुत्पत्तिशील अर्थात् नित्य पदार्थ माना जाये तो कारण के पूर्णरूप से विनष्ट न होने से पुनर्जन्म होता रहेगा अतएव जन्म का उच्छेद अर्थात् पुनर्जन्म का अभाव किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। इसलिए जन्म के कारण को नित्य मान लेने पर मोक्ष की मान्यता असम्भव हो जाती है।

---

१. न्यायसूत्र १।१।४०।

२. न्यायभाष्य १।१।४०।

३. और यदि जन्म को आकस्मिक मान लिया जाये तो भी पुनर्जन्म अकस्मात् होता रहेगा। इस प्रकार इस मत में भी मोक्ष का सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता।

वस्तुतः प्रकृत स्थल में तर्क का यही स्वरूप है। अभी यह निर्णय नहीं किया जा सका है कि यथार्थता क्या है। अभी तक यथार्थता के निर्णायक सभी कारणों का युक्तिपूर्वक विश्लेषणमात्र किया गया है। यही तर्क है। इस तर्क से जो परिणाम निकाला जायेगा उसे तर्क न कहकर निर्णय कहा जायेगा। चूँकि मोक्ष की मान्यता तभी प्रामाणिक हो सकती है जब जन्म का अभाव अनन्तकाल के लिए मान लिया जाये। जब जन्म का कारण सदा के लिए नाशवान् होगा तभी मोक्ष की सिद्धि हो सकती है अतएव 'जन्म का कारण उत्पत्तिशील होता है' यह निर्णय हुआ।

भाष्यकार का मत है कि किसी विषय के सम्बन्ध में पहिले सन्देह होता है फिर जिज्ञासा होती है। जिज्ञासा होने के पश्चात् तर्क प्रमाणों के प्रयोग में सहायता करते हैं और अन्त में प्रमाणों से निर्णय होता है। जिज्ञासा न तो पूर्णतः ज्ञात पदार्थ के सम्बन्ध में होती है और न पूर्णतः अज्ञात विषय के सम्बन्ध में। वार्तिककार जिज्ञासा के विषय को सामान्यरूप से ज्ञात और विशेषरूप से अज्ञात मानते हैं।[1] संशय होने पर जिज्ञासा होती है कि वस्तु का स्वरूप एक प्रकार का है या दूसरे प्रकार का? क्योंकि एक विषय के सम्बन्ध में अनेक सम्भावनायें इकट्ठी हो जाती हैं। किन्तु किसी भी पदार्थ के विरोधी दो या अनेक रूप नहीं हो सकते अतएव दृष्ट तथा अनुभूत निश्चित सिद्धान्तों के बल पर उस पदार्थ के यथार्थ स्वरूप के निश्चय करने के लिए विचार करते समय विरुद्ध मान्यता के विपरीत जो आपत्ति दी जाती है उसे तर्क कहा जाता है। तर्क की सहायता से प्रमाणों द्वारा जो निश्चय किया जाता है वह निर्णय होता है।

तर्क का अन्य ज्ञानों से भेद :—वार्तिककार ने तर्क को प्रमाण, अनुमान, संशय और निर्णय से पृथक् मानने में युक्तियाँ दी हैं[2]। तर्क को न तो चार प्रमाणों में ही कोई एक माना जा सकता है और न तो अतिरिक्त पाँचवाँ प्रमाण ही क्योंकि पदार्थ का यथार्थ स्वरूप प्रमाण से ज्ञात होता है तर्क से

---

१. न्यायवार्तिक १।१।४०, पृष्ठ १२९।

२. न्यायवार्तिक १।१।४० पृष्ठ १४१।

नहीं ज्ञात होता। तर्क विभिन्न सम्भावनाओं के बीच एक के निर्णय के लिए प्रमाण का सहायक होता है।

तर्क और अनुमान प्रमाण भी परस्पर भिन्न हैं। अनुमानस्थल में जिस रूप में लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध के स्मरण की अपेक्षा होती है वैसा तर्क में नहीं। अनुमानस्थल में धर्मी के धर्म का प्रत्यक्ष हुआ रहता है, तर्क में नहीं, क्योंकि स्थलविशेष में हेतुधर्म धर्मिगत अर्थात् पक्षगतरूप में नहीं भी देखा हुआ रहता है किन्तु तर्क होता है। वार्तिककार के उदाहरण के अनुसार किसी स्थानविशेष में घोड़े के सुश्रृङ्खल पदचिह्न को देखकर वहाँ यह तर्क किया जाता है कि कोई मनुष्य यहाँ अवश्य रहता है क्योंकि यहाँ घोड़े चलाये जाते हैं। यहाँ हेतु बनाया गया चलन—अश्वगतरूप में ही प्रतीत होता है; पक्षभूत पुरुषगत-रूप में नहीं[1]। सारांश यह है कि 'यहाँ यदि कोई पुरुष न हो तो घोड़ा न चलाया जाये और यदि घोड़ा न चलाया जाये तो सुश्रृङ्खल पदचिह्न न हो पाये' इस प्रकार तर्कस्थल में चलनरूप हेतु पुरुषगतरूप में नहीं प्रतीत होता।

अनिश्चयात्मक होने के कारण तर्क और संशय को एक ही नहीं माना जा सकता क्योंकि अनिश्चयात्मक होने पर भी संशय पदार्थ के यथार्थ निर्णय कराने में प्रमाणों का सहायक नहीं होता है। दूसरे, 'यह क्या है या कैसा' है? इस प्रकार का ज्ञान संशय ही होता है, तर्क नहीं होता। वाचस्पति मिश्र के कथन के अनुसार तर्क उपयुक्त एवं अनुपयुक्त विचारों को उपस्थित करके प्रमाणों को उचित निर्णय के लिए प्रेरित करता है[2]। संशय में यह स्थिति नहीं होती।

निर्णय और तर्क में सबसे बड़ा भेद यह है कि निर्णय आपत्तिरूप नहीं होता है किन्तु तर्क आपत्तिरूप होता है क्योंकि 'यह यही है' ऐसा आकार निर्णय का होता है और 'ऐसा न मानने पर ऐसा हो जायेगा' यह आकार तर्क का होता है। दोनों के आकारों में महान् अन्तर है।

यहाँ तर्क के प्रभेदरूप में आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था और तदन्यबाधितार्थप्रसङ्ग की चर्चा सूत्र, भाष्य, वार्तिक एव तात्पर्यटीका में उस रूप में नहीं पाई जाती जिस प्रकार परवर्ती विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य की न्यायसूत्रवृत्ति में की गई पाई जाती है।

---

१. न्यायवार्तिक १।१।४०, पृष्ठ १४२।

२. तात्पर्यटीका १।१।१, पृष्ठ ३०।

विपर्यय

सूत्रों और भाष्य में विपर्यय की परिभाषा नहीं दी गई है। भाष्यकार ने कुछ उदाहरणों के द्वारा विपर्यय (मिथ्याज्ञान) के स्वरूप का परिचय दिया है जैसे 'अनात्मा में आत्मा का ज्ञान' आदि[१]। वार्तिककार ने विपर्यय का लक्षण इस प्रकार किया है—'अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः' अर्थात् जो पदार्थ जहाँ नहीं है उसका वहाँ ज्ञान विपर्यय होता है[२]। शुक्ति में रजतत्व धर्म नहीं रहता है अतएव यदि शुक्ति में रजतत्व का ज्ञान हो अर्थात् 'यह चाँदी है' ऐसा ज्ञान हो तो यह ज्ञान विपर्यय कहा जायेगा। इसी प्रकार इच्छा को शरीर का गुण समझना भी विपर्यय है क्योंकि इच्छा शरीर का गुण न होकर आत्मा का गुण है।

विपर्यय का पर्याय शब्द 'भ्रम' भी है। भ्रम के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मत हैं। ये मत संख्या में पाँच हैं जिन्हें ख्यातिपञ्चक कहते हैं। इन पाँचों ख्यातियों का विवेचन न्यायपरम्परा में सुश्रृङ्खलरूप से सर्वप्रथम तात्पर्यटीका में हुआ है[3]। योगाचार बौद्ध, माध्यमिक बौद्ध, अद्वैत वेदान्ती, प्राभाकर मीमांसक और नैयायिक क्रमशः आत्मख्याति, असत्ख्याति, अनिर्वचनीयख्याति, अख्याति और अन्यथाख्याति मानते हैं।

ख्यातियों में वैभिन्य होने का कारण स्वदर्शनगत मान्यताओं की रक्षा करना है। मौलिक सिद्धान्तों के अनुरूप ही छोटे-मोटे सिद्धान्तों को भी ढालना पड़ता है। मीमांसक वेद की प्रामाणिकता की परीक्षा नहीं कर सकता अतएव वेद को स्वतः प्रमाण मानने के लिए उसने ज्ञान के प्रामाण्य को स्वतः माना और अख्यातिवाद को जन्म दिया।

अन्यथाख्याति—न्यायभाष्य और वार्तिक में 'अन्यथाख्याति' शब्द नहीं मिलता। तात्पर्यटीका में सर्वप्रथम अन्य ख्यातियों के साथ इसका भी उल्लेख है। 'अन्यथा' का अर्थ होता है, 'अन्यरूप से' और 'ख्याति' का अर्थ होता है 'ज्ञान'। इसलिए 'अन्यथाख्याति' का अर्थ 'अन्यरूप से ज्ञान' हुआ। सीप को सीप से अन्य—चाँदी के रूप में समझना अन्यथाख्याति हुआ। इसी को भ्रम, विपर्यय, मिथ्याज्ञान, विपरीतज्ञान आदि कहा जाता है।

---

१. न्यायभाष्य १।१।२।

२. 'कः पुनरयं विपर्ययः ? अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः'।
(न्यायवार्तिक १।१।२, पृष्ठ २४)

३. तात्पर्यटीका १।१।२, पृष्ठ ८५-९१।

विज्ञानवाद और शून्यवाद के अनुसार क्रमशः आन्तरविज्ञान और शून्य ही मुख्यतः भ्रम की आधारशिला होता है अर्थात् इन दर्शनों में भ्रम विषयमूलक माना जाता है किन्तु वार्तिककार ने उसे विषयमूलक न मानकर अन्यमूलक माना है। यद्यपि पदार्थ में भ्रम होता है किन्तु उसका कारण इन्द्रियगत दोष अथवा ज्ञानगत दोष होता है। द्रष्टा पदार्थ को समझने में इसलिए गलती करता है कि उसकी इन्द्रिय में कोई रोगविशेष अथवा कमी है, क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय जैसे का तैसा ही रहता है। सूर्य की किरणों को किसी भी कारण से उदक समझ लेने से वे उदक नहीं हो सकतीं। यह तो द्रष्टा की ही गलती है कि वह किरणों को अन्यथा–उदकरूपेण ग्रहण करता है[1]। तात्पर्यटीकाकार के अनुसार भ्रम सविकल्पक प्रत्यक्षस्थल में ही होता है, निर्विकल्पक प्रत्यक्षस्थल में नहीं[2]।

वाचस्पति मिश्र ने अन्यथाख्याति की पुष्टि तथा अन्य ख्यातियों की आलोचना की है। ख्यातियों का निम्नलिखित विवेचन तात्पर्यटीका के आधार पर किया गया है :—

आत्मख्याति—योगाचार बौद्धों का भ्रमविषयक मत 'आत्मख्याति' कहलाता है। इस मत में क्षणिकविज्ञानस्वरूप आत्मा ही एकमात्र तत्त्व माना गया है, अतएव अन्य किसी प्रकार के ज्ञान का कारण उसी आत्मा का विभिन्नरूप से भान होना ही है। 'यह रजत है' इस प्रतीतिस्थल में आन्तर विज्ञानरूप रजत का बाह्य अर्थ—शुक्ति में आभास होने लगता है। यद्यपि योगाचार क्षणिक विज्ञान के अतिरिक्त परमार्थतः बाह्य पदार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करता, तो भी अनादिकाल से चली आ रही अविद्या से बाह्य पदार्थ उत्पन्न हुआ जैसा भासता है, यद्यपि सभी बाह्य पदार्थ मिथ्या ही होते हैं। बौद्ध दार्शनिकों में से सौत्रान्तिक और वैभाषिक विज्ञानवाद के साथ-साथ बाह्य वस्तुओं की सत्ता मानते हैं। ज्ञानाकार रजत का आरोप इन दो प्रकार के दार्शनिकों को भी मान्य है।

आलोचना—आत्मख्याति के अनुसार रजत आन्तरविज्ञानस्वरूप माना गया है, साथ ही विज्ञान और आत्मा में कोई भेद नहीं माना गया है। जब विज्ञान—रजतस्वरूप ज्ञान एक भीतरी वस्तु है तब भ्रमज्ञान से वह बाहर आकर कैसे प्रतीत होगी। फिर रजत की विज्ञानाकारता प्रमाणों द्वारा नहीं

१. न्यायवार्तिक १।१।४, पृष्ठ ३७।
२. तात्पर्यटीका १।१।४, पृष्ठ १३२।

सिद्ध होती है[१]। बौद्ध केवल दो प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष एवं अनुमान। यदि विज्ञानवादी प्रत्यक्ष—अनुभव द्वारा रजत की ज्ञानाकारता सिद्ध करते हों तो यह विचारणीय है कि शुक्तिरजतज्ञानस्थल में दो प्रत्यक्षज्ञान होते हैं—एक तो भ्रमकालीन रजतज्ञान और दूसरा बाधकालीन रजतबाधज्ञान। किन्तु इन दोनों अनुभवों में से भ्रमकालीन रजतज्ञान से 'रजत विज्ञानस्वरूप हैं' ऐसा अनुभव नहीं होता, क्योंकि विज्ञान आत्मस्वरूप होता है और अनुभूयमान वस्तु को कोई भी व्यक्ति आत्मस्वरूप—'यह मैं हूँ' ऐसा नहीं मानता। कारण, यदि रजत को विज्ञानस्वरूप माना जाता तो मैं 'यह—रजत हूँ', ऐसा ज्ञान होता क्योंकि विज्ञानवादियों के मत में ज्ञाता और ज्ञान एक ही है।

विज्ञानवादी का यह भी कथन हो सकता है कि रजत है तो वस्तुतः विज्ञानस्वरूप किन्तु जब भ्रमज्ञान उस ज्ञानस्वरूप रजत को बाह्यरूप से विषय करता है तब उसकी ज्ञानस्वरूपता नहीं होती अर्थात् 'मैं रजत हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होता, अन्यथा ज्ञान के विषय—'रजत' एवं 'अहं' में अभेद की प्रतीति होती। बाह्यरूप से विषय होने के कारण रजत में 'अहं' की प्रतीति नहीं होती तो न सही, किन्तु रजत की अहंरूप से प्रतीति न होना उसे विज्ञानस्वरूप होना तो नहीं सिद्ध करता। अतएव रजत को विज्ञानस्वरूप नहीं माना जा सकता। यहाँ विज्ञानवादी की युक्ति इस प्रकार है—चूँकि 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार बाह्य रजत का निषेध हो जाता है। विश्व में बाह्य और आन्तर यही दो स्थान हैं, अतएव जब बाह्य का निषेध हो गया तो अवशेष होने के कारण रजत को आन्तर विज्ञानस्वरूप माना ही जायेगा[२]।

विज्ञानवादी का यह कथन भी इसलिए समीचीन नहीं है कि सामने देखे जाने वाले पदार्थ के निषेध कर दिये जाने पर केवल आन्तर पदार्थ ही नहीं शेष रह जाता। विश्व में और भी स्थान अवशेष रह जाते हैं जहाँ प्रकृत बाधित ज्ञान का विषय रह सके। सुनारों की दुकान पर भी रजत पाया जाता है, फिर सम्पूर्ण बाह्यजगत् के एकदेश के निषेध कर देने पर उस एकदेश को छोड़कर सम्पूर्ण विश्व के अवशिष्ट होने पर भी रजत को आन्तरविज्ञान का आकार समझना भूल ही होगी। दूसरा कारण यह है कि किसी व्यक्ति ने आज तक आन्तर चाँदी का अनुभव नहीं किया प्रत्युत बाह्यजगत् में ही चाँदी के अनेक अधिष्ठान पाये जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष अनुभव

१. तात्पर्यटीका १।१।२, पृष्ठ ८५।
२. तात्पर्यटीका १।१।२, पृष्ठ ८६।

द्वारा रजत की विज्ञानरूपता नहीं सिद्ध होती और अनुमान द्वारा भी इसकी विज्ञानरूपता नहीं सिद्ध हो सकती है। अतएव आत्मख्याति भ्रमविषयक निर्दोष सिद्धान्त नहीं हो सकता।

असत्ख्याति—माध्यमिक बौद्धों का भ्रमविषयक सिद्धान्त असत्ख्याति है। जिस प्रकार अद्वैतवेदान्ती जगत् को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं उसी प्रकार माध्यमिक बौद्धजगत् को शून्य का विवर्त मानते हैं। इनका मत है कि शुक्ति-रजतज्ञानस्थल में रजत न होने वाले को रजत समझा जाता है अर्थात् रजत के अभाव को रजत समझा जाता है। इस प्रकार असत् को सत् समझा जाता है। असत् विषय कैसे बन सकता है? ऐसी भी शंका नहीं की जा सकती क्योंकि ज्ञान का कारण विषय नहीं हुआ करता कि विषय के उपस्थित होने पर ज्ञान हो और न होने पर ज्ञान न हो। विषय के कारण में एक प्रकार की शक्ति निहित रहती है जिसकी वजह से विषय का ज्ञान होता है। ज्ञान विषय का कारण है। ज्ञान में एक विशेष प्रकार की शक्ति हुआ करती है। उस शक्ति के प्रभाव से ही असत् भी सत् पदार्थ की भाँति प्रतीत होता है। इस प्रकार असत् से भावरूप विषय की सिद्धि हो जाती है। इसीलिए भ्रमज्ञान की, इस असत् को सत्-रूप में ग्रहण कराने की, शक्ति को ही कुछ लोग अविद्या-रूपता अथवा अनिर्वचनीयता मानते हैं।

आलोचना—शून्याद्वैतवादियों का उक्त मत ठीक नहीं प्रतीत होता। उनसे यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या भ्रमज्ञानस्थल में ऐसी परिस्थिति होती है कि असत् ही सत्-रूप में प्रतीत होता है? अथवा एक सत् पदार्थ तादूप्य सम्बन्ध से दूसरे सत् पदार्थ-रूप में प्रतीत होता है[1]? इन दो विकल्पों में से पहिला विकल्प इसलिए मान्य नहीं है कि यदि असत् से ही सत् का ज्ञान होता तो सत्-रूप सीप की अधिकरणरूप में क्यों आवश्यकता पड़ती? चाँदी चाहने वाला कोई व्यक्ति सत् पदार्थ—सीपी को देखकर क्यों दौड़ पड़ता? वायुमण्डल में—शून्य में भी रजत का अभाव है, वहाँ कोई रजतार्थी क्यों नहीं प्रवृत्त होता? पुनश्च यदि शुक्तिरूप सत् को रजत नहीं समझा गया था तो फिर सामने देखे जाने वाले सत् पदार्थ को ही भ्रमबाधकाल में उँगली से क्यों निर्देश किया जाता है कि 'यह' रजत नहीं है। निर्देश तो सत् का किया है। इससे प्रतीत होता है कि एक सत् को अपर सत् समझा जा रहा था, न कि अभाव को[2]।

१. तात्पर्यटीका १।१।२, पृष्ठ ८६।
२. तात्पर्यटीका १।१।२, पृष्ठ ८७।

यदि यह कहा जाये कि 'शुक्ति रजतरूप से सदैव असत् है, इस प्रकार असत्-रूप शुक्ति को रजत-रूप में समझना ही असत्ख्याति है' तो इस मान्यता में नैयायिक को कुछ भी आपत्ति नहीं है, क्योंकि यह तो अन्यथाख्याति ही है। नैयायिक भी 'एक सत् पदार्थ ताद्रूप्य सम्बन्ध से दूसरा सत् पदार्थ नहीं है—असत् है' ऐसा ही मानते हैं, न कि 'है' ऐसा। एक सत् को तद्रूप से अपर सत् मानने पर तो अन्यथाख्याति ही न बन पायेगी, क्योंकि 'जो जैसा नहीं है उसे वैसा समझने' के दृष्टिकोण से उसे 'बिना विषय का ज्ञान' या 'असद्विषयक ज्ञान' कहा जा सकता है। अतएव अन्यथाख्याति ही मान्य सिद्ध होती है, असत्ख्याति नहीं।

अनिर्वचनीयख्याति—प्रकृत भ्रमसिद्धान्त अद्वैत वेदान्तियों का है। शुक्ति में रजत का ज्ञान भ्रम कहलाता है। भ्रमबाधकाल में रजत-ज्ञान का बाध हो जाता है किन्तु सत् पदार्थ का कभी बाध नहीं होता, अतएव प्रकृत स्थल में रजत को सत् नहीं कहा जा सकता। परन्तु यतः रजत का अनुभव भी होता है अतएव उसे असत् भी नहीं कहा जा सकता। परस्पर विरुद्ध होने के कारण एक अधिकरणरूप रजत 'सत्' और 'असत्' दोनों नहीं हो सकता। अतः रजत को सदसत् भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए इसे अनिर्वचनीय कहा जा सकता है। यही कारण है कि तत्सम्बन्धी ज्ञान को अनिर्वचनीयख्याति कहा जाता है।

आलोचना—रजत-रूप से ज्ञात सामने पड़े हुए पदार्थ को अनिर्वचनीय कहना समुचित नहीं क्योंकि भ्रमकाल में 'रजत है' इस प्रकार उस द्रव्य का निर्वचन हो गया और बाधकाल में 'रजत नहीं है' इस प्रकार निर्वचन हो गया[1]। इस प्रकार 'है'-रूप सत् और 'नहीं है'-रूप असत् द्वारा दोनों दशाओं में निर्वचन हो जाने के कारण पुरोवस्थित द्रव्य को अनिर्वचनीय कहना समीचीन नहीं।

अद्वैत वेदान्तियों ने प्रपञ्च को मिथ्या माना है इसलिए वे मिथ्या प्रपञ्च के ज्ञान को भी मिथ्या मानते हैं। किन्तु उक्त प्रकार से प्रपञ्च को मिथ्या मानकर वेदान्ती भ्रम की व्याख्या नहीं कर सकते क्योंकि भ्रान्ति का मूलकारण दो वस्तुगत धर्मों की समानता आदि है। किन्तु मिथ्यावस्तु की समानता किससे होगी? प्रपञ्च तो अनिर्वचनीय होता है और समानता वचनीय होती है। इस प्रकार समानता-रूप कारण के न होने से भ्रान्ति-रूप कार्य नहीं हो सकता। किन्तु भ्रान्ति होती है अतएव प्रपञ्च बाह्यवस्तु हैं न कि मिथ्याज्ञान के विषय।

१. तात्पर्यटीका १।१।२, पृष्ठ ८७।

इसलिए अनिर्वचनीय ख्याति भ्रम की निर्दोष व्याख्या कर सकने वाला सिद्धान्त नहीं है।

अख्याति—प्राभाकर मीमांसकों के मत में सभी ज्ञान यथार्थ होते हैं। उनकी दृष्टि में भ्रम जैसा कोई ज्ञान ही नहीं होता है। जिसे लोग भ्रम कहा करते हैं उसमें वस्तुतः दो ज्ञान हुआ करते हैं—एक अनुभवात्मक और दूसरा स्मरणात्मक। लोग इन दोनों का भेद नहीं समझ पाते हैं। इस प्रकार भेद न समझ पाने से ही तथाकथित भ्रम-ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए शुक्ति में 'यह रजत है' इस ज्ञानस्थल में 'यह' ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष होता है क्योंकि यदि पदार्थ स्पष्ट न देखा जाता तो उसके लिए 'यह' शब्द का प्रयोग कैसे होता? इस प्रत्यक्षज्ञान के अतिरिक्त 'रजत है' यह स्मरणात्मक ज्ञान भी यथार्थ है। इन दो ज्ञानों को अलग-अलग न समझ पाने के कारण ही कोई व्यक्ति पुरोवस्थित द्रव्य (शुक्ति) को देखकर रजत उठाने दौड़ पड़ता है किन्तु वहाँ शुक्ति को रजत नहीं समझा जाता है। वस्तुतः प्रत्यक्षभूत विषय (शुक्ति) और अन्यत्र विद्यमान रजत को एवं उक्त अनुभव और स्मरण इन दो ज्ञानों को भिन्न-भिन्न न समझने से ही तथाकथित भ्रम होता है अर्थात् रजतव्यवहार होता है। ऐसा नहीं कि एक वस्तु को दूसरी समझा जाता हो।

नैयायिक नेत्र आदि इन्द्रियों के दोष को भ्रम का कारण मानते हैं किन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं। नेत्रों में समीचीन ज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति होती है अतः उनसे मिथ्याज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है? श्यामाक बीज से कलम के अंकुर की उत्पत्ति हज़ारों प्रयत्न करने पर भी नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाये कि नेत्रों द्वारा विपर्यय ज्ञान इसलिए पैदा होता है कि नेत्रों में विपर्यय ज्ञान के सहायक दोष होते हैं, तो यह युक्ति भी समीचीन नहीं प्रतीत होती है। यह इसलिए कि दोष कारण—कार्य उत्पन्न करने की शक्ति—का विनाश कर सकते हैं किन्तु वे कारण में अतिरिक्त—नये कार्य के उत्पन्न करने की—शक्ति नहीं प्रदान कर सकते। भुने हुए कुटज के बीज से कुटज नहीं पैदा होता अर्थात् उसमें कुटज पैदा करने की शक्ति नष्ट हो जाती है किन्तु उससे एक नया कार्य—बरगद का उत्पन्न होना—सम्भव नहीं[1]।

'यह रजत है' इस भ्रमस्थल में 'यह' अंश से सामने रखे हुए पदार्थमात्र का ही ज्ञान होता है किन्तु नेत्रगत दोष के कारण सामने रखे हुए पदार्थ में सीपी के सामान्य तथा विशेष गुण के ज्ञात न होने के कारण चमकती हुई वस्तु

१. तात्पर्यटीका १।१।२, पृष्ठ ८८।

(शुक्ति) रजत मालूम होने लगती है। चूँकि रजत का अनुभव भूतकाल में हुआ था और उसके संस्कार मस्तिष्क में अंकित थे। शुक्तिग्रहणकाल में श्वेतत्व-रूप समानता के द्वारा वे संस्कार जग पड़ते हैं और चूँकि स्मृति (ज्ञात) पदार्थ का ज्ञान होती है अतएव ज्ञात के दूर हो जाने के कारण ज्ञानमात्र अवशिष्ट रह जाता है। इसलिए रजत के स्मरणज्ञान का और पुरोवर्ती पदार्थज्ञान का परस्पर अभेद होने के कारण अर्थात् भेद के ज्ञात न होने के कारण ही ज्ञात और स्मृत विषय के सम्बन्ध में अभेद का व्यवहार होता है। वस्तुतः यहाँ दो ज्ञान थे–एक प्रत्यक्षात्मक और दूसरा स्मरणात्मक। कहीं-कहीं स्मरणात्मक ज्ञान के न होने पर भी भ्रम होता है, जैसे—'शंख पीला है' इस भ्रमस्थल में ऐसी परिस्थिति होती है कि नेत्रों से निकलती हुई तैजस रश्मियाँ शंख पर गिरती हैं। चूँकि नेत्र में पित्त द्रव्य होता है अतएव उसके पीलेपन का ज्ञान होता है किन्तु पित्त का ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार शंख का पदार्थरूप में ज्ञान होता है किन्तु उसके गुण–श्वेतत्व का ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार धर्म और धर्मी के अलग होने को न समझने के कारण उसे एक ही समझा जाता है। भेद के न ज्ञात होने के कारण जो अभेद का व्यवहार होता था उसका भी बाध 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार के ज्ञान से हो जाता है। इससे प्रतीत होता है कि बाधकाल के पहिले पुरोवर्ती द्रव्य और रजत को अलग-अलग नहीं समझा गया था। यह अलग-अलग न समझा जाना ही लोक में भ्रम कहा जाता है, इसलिए सभी प्रकार के ज्ञान, वे कैसे भी क्यों न हों, यथार्थ ही होते हैं। वस्तुतः अप्रमा जैसा कोई ज्ञान नहीं होता।

आलोचना—रजतार्थी व्यक्ति जब यह समझ लेता है कि 'यह रजत है' तब सामने पड़े हुए पदार्थ को लेने दौड़ पड़ता है। अब विचार करने की बात है कि रजतार्थी व्यक्ति की प्रवृत्ति इसलिए होती है कि वह पुरोवर्ती द्रव्य और स्मरण के विषय इन दोनों पदार्थों और इनके ज्ञान के भेद को 'नहीं समझता' है अथवा दोनों के अभेद को 'समझता' है। किन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि कोई भी प्राणी किसी कार्य में अज्ञान से ही प्रवृत्त हो जाये। वस्तुतः ज्ञान से ही किसी प्राणी की प्रवृत्ति कहीं देखी जाती है[1]।

यहाँ यह भी विचारणीय विषय है कि सामने देखे जाने वाले पदार्थ का जो ज्ञान होता है वह 'रजत' का ज्ञान होता है अथवा केवल 'पुरोवर्ती' वस्तु का। यदि उसे रजतविषयक ज्ञान माना जाये तो सामने देखे जाने वाले पदार्थ

१. तात्पर्यटीका १।१।२, पृष्ठ ८९।

को रजत-रूप में समझना क्या अन्यथाख्याति नहीं है? यदि यह कहा जाये कि केवल सामने देखे जाने वाले पदार्थ का ज्ञान होता है तो 'भेद के न समझने' की बात करना व्यर्थ है क्योंकि भेद होने के लिए दो वस्तुओं के ज्ञान की आवश्यकता होती है। केवल दृष्ट पदार्थ के ज्ञान से भेद का प्रसङ्ग नहीं उठता अर्थात् केवल 'इदं'—रूप सामान्यपद से विशेषरूप रजत का ज्ञान नहीं हो सकता; केवल वृक्ष को देखने से ही शीशम चाहने वाला व्यक्ति वृक्ष की ओर नहीं प्रवृत्त होता क्योंकि वहाँ शीशम का ज्ञान नहीं होता जिससे वृक्ष और शीशम के बीच भेद का प्रसङ्ग माना जाये। यदि यह कहा जाये कि 'यह रजत है' यहाँ केवल 'यह' के ज्ञान से ही रजत का ज्ञान लिया जा सकता है क्योंकि ऐसे स्थलों पर 'यह' और 'रजत' इन दोनों में विशेषण और विशेष्य का भेद नहीं हुआ करता है, तो यह कथन भी समीचीन नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि यदि 'यह' को रजत का विशेषण न माना जाये तो सामने देखे जाने वाले पदार्थ का रजत से कोई सम्बन्ध नहीं होगा। यही कारण है कि सामने देखे जाने वाले पदार्थ को चाहने वाला व्यक्ति उसे लेने के लिए प्रवृत्त होगा न कि रजत को चाहने वाला। इसी प्रकार रजत को चाहने वाला व्यक्ति उसी ओर प्रवृत्त हो सकता है जिसे वह रजत समझता हो। पूर्वदृष्ट (आपणदृष्ट) रजत की ओर कोई रजतार्थी प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि अख्यातिवादी की दृष्टि में भी उस व्यक्ति को रजत का ज्ञान सामने नहीं हो रहा है। यदि यह माना जाये कि 'यह रजत है' यहाँ दो ज्ञान एक ज्ञान जैसे मालूम होते हैं तो यह मान्यता भी तर्कसङ्गत नहीं क्योंकि यदि प्रकृत स्थल में दो ज्ञान होते तो 'वह रजत है', 'यह शुक्ति है' इस प्रकार दो भिन्न-भिन्न ज्ञान होने चाहिये थे, किन्तु ऐसा नहीं होता।

मीमांसक भ्रम-स्थल में दो वस्तुओं के भेद के न समझने को कारण मानते हैं परन्तु यहाँ एक स्थिति और बन सकती है—'अभेद का ज्ञान न होना' अर्थात् सीप और चाँदी को एक समझने को भी न समझना। इसलिए जब पहिले भेद को न समझने के कारण व्यक्ति की रजत में प्रवृत्ति होती थी तो अभेद के न समझने के कारण निवृत्ति भी होनी चाहिये। परन्तु इस प्रकार एक ही व्यक्ति एक ही काल में एक ही विषय की ओर कैसे प्रवृत्त और निवृत्त हो सकता है? इसलिए अख्यातिवाद को यथार्थमत नहीं माना जा सकता।

मीमांसक यह भी कह सकता है कि यदि प्रवृत्ति का कारण शुक्ति और रजत के भेद का अज्ञान न होगा तो ऐसे पुरुष को भी भ्रान्त समझा जायेगा

जिसने भेद को समझ लिया हो[१]। मीमांसक यहाँ ज्ञान की दो स्थितियाँ मानता है—'भेद का ज्ञान न होना' तथा 'भेद का ज्ञान होना'। यदि तुम्हें 'भेद के अज्ञान' से प्रवृत्ति मान्य नहीं होगी तो 'भेद के ज्ञान' से प्रवृत्ति माननी चाहिये। अर्थात् जो व्यक्ति शुक्ति को एवं रजत को सर्वथा भिन्न समझेगा अथ च रजतार्थी होगा शुक्ति की ओर भी उसे ग्रहण करने के लिए दौड़ पड़ेगा, किन्तु दौड़ता नहीं।

भेद का अज्ञान एक प्रकार की ज्ञानशून्यता है। ज्ञानशून्य व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता (जैसे सुषुप्त व्यक्ति), उसकी प्रवृत्ति का कारण ज्ञान की कुछ न कुछ मात्रा अवश्य होती है। इसलिए जब कि हजारों यथार्थवस्तु-स्थलीय प्रवृत्तियाँ ज्ञानमूलक ही होती हैं, अज्ञानमूलक नहीं, तो वस्तु की असत्तास्थलीय प्रवृत्ति को भी प्रवृत्ति होने के कारण ज्ञानमूलक ही मानना उचित है, अज्ञानमूलक नहीं। इसलिए भेदाग्रह के अनन्तर अभेदग्रह अर्थात् भ्रमज्ञान करके ही प्रवृत्ति होती है यही मानना उचित प्रतीत होता है। दूसरी बात यह भी है कि जो भेदाग्रह से प्रवृत्ति मानते हैं उन्हें अभेदाग्रह से निवृत्ति माननी चाहिये क्योंकि भेद और अभेद परस्पर विरोधी हैं इसलिये भेदाग्रह और अभेदाग्रह इन दोनों को विरुद्ध-कार्य-सम्पादक ही होना चाहिये। मीमांसक भेदाग्रह से होने वाली प्रवृत्तिस्थल में शुक्ति और रजत इन दोनों का अभेदग्रह तो मान नहीं सकते क्योंकि यदि वे ऐसा मानें तो वही ग्रह भ्रम स्वीकृत हो जायेगा। ऐसी परिस्थिति में उन्हें यह मानना ही होगा कि वस्तु की असत्ता के स्थल में भेदाग्रह के समान अभेदाग्रह भी रहता ही है। किन्तु मीमांसक भी यह नहीं स्वीकार कर सकते कि वहाँ प्रवृत्ति एवं निवृत्ति एक ही साथ रहती है।

यहाँ यदि यह कहा जाये कि भ्रमकाल में 'यह सीप है' इस प्रकार सीप-रूप में विषय न बनने वाली पुरोदृश्यमान वस्तु रजतज्ञान का विषय नहीं होती तो यहाँ पर निम्नलिखित दो विकल्पों में से एक को स्वीकार करके ही उक्त प्रश्न को हल किया जा सकता है—क्या शुक्तिकात्व धर्म से युक्त यह शुक्तिका रजतज्ञान का विषय नहीं है? ऐसा माना जाये अथवा 'यह' पुरोदृश्यमान पदार्थ, जो श्वेत है और चमकता है, रजतज्ञान का विषय नहीं है ऐसा? पहिले विकल्प का निषेध सर्वमान्य है किन्तु दूसरे विकल्प का निषेध नहीं हो सकता क्योंकि 'यह' पद से सामने देखी जाती हुई वस्तु का निर्देश उँगली से किया जाता है अतएव अन्यथाख्याति की सिद्धि हुई।

---

१. तात्पर्यटीका १।१।२, पृष्ठ ९०।

मीमांसकों का कथन है कि दुष्ट कारण ज्ञान को पैदा न करे यह तो सम्भव है पर एक नवीन अथवा विरोधी ज्ञान नहीं पैदा कर सकते, जैसे भुने बीजों से अपना अङ्कुर न उत्पन्न हो यह तो सही ही है किन्तु उससे किसी अन्य का अंकुर उत्पन्न हो जाये यह नहीं कहा जा सकता। उक्त कथन भी ठीक नहीं क्योंकि भुने हुए वेत्रबीज से कदली का अंकुर उत्पन्न होता देखा जाता है और भस्मक रोग से भोजन का अभाव नहीं अपितु भोजनाधिक्य ही देखा जाता है। मीमांसकों का सभी ज्ञानों को यथार्थ मानना उचित नहीं क्योंकि यदि सभी ज्ञान यथार्थ होते तो 'यह रजत नहीं है' ऐसा बाधक ज्ञान पूर्ववर्ती रजत-ज्ञान को अयथार्थ क्यों सिद्ध करता है, अतएव ज्ञान अयथार्थ भी होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्यथाख्याति से इतर अन्य मतों की भाँति अख्यातिवाद सिद्धान्त भी त्रुटिपूर्ण है, केवल अन्यथाख्याति ही भ्रम की प्रामाणिक व्याख्या करती है।

स्मृति

परवर्ती दार्शनिकों ने स्मृति के यथार्थ एवं अयथार्थ ये दो प्रभेद माना है। अयथार्थ स्मृति अप्रमा होती है। न्यायसूत्रों में स्मृति की परिभाषा एवं प्रभेद आदि नहीं पाये जाते हैं। कणाद के अनुसार आत्मा के संयोगविशेष एवं संस्कार से स्मृति उत्पन्न होती है[1]। भाष्यकार ने स्मृति को आत्मा का गुण कहा है। प्राणी पहिले किसी पदार्थ को देखता है, पुनः उसका स्मरण करता है। देखने और स्मरण करने वाला एक ही व्यक्ति होना चाहिये क्योंकि अपने द्वारा देखे हुए विषय का ही स्मरण किया जाता है, अन्य व्यक्ति के द्वारा देखे हुए पदार्थ का स्मरण कोई नहीं कर सकता, अतएव दर्शन एवं स्मरण दोनों कालों में एक ही आत्मा का होना आवश्यक है[2]।

भाष्य के उक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पूर्व अनुभूत विषय का ही स्मरण हो सकता है। भाष्यकार ने आत्मा और मन के सन्निकर्ष एवं पूर्वानुभूत विषय के संस्कार को स्मृति के उत्पन्न होने में कारण माना है।[3] जब

१. 'आत्मनः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः'। (वैशेषिक सूत्र ९।२।६)

२. 'एकस्तु चेतनोऽनेकार्थदर्शी भिन्ननिमित्तः पूर्वदृष्टमर्थं स्मरतीति एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसंधानात् स्मृतेरात्मगुणत्वे सति सद्भावः विपर्यये चानुपपत्तिः।' (न्यायभाष्य ३।१।१४)

३. 'यथा खल्वात्ममनसोः सन्निकर्षः संस्कारश्च स्मृतिहेतुरेवम्......' (न्यायभाष्य ३।२।३३)

हमें किसी वस्तु का प्रत्यक्षज्ञान होता है तभी हमारी आत्मा में उस विषय का संस्कार उत्पन्न हो जाता है। यह संस्कार स्थिर रहता है और वस्तुविषयक ज्ञान नष्ट हो जाता है। भविष्य में कभी कारणवश यह संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है तब पहिले से अनुभूत विषय का ज्ञान होता है। यही ज्ञान स्मरण कहलाता है। किन्तु इस ज्ञान में इन्द्रिय आदि बाह्यसाधनों की आवश्यकता नहीं होती, केवल संस्कार के उद्बुद्ध होने की और आत्मा एवं मन के सन्निकर्ष की अपेक्षा होती है। भाष्यनिर्दिष्ट संस्कार का अर्थ 'भावना' संस्कार है। वार्तिककार ने स्पष्ट शब्दों में इसे 'भावना संस्कार' कहा है[१]।

संस्कार के वर्तमान रहने पर भी संस्कारजन्य स्मरणज्ञान सदैव नहीं उत्पन्न होता है क्योंकि संस्कार के उद्बुद्ध होने में बहुत से निमित्त कारण होते हैं। उन्हीं कारणों के उपस्थित होने से सुप्त संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं और उनके उद्बुद्ध हो जाने से स्मरणज्ञान उत्पन्न होता है। न्यायसूत्र में उक्त निमित्तों का उल्लेख मिलता है[२]। भाष्य में इनके उदाहरणों का स्पष्टीकरण पाया जाता है। न्यायवार्तिक और तात्पर्यटीका में इनका अधिक विवेचन नहीं किया गया है। संस्कारों को उद्बुद्ध करके स्मृति करानेवाले कारण निम्नलिखित हैं—

१. प्रणिधान—चिन्तन करने के लिए दत्तावधान होना प्रणिधान कहा जाता है। व्यक्ति जिस वस्तु का स्मरण करना चाहता हो यदि उसके स्मरण करने के लिए अपने मन को एकाग्र करने के लिए चिन्तन करे तो प्रायः वह वस्तु याद आ जाती है।

२. निबन्ध—एक ग्रन्थ में विभिन्न विषयों का उल्लेख हुआ रहता है। उनके किसी एक का ज्ञान होने पर अन्य का स्मरण हो आता है। प्रमाण का ज्ञान होने पर प्रमेय का स्मरण हो आना स्वाभाविक है।

३. अभ्यास—एक बार किसी वस्तु के याद करने से वह वस्तु शीघ्र ही याद आ जाया करती है।

४. लिङ्ग—लिङ्ग से लिङ्गी का स्मरण होता है। यहाँ लिङ्ग चार प्रकार का माना गया है :—

---

१. 'भावनाख्यः स्मृतिहेतुः संस्कारः'।—(न्यायवार्तिक ३।१।१९, पृष्ठ ३६६)

२. 'प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्य-वियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रिया-रागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः।'—(न्यायसूत्र ३।२।४१)

(क) **संयोगी**—धूम संयोगी लिङ्ग है। इससे लिङ्गी-अग्नि का स्मरण होता है।

(ख) **समवायी**—सींग समवायी लिङ्ग है जिसके ज्ञान से तत्समवेत गाय का स्मरण होता है।

(ग) **एकार्थसमवायी**—हाथ पैर का एकार्थसमवायी है क्योंकि एक अर्थ–शरीर में हाथ और पैर दोनों समवेतत्व सम्बन्ध से रहते हैं अतएव लिङ्ग-रूप हाथ को देखकर लिङ्गी-पैर का स्मरण हो सकता है। अथवा रूप को देखकर स्पर्श का स्मरण हो सकता है। कोमल गद्दे के रूप का प्रत्यक्ष करने पर उसके स्पर्श का स्मरण हो आता है।

(घ) **विरोधी**—अभूत लिङ्ग से भूत लिङ्गी का स्मरण होता है। 'वर्षा न होने से' भूतकाल में हुए 'वायु एवं मेघ के संयोग' का स्मरण होता है क्योंकि मेघाच्छन्न आकाश होने पर भी इसीलिए वृष्टि नहीं होती है कि वायुद्वारा मेघ छिन्न-भिन्न कर दिये जाते हैं।

५. **लक्षण**—किसी वर्ग के लक्षण—विशेषता को देखकर उस वर्ग का स्मरण हो आता है। पशु के शरीर में दाग देखकर 'यह गर्ग लोगों का पशु है' इस प्रकार गर्ग परिवार का स्मरण हो आता है।

६. **सादृश्य**—देवदत्त का चित्र देखकर देवदत्त का स्मरण होता है क्योंकि चित्र और देवदत्त में आकृति का सादृश्य होता है।

७. **परिग्रह**—सेवक के देखने से स्वामी का स्मरण हो आता है। इसी प्रकार स्वामी के दर्शन से सेवक का स्मरण हो आता है।

८. **आश्रय**—आश्रित का स्मारक आश्रय होता है, जैसे ग्रामणी (मुखिया) को देखकर उसके आश्रित ग्रामनिवासियों का स्मरण होता है।

९. **आश्रित**—आश्रित को देखकर आश्रय का स्मरण हो आता है, जैसे आश्रितों को देखकर आश्रय-रूप ग्रामणी का स्मरण होता है।

१०. **सम्बन्ध**—गुरु-शिष्य का सम्बन्ध इसका दृष्टान्त है। गुरु के दर्शन से शिष्य का और शिष्य के दर्शन से गुरु का स्मरण होता है।

११. **आनन्तर्य**—जब एक कार्य करने के बाद प्रायः दूसरा कार्य किया जाता है तब एक कार्य के करने या सुनने से दूसरे कार्य का स्मरण होता है।

१२. **वियोग**—वियुक्त व्यक्ति जिससे वियुक्त होता है उसका अत्यधिक स्मरण उसे हुआ करता है। यहाँ स्मरण का कारण वियोग है।

१३. एक कार्य—एक काम के करने वाले यदि अनेक व्यक्ति हों तो एक के देखने से दूसरों का स्मरण हो आता है।

१४. विरोध—परस्पर विरोध रखने वाले व्यक्तियों में से एक के देखने से दूसरे का स्मरण होता है।

१५. अतिशय—अतिशय संस्कार को कहते हैं। यज्ञोपवीत आदि संस्कार के ज्ञान से उसके सम्पादक आचार्य आदि का स्मरण हो आता है।

१६. प्राप्ति—जिस व्यक्ति को जिससे कुछ प्राप्त होता है उसका उसे बहुधा स्मरण हो आया करता है।

१७. व्यवधान—व्यवधान का अर्थ आवरण होता है। म्यान को देखने से खड्ग का स्मरण हो आता है। म्यान खड्ग का व्यवधान होता है।

१८. सुख एवं दुःख—सुख एवं दुःख से सुख एवं दुःख के कारणों का स्मरण होता है।

१९. इच्छा एवं द्वेष—जिसकी इच्छा एवं जिससे द्वेष होता है उसका स्मरण होता है।

२०. भय—जिससे भय होता है उसका स्मरण हुआ करता है।

२१. अर्थित्व—अर्थीपन से अर्थ्यमान वस्तुओं एवं उनके दाता व्यक्तियों की स्मृति हुआ करती है।

२२. क्रिया—क्रिया से उसके कर्ता का स्मरण होता है। रथ को देखकर रथकार का स्मरण होता है।

२३. राग—राग के कारण पुत्र आदि का स्मरण होता है।

२४. धर्म एवं अधर्म—धर्म और अधर्म से अकस्मात् पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण हो आता है। ये विषय सुख एवं दुःख के साधन होते हैं।

सूत्र एवं भाष्य में स्मृति की परिभाषा नहीं मिलती। वार्तिककार ने इस परम्परा में सर्वप्रथम स्मृति की परिभाषा दी है। स्मृति के यथार्थ और अयथार्थ प्रभेद वार्तिक तक में भी नहीं मिलते।

स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा—वार्तिककार के अनुसार किसी विषय के अनुभवरूप प्रत्यक्षज्ञान के समाप्त हो जाने पर उसी विषय का अनुसंधान-रूप ज्ञान स्मृति कहलाता है[1]। स्मृति की परिभाषा के साथ ही साथ वार्तिककार

१. 'प्रत्यक्षबुद्धिनिरोधे तदनुसंधानविषयः प्रत्ययः स्मृतिः।'
(न्यायवार्तिक ३।१।१९, पृष्ठ ३६६)

ने प्रत्यभिज्ञा की भी परिभाषा दी है[१]। स्मृति और प्रत्यभिज्ञा में अन्तर है। प्रत्यभिज्ञा अतीतविषयक होने पर भी प्रत्यक्षात्मक होती है जब कि स्मृति अतीत-विषयक होती हुई प्रत्यक्षात्मक नहीं होती। स्मृति की सहायता से ही प्रत्यभिज्ञा ज्ञान उत्पन्न होता है। स्मृति और प्रत्यभिज्ञा में समानता यह रहती है कि दोनों के विषय पहिले से अनुभूत रहते हैं।

परतः प्रामाण्यवाद

न्यायभाष्य में परतः प्रामाण्यवाद पर स्वल्प एवं अव्यवस्थित विवेचन प्राप्त होता है। वार्तिक में इस विषय पर प्रकाश नहीं डाला गया है किन्तु तात्पर्य-टीका में इस विषय पर किया गया विचार बहुत कुछ अंशों में व्यवस्थित ही है। न्यायसाहित्य के अन्तर्गत 'परतः प्रामाण्य' शब्द सर्वप्रथम तात्पर्यटीका में ही पाया जाता है[२]।

भाष्यकार उस ज्ञान को प्रमाणजन्य अर्थात् प्रमा मानते हैं जिसके अनुसार चेष्टा करने पर ज्ञानानुकूल फल मिले[3]। इसका अर्थ यही हुआ कि जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी से उसके प्रमात्व का ज्ञान नहीं होता है अपितु प्रमात्व अथवा ज्ञान के प्रामाण्य के जानने के लिए ज्ञानानुकूल चेष्टा का सफल होना आवश्यक है। सारांश यही हुआ कि ज्ञान स्वतः प्रमाण न होकर परतः ही प्रमाण होता है।

तात्पर्यटीका में मीमांसकों के स्वतःप्रामाण्यवाद के खण्डन के साथ ही साथ परतः प्रामाण्यवाद की पुष्टि की गई है। जिसका अभिप्राय इस प्रकार है:—

परतः प्रामाण्यवाद में ज्ञान और उसके प्रामाण्य की ग्राहक सामग्री भिन्न-भिन्न मानी जाती है। ज्ञान की ग्राहक सामग्री 'अनुव्यवसाय' मानी गई है जब कि प्रामाण्य की ग्राहक सामग्री अनुमान प्रमाण है। प्रवृत्ति के सफल अथवा असफल होने रूप अनुमान के द्वारा ज्ञान का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य ज्ञात होता है। अनुमान के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार ज्ञान का प्रामाण्य नहीं गृहीत होता है क्योंकि कोई भी ज्ञान अपने को आप ही विषय नहीं बना सकता। इस प्रकार अपने को भी विषय न बनाने वाला वह ज्ञान अपने

---

१. 'तदनुगृहीतस्तदनुसंधानविषयः प्रत्ययस्तदभावविषयः प्रत्यभिज्ञानम्।
(न्यायवार्तिक ३।१।१९, पृष्ठ ३६६)

२. तात्पर्यटीका १।१।१ प्रस्तावना, पृष्ठ ४।

३. न्यायभाष्य १।१।१ प्रस्तावना।

आश्रित प्रामाण्यरूप धर्म को कैसे विषय बना पायेगा ? अनुव्यवसायात्मक ज्ञान से भी गृहीत ज्ञान का प्रामाण्य नहीं ज्ञात होता क्योंकि अनुव्यवसायात्मक ज्ञान से तो केवल पूर्ववर्ती व्यवसायात्मक ज्ञान का ही ग्रहण होता है न कि पूर्ववर्ती-ज्ञानगत अव्यभिचारित्व-स्वरूप प्रमात्व का ग्रहण होता है, पुनश्च अनुव्यवसायात्मक ज्ञान से प्रमा और अप्रमा दोनों गृहीत होते हैं। इस प्रकार अनुव्यवसायात्मक ज्ञान से प्रमा और अप्रमा दोनों के प्रामाण्य मानने की आपत्ति उठ खड़ी होती है इसलिये स्वतः प्रामाण्यवाद मान्य नहीं हो सकता[1]।

मीमांसक परतः प्रामाण्यवाद में कुछ दोष दिखलाने का प्रयास करते हैं। उनका आक्षेप है कि ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञानग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री के द्वारा नहीं गृहीत हो सकता क्योंकि ज्ञानग्राहक द्वितीय-आदि ज्ञान से ज्ञानगत प्रामाण्यग्रहण की समस्या इसलिए हल होती हुई नहीं मानी जा सकती कि प्रामाण्यग्राहक-रूप से अभिप्रेत होने वाले उन द्वितीय-आदि सभी ज्ञानों के अन्दर प्रामाण्य अनवधारित ही रहेगा। जो ज्ञान स्वगत प्रामाण्य को ग्रहण न करा सकने के कारण आकुलकल्प होगा वह भला किस प्रकार स्वपूर्ववर्ती प्रवर्तक ज्ञान को अनाकुल बना पायेगा अर्थात् उसे कैसे प्रमाण बतलाकर अर्थनिर्णायक बना पायेगा ? यदि यह कहा जाये कि उक्त परवर्ती ज्ञान स्वतः प्रमाण-रूप में मान्य होगा अर्थात् उसके अन्दर अन्य किसी के द्वारा प्रामाण्य-ग्रहण की आवश्यकता नहीं होती तो फिर पूर्ववर्ती प्रवर्तक ज्ञान का ऐसा कौन-सा दोष बतलाया जा सकता है जिसके कारण उसे ही स्वतः प्रमाण न मान लिया जाये।

उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए तात्पर्यटीकाकार ने अनभ्यासदशापन्न विषयों के ज्ञान का प्रामाण्य प्रवृत्तिसामर्थ्य से और अभ्यासदशापन्न स्थल में ज्ञान का प्रामाण्य तज्जातीयत्व लिङ्ग से माना है[2]। मीमांसक स्वतः प्रामाण्य के पक्ष में जो यह युक्ति उपस्थित करते हैं कि यदि ज्ञान स्वतः प्रमाण न होता तो व्यक्ति किसी कार्य में कैसे प्रवृत्त होता, क्योंकि प्रवृत्ति अर्थ के अवधारण से ही होती है, समीचीन नहीं। यह इसलिये कि प्रवृत्ति के उत्पन्न करने का हेतु पदार्थ

---

१. 'न खलु विज्ञानमनात्मसंवेदनमात्मानमपि गृह्णाति प्रागेव तत्प्रामाण्यम्। नापि विज्ञानान्तरम्। तद्विज्ञानमित्येव गृह्णीयान्न पुनरस्याव्यभिचारित्वम्। ज्ञानत्वमात्रं च तदाभाससाधारणमिति न स्वतःप्रामाण्यावधारणम्,
(तात्पर्यटीका १।१।१, पृष्ठ ४-५)

२. तात्पर्यटीका १।१।१, पृष्ठ ११-१२।

की प्रतीतिमात्र है, तद्गत प्रामाण्य से उस प्रवृत्ति का कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि संदिग्ध ज्ञान से भी व्यक्ति कार्य में प्रवृत्त होता है। कृषक जब बीज बोता है तब उसे यह पूर्ण निश्चय नहीं होता कि फसल अच्छी ही होगी क्योंकि अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा अन्यकारणों से अन्न की उत्पत्ति नहीं भी हो सकती है। यहाँ भी प्रवृत्ति आशा अथवा संदेह से ही होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'प्रवृत्ति होने' के सहारे स्वतः-प्रामाण्यवाद की सिद्धि नहीं हो सकती।

ज्ञान का प्रामाण्य परतः ही होता है। व्यक्ति को पहले किसी पदार्थ का जैसा-तैसा ज्ञान होता है फिर उस पदार्थ को यथार्थरूप में ग्रहण करने के लिये वह प्रवृत्त होता है, प्रवृत्त होने पर यदि उसकी प्रवृत्ति सफल हो पाती है तो वह अपने ज्ञान को प्रमा समझता है, अन्यथा अप्रमा। मानलिया जाये कि किसी व्यक्ति को किसी स्थान पर पानी का ज्ञान होता है। पानी का ज्ञान होने पर वह व्यक्ति पानी को प्राप्त करने के लिये चल पड़ता है अर्थात् प्रवृत्त हो जाता है। यदि वहाँ उसे पानी मिल जाता है तब तो उसकी प्रवृत्ति सफल हो जाती है—अन्यथा असफल। प्रवृत्ति की सफलता से उक्त जलज्ञान का प्रमात्व अन्यथा अप्रमात्व समझा जाता है। इस प्रकार जिस ज्ञान के प्रमात्व का निश्चय प्रवृत्ति सामर्थ्य से होता है, अनभ्यासदशापन्न ज्ञान कहा जाता है।

अनभ्यासदशापन्न ज्ञान का प्रमात्व प्रवृत्ति के सामर्थ्य से गृहीत हो जाने पर पुनः उसी प्रकार जल का ज्ञान हो सकता है। किन्तु इस स्थल पर जल के ज्ञान का प्रामाण्य प्रवृत्ति के सामर्थ्य से नहीं होता क्योंकि अनभ्यासदशापन्न ज्ञान के प्रामाण्यस्थल में इस प्रकार के ज्ञान का निर्णय हो चुका रहता है। प्रकृत स्थल उसी का पुनरावर्तन–अभ्यास है। अतएव इस अभ्यासदशापन्न ज्ञान का प्रामाण्य तज्जातीयत्व—'यह ज्ञान सफलप्रवृत्तिक अनभ्यासदशापन्न ज्ञान की जाति का है' इसी लिङ्ग से प्रमा समझा जायेगा। यही स्थिति अन्य स्थलों पर भी होती है।

तात्पर्यटीकाकार ने इसी प्रकार मन्त्र, आयुर्वेद आदि सफलप्रवृत्तिजनक लौकिक वाक्यगत 'आप्तोक्तत्व' हेतु से अलौकिक पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक आदि का बोध कराने वाले वैदिक वाक्यों में प्रामाण्य का अनुमान माना है। तदनुसार न्यायदर्शन में वैदिक वाक्य भी स्वतः–प्रमाण नहीं माने जाते।

सारांश यह है कि वेद भी स्वतः प्रमाण नहीं हो सकता जिसको स्वतः प्रमाण मानने के लिये ही मीमांसकों ने स्वतः प्रामाण्य जैसे सिद्धान्त की कल्पना की है।



अध्याय २

'न्यायवार्तिक' में प्रमाण का लक्षण एवं प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रमाण का लक्षण

न्यायसूत्रों में प्रमाण का लक्षण नहीं मिलता। भाष्यकार के अनुसार प्रमाता जिसके द्वारा अर्थ का ज्ञान प्राप्त करता है वह प्रमाण होता है—'स येनार्थं प्रमिणोति तत्प्रमाणम्'[1]। वार्तिककार के अनुसार प्रमाण का लक्षण इस प्रकार है—उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्, उपलब्धिहेतुत्वं प्रमाणत्वं यदुपलब्धिनिमित्तं तत् प्रमाणमिति'[2], अर्थात् उपलब्धि (ज्ञान) के हेतु अथवा निमित्त को प्रमाण कहते हैं। तात्पर्यटीकाकार का कथन है कि 'उपलब्धि के हेतु होने पर भी संशय एवं विपर्यय में लक्षण की अतिव्याप्ति न होगी क्योंकि 'अर्थवत्' (प्रमाण-तोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्) का अधिकार है'[3]। संशयस्थल में वस्तु के विषय में वैकल्पिक ज्ञान होता है अतएव वह संशय अर्थक्रिया में सर्वथा सफल ही नहीं हुआ करता है इसीलिए संशय 'अर्थवान्' न होने के कारण प्रमाण न हो सकेगा। इसी प्रकार विपर्यय ज्ञान अर्थव्यभिचारी होता है अतएव उसे 'अर्थवान्' न मानकर 'अनर्थक' माना जाता है। अभिप्राय यह है कि अर्थवान् न होने के कारण संशय एवं विपर्यय प्रमाण की कोटि में नहीं आते।

प्रमाण शब्द का अर्थ 'प्रमा' का साधन होता है। स्मृति उपलब्धि (ज्ञान) का साधन अवश्य होती है किन्तु 'प्रमात्मक' ज्ञान का साधन नहीं होती अतएव स्मृति भी प्रमाण नहीं है। संभवतः तात्पर्यटीकाकार के समय तक नैयायिकों में स्मृति के यथार्थ एवं अयथार्थ प्रभेद मान्य नहीं हो पाये थे। इसी स्थल पर परमसूक्ष्म कालभेद के आधार पर धारावाहिक विज्ञान को भी प्रमाण माना गया है। 'उपलब्धिहेतु' पद में 'हेतु' पद से सारूप्य एवं शक्ति के फल के अभिन्न होने का निराकरण हो जाता है। कारण, हेतु एवं हेतुमान्

---

१. न्यायभाष्य १।१।१

२. न्यायवार्तिक १।१।१, पृष्ठ ५,

३. तात्पर्य टीका १।१।१, पृष्ठ २०

का तादात्म्य कभी नहीं हो सकता, अतः अज्ञातार्थज्ञापकत्व सारूप्य एवं स्वपरप्रकाशनशक्ति को ही प्रमाण मानने का खण्डन हो जाता है।

प्रमाण की विशेषताएँ—उपलब्धि के कुछ अन्य हेतु भी होते हैं जैसे प्रमाता, प्रमेय आदि। यदि प्रमाता न होगा तो उपलब्धि किसे होगी? अतएव प्रमाता भी उपलब्धि का कारण है। प्रमेय के बिना भी उपलब्धि न हो सकेगी। इस प्रकार प्रमाता प्रमेय आदि भी उपलब्धि के हेतु होने के कारण क्यों न प्रमाण माने जायें? अथवा प्रमाणरूप उपलब्धि में क्या विशेषता होती है जिसके आधार पर उसे प्रमाण माना जाये और प्रमाता प्रमेय आदि को प्रमाण न माना जाये?

वार्तिककार ने उक्त प्रश्न की उद्भावना करके उसका उत्तर दिया है[1]—

१. प्रमाण के होने पर प्रमाता एवं प्रमेय की चरितार्थता—प्रमाण के होने पर प्रमाता एवं प्रमेय चरितार्थ (कृतकार्य) होते हैं किन्तु प्रमाता और प्रमेय के होने पर प्रमाण चरितार्थ नहीं होता। पूर्वपक्षी आपत्ति कर सकता है कि प्रमाता एवं प्रमेय के चरितार्थ होने पर प्रमाण का होना स्वीकार करने का अर्थ यह हुआ कि प्रमाता और प्रमेय से प्रमाण की उत्पत्ति होती है किन्तु प्रमाण का कोई करण नहीं हुआ क्योंकि कर्ता और कर्म करण नहीं हो सकते। करण उक्त दोनों से सर्वथा भिन्न हुआ करता है। यहाँ प्रमाता कर्ता है और प्रमेय कर्म है और इस प्रकार प्रमाण की उत्पत्ति बिना करण के होने लगती है। पूर्वपक्षी की इस आपत्ति का उत्तर इस प्रकार समझना चाहिये—प्रमाता एवं प्रमेय के द्वारा प्रमाण की उत्पत्ति होने में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण होता है। इसी प्रकार 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' रूप प्रमाण की उत्पत्ति में इन्द्रिय करण बनता है। इससे यही सिद्ध होता है कि कर्तृकरणभाव अनादि है अर्थात् सर्वत्र पश्चाद्भावी को पूर्वभावी की अपेक्षा होती है।

२. प्रमाण साधकतम होता है—प्रमाण के होने पर प्रमा अवश्य होती है किन्तु प्रमाता एवं प्रमेय के होने पर प्रमा होती ही हो ऐसा अव्यभिचारी नियम नहीं है। यद्यपि प्रमाता और प्रमेय के अभाव में प्रमा नहीं होती और उनके भाव में होती है किन्तु उनके भाव में भी सर्वत्र 'होती ही है' ऐसा निश्चय नहीं, जब कि प्रमाण के होने पर प्रमा होती ही है। अतएव प्रमाण को साधकतम माना जाता है। उपलब्धि के साधकतम होने के कारण ही प्रमाण को 'उपलब्धि का साधन' कहा जाता है, प्रमाता एवं प्रमेय को नहीं।

१. न्यायवार्तिक १।१।१, पृष्ठ ५

३. प्रमाता के लिये प्रमा का निमित्त—प्रमाता के पास यदि प्रमाण होता है तभी वह प्रमात्मक ज्ञान प्राप्त करता है, अन्यथा नहीं।

४. प्रमाणाभाव में प्रमातृत्व का अभाव—प्रमाण में यह विशेषता है कि उसके अभाव में प्रमाता एवं प्रमेय प्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न कर सकने में समर्थ नहीं होते।

५. प्रमाण का चरमभावी होना—प्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न करने में अन्तिम (चरम) निमित्त कारण होता है। जो चरम निमित्त होता है वही शक्तिशाली होता है। उदाहरण के लिये संयोग चरमभावी होता है अतएव द्रव्यशक्ति संयोग में ही मानी जाती है।

६. असाधारण कारणता—प्रमाता में सभी ज्ञान उत्पन्न होते हैं अतएव सभी ज्ञानों में वह साधारण कारण होता है, इसी प्रकार कोई भी प्रमेय समस्त पुरुषों के ज्ञान का विषय होने के कारण ज्ञान का साधारण कारण होता है। किन्तु प्रमाण किसी प्रमात्मक ज्ञान का असाधारण (विशेष) कारण होता है, इसीलिए उसे 'उपलब्धिका हेतु' माना जाता है।

७. प्रमा के कारणभूत संयोग का निष्पादक—प्रमाण की विशेषता यह होती है कि वह प्रमा के कारणभूत संयोग में विशेषता लाता है।

८. उपेक्षणीय विषय का प्रतिषेधक—प्रमाण की यह भी विशेषता होती है कि वह उपेक्षणीय विषय का प्रतिषेध करता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष का लक्षण—न्यायसूत्र के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न अशाब्द, अव्यभिचारी एवं निश्चयात्मकज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण होता है।[1]

भाष्यकार ने इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न सूत्रसम्मत उक्त प्रकार के ज्ञान के अतिरिक्त ज्ञान के कारण—सन्निकर्ष को भी प्रमाण माना है[2]।

१. 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'

(न्यायसूत्र १।१।४)

२. 'अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्। वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा'

(न्यायभाष्य १।१।३)

भाष्यकार के मत से असहमत न होते हुए भी वार्तिककार[1] ने मुख्यतः ज्ञान-रूप प्रमाण पर विचार किया है। भाष्यकार के अनुसार प्रमाणरूप प्रत्यक्षज्ञान के उत्पन्न होने की प्रक्रिया इस प्रकार है—

आत्मा का मन से संयोग, मन का इन्द्रिय से संयोग और इन्द्रिय का अर्थ से सन्निकर्ष होता है। उक्त प्रकार से आत्मा और अर्थ के बीच एक सूत्र जुड़ जाने से आत्मा में प्रत्यक्षात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है[2]। जैसे घट के चाक्षुष प्रत्यक्षस्थल में आत्मा का मन से संयोग होता है, मन का चक्षु से संयोग होता है और रश्मिपुञ्जरूप चक्षु का घट से सन्निकर्ष होता है। सन्निकर्ष का यह स्वरूप सभी वाह्यविषयों के लिए समान होता है। सुख-दुःख एवं आत्मा आदि आन्तर अर्थों के प्रत्यक्षस्थल में मन इन्द्रियस्थानीय और सुख आदि पदार्थ अर्थस्थानीय होते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष के लक्षण में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुए ज्ञान को प्रमाण माना गया है, अतएव सुख आदि अर्थों के प्रत्यक्षस्थल में किसी भी बाह्य इन्द्रिय का सन्निकर्ष सुख आदि अर्थ के साथ नहीं होता अपितु आन्तर इन्द्रिय-मन का सन्निकर्ष सुख आदि अर्थ से होता है।

बाह्य एवं आन्तर विषयों का उक्त प्रकार से सन्निकर्ष होकर ज्ञान होने पर भी सभी बाह्य अथवा आन्तर अर्थों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि उनमें प्रत्यक्ष के विषय होने की योग्यता नहीं होती। अणु एवं आकाश आदि बाह्य पदार्थ हैं किन्तु इनमें प्रत्यक्ष के विषय होने का सामर्थ्य नहीं है। इसलिए तात्पर्यटीकाकार ने ऐसे विषयों के संयोग को सन्निकर्ष नहीं माना है[3]। ऐसे विषयों का इन्द्रियों के साथ किसी प्रकार के संयोग होनेपर भी उन्हें प्रत्यक्ष-लक्षण के अनुसार 'अर्थ' के अन्तर्गत नहीं माना है।

सूत्रकार ने ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण माना है। भाष्यकार ने इसके कारण पर प्रकाश नहीं डाला है। वार्तिककार ने ज्ञान को प्रमाण मानने के कारण का

---

१. 'केचित्तु सन्निकर्षमेव प्रत्यक्षं वर्णयन्ति। न तन्न्याय्यं प्रमाणाभावात्। सन्निकर्ष एव प्रमाणमिति न प्रमाणमस्ति। उभयं तु युक्तं परिच्छेदकत्वात्। उभयं परिच्छेदकं सन्निकर्षो ज्ञानं च। एकान्तवादिनस्तु दोष इति।'
(न्यायवार्तिक १।१।३ पृष्ठ २९)

२. न्यायभाष्य १।१।४,

३. 'अर्थग्रहणेनार्थ्यमानतया ज्ञेयस्वरूपयोग्यता दर्शिता। न चासावण्वाकाशादीनामस्तीति सत्यपि संयोगादौ नासावर्थसन्निकर्ष इति तद्व्युदासः।'
(तात्पर्यटीका १।१।४, पृष्ठ १०९)

उल्लेख किया है। चूँकि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से सुख एवं दुःख भी उत्पन्न होते हैं और ज्ञान भी उत्पन्न होता है, सुख एवं दुःख प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होते इसलिये इनका निराकरण करने के लिये ही सूत्रकार ने सूत्र में 'ज्ञान' पद का भी प्रयोग किया है[१]।

वार्तिक में भाष्योक्त 'आत्मा और मन के संयोग' तथा 'इन्द्रिय और मन के संयोग' के अतिरिक्त कुछ ऐसे कारणों का उल्लेख किया गया है जिनके बिना प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति संभव नही, जैसे—विषय और प्रकाश का संयोग, विषय में स्थित रूप आदि गुण, विषयगत महत्त्व परिमाण, प्रत्यक्षीक्रियमाण पदार्थ का परमाणुभिन्न द्रव्य से बना होना तथा धर्माधर्मरूप[२] अदृष्ट आदि[3]। इन कारणों की उपस्थिति में ही प्रत्यक्ष ज्ञान का उत्पन्न होना सम्भव है। उदाहरण के लिए धर्माधर्मरूप संस्कार को लिया जा सकता है। ज्ञानजनक अदृष्ट जब ज्ञानात्मक फल के उत्पाद के लिए उन्मुख हो उठता है तभी ज्ञानात्मक फल उत्पन्न होता है अन्यथा किसी प्रकार ज्ञानात्मक फल का उत्पन्न होना सम्भव नहीं होता। इस प्रकार प्रत्यक्ष का लक्षण अपूर्ण प्रतीत हो सकता है। वार्तिककार ने उक्त शंका का समाधान किया है। चूँकि 'आत्मा एवं मन का संयोग आदि उक्त सभी कारण प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति साधारण कारण है इसीलिए प्रत्यक्ष के लक्षण में इनका सन्निवेश नहीं किया गया है क्योंकि लक्षण द्वारा असाधारण कारण का उल्लेख किया जाता है न कि साधारण कारणों का।

प्रत्यक्ष प्रमाण रूप ज्ञान का 'अव्यपदेश्य' होना आवश्यक है। भाष्यकार इस प्रसङ्ग में युक्ति देते हैं कि काम आनेवाले संसार के प्रत्येक पदार्थ के लिए कोई न कोई संज्ञा अवश्य निश्चित रहती है। यहाँ भाष्यकार के इस कथन का अभिप्राय यह है कि सारे प्रत्यक्ष ज्ञानों को शाब्दज्ञान अर्थात् शाब्दबोध इसलिए नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान के साथ विषयवाची शब्दों का

---

१. न्यायवार्तिक १।१।४ पृष्ठ ३६,

२. प्रकृत विचार के लिए वार्तिककार अपने पूर्ववर्ती प्रशस्तदेव के ऋणी प्रतीत होते हैं। प्रशस्तदेव ने 'पदार्थधर्मसंग्रह' में प्रत्यक्ष-ज्ञान में निमित्तभूत उक्त कारणों का उल्लेख किया है—

'द्रव्ये तावत्त्रिविधे महत्यनेकद्रव्यवत्त्वोद्भूतरूप-प्रकाशचतुष्टयसन्निकर्षाद् धर्मादि सामग्रये च स्वरूपालोचनमात्रम्'

(पदार्थधर्मसंग्रह—प्रत्यक्षप्रकरण)

३. न्यायवार्तिक—१।१।४ पृष्ठ ३२

वास्तविक वाच्यवाचकभाव नहीं होता जैसा कि ज्ञान के विषय के साथ उन विषयवाची शब्दों का वाच्यवाचकभाव होता है इसलिए प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के अन्दर विषयवाची शब्दों का विषयीकरण मान्य नहीं कहला सकता अतः प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के प्रति विषय की कारणता निश्चित होने के कारण जैसे प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में स्वविषयजन्यता आती है वैसे स्वविषयवाचकशब्दजन्यता प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में नहीं ठहराई जा सकती जिसके कारण प्रत्यक्ष ज्ञानों को शाब्दत्वापन्न अर्थात् शाब्दबोधरूप ठहराकर प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का खण्डन किया जा सके। अतः प्रकृत लक्षण का लक्ष्यभूत वह प्रत्यक्ष ज्ञान शाब्दबोध से अलग अवश्य मान्य है जिसका लक्षण सूत्रकार ने यहाँ बतलाया है। सारांश यह है कि सूत्रकार के समक्ष भी यह प्रश्न उपस्थित था कि सारे प्रत्यक्ष ज्ञान विषय-वाचीशब्दविषयक होने के कारण विषयजन्य की तरह विषयवाचक शब्द जन्य हो उठने के कारण शाब्दबोध क्यों न माना जाये, प्रत्यक्षात्मक ज्ञान को शाब्दबोध से अलग क्यों माना जाये, अतः सूत्रकार ने इस प्रश्न के खण्डनार्थ अपने सूत्र में 'अव्यपदेश्यम्' पद का प्रयोग किया है जिससे उन्होंने यह स्पष्ट किया कि ज्ञान के साथ विषयवाचक शब्द का वाच्यवाचकभाव नहीं होता भले ही अलग-अलग ज्ञानों का वाचक कोई शब्द न होने के कारण उसके विषय के वाचक शब्द के द्वारा ही क्यों न उनका परिचय दिया जाता हो। अतः प्रत्यक्षात्मक ज्ञान को शब्दजन्य नहीं कहा जा सकता जिसके कारण उसे शाब्द अर्थात् शाब्दबोधमात्र-रूप माना जाए।

प्रमाणरूप प्रत्यक्ष ज्ञान 'अव्यभिचारी' होता है। व्यभिचारी ज्ञान भ्रम को कहते हैं। सूर्य की किरणों में जल का ज्ञान अव्यभिचारी—भ्रमभिन्न ज्ञान नहीं है क्योंकि कुछ काल बाद जल के ज्ञान का बाध हो जाता है। अतः व्यभिचारी होने के कारण भ्रम ज्ञान प्रमाण नहीं माना जा सकता।

निश्चयात्मक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष प्रमाण माना जा सकता है। संशय अनिश्चयात्मक ज्ञान होता है इसीलिए इसे प्रमाण नहीं माना जाता है। भाष्य और वार्तिक में संशय को इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न न मानकर उसे मानसमात्र प्रत्यय मानने की कटु आलोचना की गई है[१]। संशय को मानस-मात्र मानने पर अंधे को भी चाक्षुषरूपादि विषयक संशय होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए संशय को भी इन्द्रियसन्निकर्षजन्य ज्ञान मानना अनिवार्य है फलतः 'व्यवसायात्मक' अर्थात् निश्चयात्मक विशेषण न देने पर

१. न्यायभाष्य—१।१।४

इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य संशयात्मक ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण होने लगेगा। उसके निवारण के लिए ही सूत्रकार ने 'व्यवसायात्मकम्' पद का प्रयोग किया है।

वार्तिक में बौद्ध, मीमांसक और सांख्य दार्शनिकों के प्रत्यक्ष के लक्षणों का उल्लेख एवं उनकी आलोचना मिलती है। सूत्र और भाष्य में इस विषय का उल्लेख नहीं पाया जाता।

वसुबन्धु के प्रत्यक्ष लक्षण की आलोचना—प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य वसुबन्धु के अनुसार प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार है[1]—'ततोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षम्' अर्थात् 'उस अर्थ से होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं'। वार्तिक में प्रत्यक्ष के उक्त लक्षण को स्पष्ट करके आलोचना की गई है। उक्त प्रत्यक्ष लक्षण का स्पष्ट अर्थ यह है कि 'जो ज्ञान उसी पदार्थ से उत्पन्न हुआ हो जिसका वह ज्ञान हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं'। प्रत्यक्ष का ऐसा लक्षण करने का कारण यह है कि इससे अनुभव का निरास होता है क्योंकि अग्नि आदि अर्थ का ज्ञान यदि उसी अर्थ (अग्नि) से उत्पन्न हुआ होगा तभी उसे प्रत्यक्ष माना जायेगा। धूमादि के दर्शन से उत्पन्न अग्निविषयक ज्ञान प्रत्यक्ष न होगा। पुनश्च ज्ञान अपने विषय से भी उत्पन्न होता है और दूसरे पदार्थ से भी, जैसे चाँदी का ज्ञान चाँदी से भी उत्पन्न होता है और सीप एवं तद्गत चाकचिक्य से भी। वार्तिककार उक्त लक्षणगत 'अर्थ' शब्द के प्रयोग को इसलिए उचित नहीं मानते कि लक्षणगत 'ततः' शब्द के प्रयोग से ही 'अर्थ' का बोध हो जाने के कारण 'अर्थ' पद का पृथक् प्रयोग व्यर्थ हो जाता है। 'अर्थ' शब्द के प्रयोग को अवधारणार्थक—निश्चयात्मक ज्ञान के लिए भी नहीं मान सकते क्योंकि अवधारणार्थक शब्द के अभाव में भी अभिप्रेत अर्थ के व्यक्त होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है, जैसे कि 'अब्भक्ष' शब्द में एव—'ही' जैसा कोई भी अवधारणार्थ शब्द नहीं प्रयुक्त हुआ है तो भी उससे 'पानी ही पीकर रहने वाला व्यक्ति' यही अर्थ व्यक्त हो जाता है इसी विवेचन से अनुमान व्युदास का भी निराकरण हो गया[2]। वार्तिककार ने यहाँ यह भी कहा है कि पूर्वपक्षी का यह कथन कि संवृत्ति ज्ञान की निवृत्ति के लिए 'अर्थ' पद का प्रयोग किया है, भी उचित नहीं मालूम पड़ता क्योंकि अर्थ पद के प्रयोग करने पर कैसे उसका निराकरण होता है यह बात समझ में नहीं आती। यदि

---

१. न्यायवार्तिक–१।१।४, पृष्ठ ४०
   तात्पर्यटीका–१।१।४, पृष्ठ १५०
२. न्यायवार्तिक–१।१।४ पृष्ठ ४०

कहा जाये कि रूप आदि से उत्पन्न ज्ञान घट का भी ज्ञान कहा जाता है किन्तु उससे उत्पन्न नहीं होता है इसलिए 'अर्थ' पद प्रयुक्त होने पर वह अपक्षिप्त अर्थात् खण्डित होता है तो यह कथन भी युक्त प्रतीत नहीं होता। रूप आदि से उत्पन्न ज्ञान घट का ज्ञान नहीं कहलाता किन्तु रूप से उत्पन्न ज्ञान ही रूप-ज्ञान कहलाता है और घट से उत्पन्न ज्ञान ही घटज्ञान कहलाता है।

यहाँ बौद्धों के कथन का अभिप्राय यह था कि 'रूपी घटः' इस प्रत्यक्ष स्थल में उस प्रत्यक्ष को 'रूपज्ञान' और 'घटज्ञान' दोनों कहा जा सकता है, वह ज्ञान रूप से भी उत्पन्न होता है और घट से भी। ऐसी परिस्थित में उक्त प्रत्यक्षलक्षणवाक्य में यदि 'अर्थ' पद का प्रयोग न किया जाये तो केवल 'घटज्ञान' को भी 'रूपज्ञान' कहा जाने लगेगा क्योंकि 'रूपी घटः' इस प्रत्यक्ष-स्थल में घटज्ञान रूपजन्य होता ही है 'अर्थ' पद प्रयुक्त होने पर इसका निराकरण इसलिए हो जायेगा कि केवल 'घटः' यह ज्ञान रूपजन्य नहीं होगा इसलिए उसे रूपज्ञान नहीं कहा जा सकेगा। इसलिए 'अर्थ' पद की सार्थकता अनिवार्य है। इसके खण्डन में वार्तिककार का कथन यह है कि 'रूपी घटः' यह ज्ञान तो 'रूप' और 'घट' दोनों से उत्पन्न होने के कारण उभयजन्य होता है केवल रूपजन्य नहीं। इसलिये उसे 'रूपज्ञान' और 'घटज्ञान' दोनों कहा जा सकता है परन्तु 'घटः' इस प्रकार होनेवाले केवल 'घटज्ञान' को केवल 'रूपज्ञान' इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वह तो घटमात्रजन्य होता है रूपजन्य नहीं होता, अतः उसके निराकरण के लिए 'अर्थ' पद की सार्थकता कैसे बतलाई जा सकती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि रूप और रूपी दोनों तत्त्वतः एक ही होते हैं इसलिए केवल 'घटः' इस ज्ञान को भी तज्जन्य अर्थात् रूपजन्य ठहराकर उक्त केवल घटज्ञान में रूपज्ञानता के निवारणार्थ 'अर्थ' पद की सार्थकता दी जा सकती है क्योंकि गुण और गुणी सर्वथा भिन्न ही होते हैं दोनों को किसी प्रकार एक नहीं माना जा सकता। कोई भी विवेकी व्यक्ति 'रूपं घटः' ऐसा ज्ञान या वाक्यप्रयोग कभी करता हुआ नहीं पाया जाता। अतएव बौद्धों के प्रत्यक्ष-लक्षण में आया हुआ 'अर्थ' शब्द निरर्थक ही है।

इस प्रकार वसुबन्धु के लक्षणगत 'अर्थ' पदसम्बन्धी विचार को समाप्त करके उक्त लक्षणगत 'ततः' इस अंश का खण्डन वार्तिककार ने इस प्रकार किया है कि क्या बौद्ध भ्रमज्ञान को 'अततः' ज्ञान समझते हुए उसके निराकरणार्थ उक्त प्रत्यक्षलक्षण में 'ततः' पद का प्रयोग किया है? यदि हाँ,

तो इसे इसलिए उचित नहीं कहा जा सकता कि भ्रमज्ञान 'अततो ज्ञान' नहीं अपितु 'अतस्मिंस्तत्' ज्ञान होता है इसलिए 'ततः' पद की भी सार्थकता न बतला पा सकने के कारण वसुबन्धु का उक्त प्रत्यक्षलक्षण असंगत ही रह जाता है। लक्षणगत तृतीय एवं अन्तिम पद 'ज्ञान' द्वारा भी प्रत्यक्ष का लक्षण सम्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि संशय एवं भ्रम आदि भी ज्ञान के अन्तर्गत आने के कारण प्रमाण होने लगेंगे।

दिङ्नाग के प्रत्यक्षलक्षण की आलोचना—वार्तिक में प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के प्रत्यक्षलक्षण की आलोचना पाई जाती है। प्रकृत प्रत्यक्ष लक्षण 'प्रमाणसमुच्चय' के प्रथम अध्याय में मिलता है[१]। दिङ्नाग के अनुसार प्रत्यक्ष का लक्षण 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' है[२], अर्थात् 'कल्पना से रहित ज्ञान प्रत्यक्ष होता है'। वाचस्पति मिश्र ने कल्पना के नाम, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य ये पाँच प्रभेद माने हैं[३]। इन पाँचों से रहित अर्थात् इन पाँचों में से किसी एक को भी विषय न करने वाला ज्ञान दिङ्नाग के मत में प्रत्यक्ष होता है।

इस प्रत्यक्ष के लक्षण की आलोचना में वार्तिककार ने यह प्रश्न उठाया है कि बौद्ध वस्तुतः 'प्रत्यक्ष' शब्द से क्या अर्थ व्यक्त करना चाहते है? यदि वे 'प्रत्यक्ष' शब्द से प्रत्यक्ष (ज्ञान) अर्थ लेना चाहते हैं तो नाम द्वारा प्रत्यक्ष का अभिधान हो जाने से उन्हीं के कथन का खण्डन होता है क्योंकि उनके मतानुसार नाम द्वारा प्रत्यक्ष का अभिधान नहीं होता। किन्तु यदि 'प्रत्यक्ष' शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष न हो तो फिर उनके लक्षण में लक्ष्यभूत 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग निरर्थक होगा। यही स्थिति 'कल्पनापोढ' शब्द के सम्बन्ध में भी है। पुनश्च बौद्धग्रन्थों में प्रत्यक्ष को 'अनित्य', 'दुःख', 'शून्य' एवं 'अनात्मक' कहा गया है। इन शब्दों से प्रत्यक्ष का अभिधान मानने पर प्रत्यक्ष को अवाच्य नहीं कहा जा सकता, अन्यथा 'सर्वं संस्कृतमनित्यम्' आदि बुद्धवचन भी अप्रामाणिक हो जायेंगे।

---

१. Vidyahhusana : A History of Indian Logic, p. 277.
एवं–'सम्प्रति दिग्नागस्य लक्षणमुपन्यस्यति'
(तात्पर्यटीका-१।१।४, पृष्ठ १५२)

२. न्यायवार्तिक–१।१।४ पृष्ठ ४१

३. तात्पर्यटीका–१।१।४ पृष्ठ १५३-५४

यदि 'कल्पनापोढ' का अर्थ 'स्वरूप का वर्णन न हो सकना' लिया जाये तो भी समस्या हल नहीं होती क्योंकि वस्तु के स्वरूप का कोई भी व्यक्ति निर्वचन नहीं कर सकता। कारण, वस्तु के विशेष का निर्वचन नहीं हो सकता, केवल सामान्य गुणों का ही प्रख्यापन किया जाता है। इस प्रकार परीक्षा करने पर बौद्धों का प्रकृत प्रत्यक्ष-लक्षण भी दोषरहित नहीं सिद्ध होता।

जैमिनि के प्रत्यक्ष लक्षण की आलोचना—जैमिनि के अनुसार प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार है—'सत्सम्प्रयोगे पुरुषेन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्'[1]। वार्तिककार ने जैमिनि के उक्त प्रत्यक्षलक्षणसूत्र के 'सत्सम्प्रयोगे पुरुषेन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्' केवल इतने अंश को उद्धृत किया है[2]। इसका अर्थ है—'पुरुषों की इन्द्रियों का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है।' वार्तिककार ने प्रकृत प्रत्यक्षलक्षण को इसलिए दोषयुक्त माना है कि संशय आदि अयथार्थ ज्ञान भी उक्त प्रत्यक्षलक्षण के अन्तर्गत आ जाते हैं[3]।

प्रकृत स्थल पर प्रत्यक्ष का एक और लक्षण प्राप्त होता है, वह है—'प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षमनः-प्रकाशविशेषेषु सत्सु'। प्रकृत लक्षण का मूल स्रोत अज्ञात है। तात्पर्यटीकाकार भी प्रकृत प्रत्यक्षलक्षण के स्थल में पूर्णतः मौन हैं। वार्तिककार प्रकृत प्रत्यक्षलक्षण को इसलिए दोषयुक्त मानते हैं कि इससे अयथार्थ ज्ञान भी गृहीत हो जाते हैं।

वार्षगण्य के प्रत्यक्षलक्षण की आलोचना—सांख्याचार्य वार्षगण्य ने श्रोत्र आदि इन्द्रियों की वृत्ति को प्रत्यक्ष माना है। संशय आदि ज्ञानों में अतिव्याप्ति होने के कारण तात्पर्यटीकाकार उसे दोष पूर्ण मानते हैं।[4]

योगज प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष प्रमाण के विवेचन के अन्तर्गत भाष्यकार और वार्तिककार आदि ने भी योगज प्रत्यक्ष को छोड़ दिया है। यद्यपि भाष्यकार योगज ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं[5] तो भी उन्होंने उसे प्रत्यक्ष के प्रभेदरूप में मानने का उल्लेख नहीं किया है और न वार्तिककार ने ही उसके लिये किसी

---

१. मीमांसासूत्र—१।१।४
२. न्यायवार्तिक—१।१।४ पृष्ठ ४३
३. न्यायवार्तिक—१।१।४ पृष्ठ ४३
४. तात्पर्यटीका—१।१।४ पृष्ठ १५५
५. न्यायभाष्य—१।१।३

सन्निकर्ष का निर्देश किया है। इस प्रकार योगज प्रत्यक्ष को प्रमाण मानकर भी उसे प्रत्यक्ष के लक्षण के अन्तर्गत न लाने के कारण लक्षण में अव्याप्ति नामक दोष आ गया है।

प्रत्यक्ष में इन्द्रिय एवं सन्निकर्ष का उपयोग

इन्द्रियों के स्वरूप का विशिष्ट विवेचन नवें अध्याय में किया जायेगा। यहाँ प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रियों के उपयोग का विवेचन किया जा रहा है।

सन्निकर्षों की संख्या—प्रत्यक्षज्ञानस्थल में इन्द्रिय का ज्ञेय विषय के साथ सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध को सन्निकर्ष कहते हैं। सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय एवं विशेषणविशेष्यभाव। इन्हीं छः सन्निकर्षों को कालान्तर में लौकिक सन्निकर्ष कहा गया है। भाष्य में सन्निकर्षों के प्रभेदों का उल्लेख नहीं मिलता। सर्व प्रथम वार्तिककार ने ही उक्त छः सन्निकर्षों का विवेचन किया है[1]।

प्रथम पाँच सन्निकर्षों की कल्पना का मुख्य आधार प्रशस्तदेव का 'पदार्थ-धर्मसंग्रह' प्रतीत होता है। यद्यपि वहाँ सन्निकर्षरूप में किसी एक भी सन्निकर्ष का उल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि विषय एवं उसके आधार के सम्बन्ध का निरूपण करते समय 'श्रोत्रसमवेतस्य', 'प्रत्यक्ष-द्रव्य समवायात्', 'आत्ममनसोः संयोगात्', 'आधारसमवेतानाम्'[2] आदि प्रयुक्त पद वार्तिककार की प्रथम पाँच सन्निकर्षविषयक कल्पना का आधार हैं। विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष का विवेचन उद्योतकर की मौलिक कल्पना प्रतीत होती है। किसी रूप में भी इस सन्निकर्ष का उल्लेख वार्तिकपूर्व किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं मिलता। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि वार्तिककार ने सन्निकर्ष की संख्या के विषय में किसी भी मत का न तो उल्लेख ही किया है और न आलोचना ही, किन्तु तात्पर्यटीका में सन्निकर्ष संख्या-विषयक अन्य मतों की आलोचना पाई जाती है। इससे यही प्रतीत होता है कि सम्भवतः वार्तिकपूर्व कोई भी अन्य दार्शनिक सन्निकर्ष पर व्यवस्थित विचार प्रस्तुत न कर सका था।

लौकिक सन्निकर्ष—वार्तिक में उक्त छः सन्निकर्षों को 'लौकिक सन्निकर्ष' जैसी संज्ञा से अभिहित नहीं किया गया है क्योंकि वार्तिककाल में

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।४, पृष्ठ ३१

२. पदार्थधर्मसंग्रह—प्रत्यक्षप्रकरण

सम्भवतः अलौकिक सन्निकर्षों से लोग परिचित नहीं थे जिनसे पृथक् करने के हेतु उक्त छः सन्निकर्षों के लिये 'लौकिक सन्निकर्ष' जैसे नाम की आवश्यकता समझी जाती।

सन्निकर्षों का स्वरूप—वार्तिक में सन्निकर्षों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। चक्षु इन्द्रिय का रूपवान् पदार्थ जैसे घट के साथ 'संयोग' सन्निकर्ष होगा क्योंकि दो द्रव्यों का संयोग होना स्वाभाविक है। चक्षु भी भौतिक होने के कारण द्रव्य है और घट भी द्रव्य है अतएव वे दो एक दूसरे से संयुक्त हो जाते हैं। जब चक्षु का घटगत रूप के साथ सन्निकर्ष होता है तब 'संयोग' सन्निकर्ष नहीं माना जाता क्योंकि रूप द्रव्य नहीं है अपितु अद्रव्य—गुण है और जब तक इन्द्रिय और अर्थ द्रव्य नहीं होते संयोग सन्निकर्ष नहीं होता। रूप के प्रत्यक्ष में चूँकि चक्षु और घट के साथ 'संयोग' सन्निकर्ष होता है और उस चक्षुसंयुक्त घट में रूप समवाय सम्बन्ध से रहता है अतएव चक्षु के साथ घटगतरूप का 'संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष हुआ। यही स्थिति घटत्व जाति एवं घटगत क्रिया के सम्बन्ध में होती है। इसी प्रकार चक्षु का घटरूपत्व जाति के साथ 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष होगा क्योंकि चक्षु से घट संयुक्त होता है, घट में रूप समवाय सम्बन्ध से रहता है और उस रूप में रूपत्व जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है अर्थात् चक्षुःसंयुक्तघट में रूप समवेत रहता है और रूप में रूपत्वजाति समवेत रहती है। उक्त 'संयोग' 'संयुक्त-समवाय' और 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष श्रोत्र को छोड़कर अन्य सभी-इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होने में काम आते हैं।

श्रोत्र इन्द्रिय का शब्द के साथ समवेतत्व सन्निकर्ष होता है यह इसलिये कि कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाश ही श्रोत्र इन्द्रिय है और आकाश का ही गुण शब्द होता है अर्थात् जिस इन्द्रिय का विषय के साथ सन्निकर्ष हो रहा है उस इन्द्रिय में ही विषय समवाय सम्बन्ध से रहता है। अतः इन्द्रियभूत श्रोत्र का विषयभूत शब्द में समवेतत्व सम्बन्ध होता है। इसका अभिप्राय यह समझना चाहिये कि समवेतत्व का अर्थ होता है समवायसम्बन्धावच्छिन्न-आधेयता। शब्द होता है समवायसम्बन्ध से आकाश में आधेय और आकाश होता है उसका आधार। अतः श्रोत्रात्मक आकाश में समवाय सम्बन्ध से आधेय होने के कारण शब्द में श्रोत्रनिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्न आधेयता आती है। वही आधेयता शब्द के साथ श्रोत का सम्बन्ध बन जाती है। अतः उसे शब्द के प्रत्यक्ष के लिये सन्निकर्ष कहना स्वाभाविक है। इस प्रकार श्रोत्र इन्द्रिय का अपने में ही समवेत गुण के साथ समवाय सन्निकर्ष होता है यह

जहाँ-जहाँ कहा गया हो वहाँ-वहाँ समवाय का अर्थ उक्त प्रकार से 'समवेतत्व' समझना चाहिये। शब्दगत सामान्य-शब्दत्व के साथ श्रोत्र इन्द्रिय का समवेत-समवाय अर्थात् समवेतसमवेतत्व सन्निकर्ष होता है।

प्रत्यक्षस्थल में किसी भी इन्द्रिय का समवाय और अभाव के साथ होने वाले सन्निकर्ष को विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष कहा जाता है, वार्तिक में इस सन्निकर्ष के विषय में इससे अधिक कुछ नहीं कहा गया है[1]। तात्पर्यटीका में विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष द्वारा समवाय के प्रत्यक्ष पर प्रकाश डाला गया है[2]। समवाय के प्रत्यक्ष में विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष मानने का कारण यह है कि इन्द्रिय का समवाय से संयोग सन्निकर्ष नहीं हो सकता क्योंकि समवाय अद्रव्य है और इसलिये विशेषणविशेष्यभाव के अतिरिक्त संयोगसन्निकर्षपूर्वक जितने भी सन्निकर्ष होते हैं उनसे समवाय का ग्रहण नहीं हो सकता। समवाय का ग्रहण समवाय सन्निकर्ष से नहीं हो सकता क्योंकि समवाय किसी इन्द्रिय में समवेत नहीं हो सकता क्योंकि समवाय का समवाय अमान्य है, अतएव अवशिष्ट सन्निकर्ष—विशेषणविशेष्यभाव द्वारा समवाय का ग्रहण माना गया है।

सन्निकर्षविषयक मीमांसक मत की आलोचना—तात्पर्यटीकाकार ने मीमांसा के संयोग, संयुक्तसमवाय और समवाय इन तीन प्रकार के ही सन्निकर्षों के मानने की आलोचना की है[3]। उनकी युक्ति है कि न्याय सामान्य के प्रत्यक्ष के लिये 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष मानता है किन्तु मीमांसक को तो जात्यात्मक सामान्य ही नहीं तदतिरिक्त रूप में मान्य सादृश्य पदार्थ के प्रत्यक्ष के लिये भी 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष को मानना होगा।

अभिप्राय यह है कि मीमांसक सामान्य की भाँति स्वमान्य सादृश्य के प्रत्यक्ष के लिये अपेक्षित 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष का अपलाप नहीं कर सकते। रूपों और कर्मों के अनेक प्रभेदों का परस्पर सादृश्य बिना 'संयुक्तसमवेत-समवाय' सन्निकर्ष माने प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि उक्त सादृश्य का प्रत्यक्ष 'संयुक्तसमवाय' अथवा 'संयोग' सन्निकर्ष से नहीं हो सकता। यह इसलिये कि जहाँ सादृश्य रूप में रहता है और रूप का ही प्रत्यक्ष 'संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष होता है और उसमें रहनेवाले सादृश्य का प्रत्यक्ष 'संयोग' सन्निकर्ष से तो

१. न्यायवार्तिक–१।१।४ पृष्ठ ३१
२. तात्पर्यटीका–१।१।४ पृष्ठ १११
३. तात्पर्यटीका–१।१।४ पृष्ठ १०९–११०

क्या 'संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष से भी नहीं हो सकता। सादृश्य चूँकि इन्द्रिय में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता अतएव शब्द की भाँति उक्त प्रकार से 'समवाय' सन्निकर्ष से भी इसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अन्ततोगत्वा सादृश्य का प्रत्यक्ष 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष से मानना होगा। प्रकृतस्थल में उक्त सन्निकर्ष से ही नैयायिक रूपत्व आदि जात्यात्मक सामान्य का प्रत्यक्ष मानते हैं।

सन्निकर्षविषयक बौद्धमत की आलोचना

दिङ्नागादि बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि श्रोत्र और चक्षु ये दो इन्द्रियाँ विषय के साथ सन्निकृष्ट होकर अर्थात् विषय का स्पर्श करके तत्तत् विषयों का ग्रहण नहीं करातीं अपितु बिना विषयों का स्पर्श किये दूर से ही उनका ग्रहण कराती हैं[1]। वार्तिक में चक्षु इन्द्रिय के प्राप्यकारित्व विषय को प्राप्त करके (स्पर्श करके) ज्ञान कराने–पर विचार किया गया है[2]। न्याय चक्षु को प्राप्यकारी मानता है। चक्षु को अप्राप्यकारी मानने वाले बौद्धों की निम्नलिखित युक्तियाँ और उनकी आलोचना वार्तिक में इस प्रकार पाई जाती हैः—

१—सान्तरग्रहण—चक्षु और उसके विषय का एक दूसरे से सन्निकर्ष नहीं होता अर्थात् वे एक दूसरे से संयुक्त नहीं होते क्योंकि हम स्पष्टतः देखते हैं कि चक्षु और विषय के बीच 'अन्तर' रहते ही विषय का 'ग्रहण' होता है। वस्तुतः केवल भौतिक चक्षु–जिसे हम कृष्णसार या काली पुतली कहते हैं–विषय के ग्रहण होने में कारण नहीं होता किन्तु दीप चन्द्र सूर्य आदि का बाह्य भौतिक प्रकाश, देखने की इच्छा एवं विषयग्रहणरूप फल के अनुकूल अदृष्ट ये सब मिलितरूप में ही विषय के ग्राहक होते हैं अतएव मिलित का ही नाम चक्षु समझना चाहिये। सारांश यह है कि कृष्णसार गोलक को उक्त बाह्य प्रकाश आदि का साहाय्यमात्र किसी भी दृश्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिये अपेक्षित होता है किन्तु विषय के साथ 'संयोग' आदि किसी प्रकार का सन्निकर्ष अपेक्षित नहीं होता।

आलोचना—यह मानना अनुपयुक्त है कि चक्षु और उसके विषय का सन्निकर्ष नहीं होता। स्थिति यह होती है कि चाक्षुष रश्मियाँ विषय तक

---

१. यथोक्तं दिग्नागेनः—

'सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानेऽधिकस्य च'

(तात्पर्यटीका—१।१।४ पृष्ठ ११८)

२. न्यायवार्तिक—१।१।४ पृष्ठ ३३–३६

जाकर उससे सन्निकृष्ट होती है। विषय और कृष्णसार के बीच अन्तर का कारण शरीर और विषय की दूरी है। जब शरीर और इन्द्रिय दोनों का सन्निकर्ष विषय से होता है तब शरीर और विषय के बीच दूरी न होने के कारण तथाकथित 'अन्तर' शब्द का प्रयोग नहीं होता[1]। जैसे स्पर्श के प्रत्यक्ष में शरीर और त्वक् इन्द्रिय दोनों का विषय के साथ सन्निकर्ष होता है, अतएव इस स्थल में 'अन्तर' शब्द का व्यवहार नहीं है[2]। किन्तु चाक्षुष प्रत्यक्ष स्थल में शरीर का विषय के साथ सन्निकर्ष नहीं होता अपितु चाक्षुषरश्मिसमूह-रूप इन्द्रिय का विषय के साथ अवश्य सन्निकर्ष होता है। चाक्षुषरश्मियाँ चक्षु ही होती है, उन्हें चक्षु न समझना उचित नहीं। इसलिये चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी नहीं है।

२. पृथुतरग्रहण—कृष्णसार-रूप चक्षु छोटा होता है और नगर एवं वन अपेक्षाकृत पृथु-बड़े होते हैं। यदि वस्तुतः चक्षु का नगर एवं वन जैसे विषयों से सन्निकर्ष होता तो सन्निकृष्ट पदार्थों के केवल उतने ही अंश का प्रत्यक्ष हो पाता जितने से चक्षु का सन्निकर्ष हुआ रहता अर्थात् उस स्थिति में चक्षु से स्वपरिमाण वाले विषय का ही प्रत्यक्ष हो पाता क्योंकि लघुपरिमाण चक्षु पृथुपरिमाण नगर या वन के सम्पूर्ण भाग से सन्निकृष्ट नहीं हो सकता, फिर असन्निकृष्ट अंश का प्रत्यक्ष किसी प्रकार सम्भव न हो पाता। किन्तु उस छोटे से चक्षु से बड़े आकार वाले नगर एवं वनों का प्रत्यक्ष होता है उससे यही सिद्ध होता है चक्षु विषय से सन्निकृष्ट-संयुक्त होकर उसका प्रत्यक्ष नहीं कराता। तात्पर्यटीका में उद्धरण देकर गोलकमात्र को चक्षु माननेवाले बौद्धमत को उपन्यस्त किया गया है[3]।

आलोचना—चक्षु द्वारा अपने से बड़ी वस्तुओं का ग्रहण होने से भी चक्षु को अप्राप्यकारी नहीं माना जा सकता। यह बात सत्य है कि शरीर में चक्षु इन्द्रिय का स्थान कृष्णसार है किन्तु विषय का प्रत्यक्ष करते समय चक्षु-

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।४ पृष्ठ ३५

२. '......तस्य स्पर्शादौ न सान्तरत्वाभिमान इत्यर्थः'

(तात्पर्यटीका—१।१।४, पृष्ठ ११९)

३. 'अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षं', 'तच्चिकित्सादियोगतः'
'सत्यपि च बहिर्भावे च शक्तिर्विषयेक्षणे
यदि च स्यात्तदा पश्येदप्युन्मील्य निमीलनाद्'

(तात्पर्यटीका—१।१।४, पृष्ठ ११८)

स्थान से चक्षुरूप तैजसरश्मियाँ निकल कर दूर विषय देश तक जाती हैं; दूरी के साथ-साथ उनका विस्तार भी बढ़ता जाता है; विस्तार के बढ़ जाने से उनका सन्निकर्ष नगर या वन जैसे बड़े पदार्थ के साथ हो जाता है, इसीलिये बड़े-बड़े पदार्थों का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। चक्षु की रश्मियों की तुलना दीपक की रश्मियों से की जा सकती है। जैसे दीपशिखा छोटी होती है किन्तु उससे निकलने वाली रश्मियाँ फैल कर विस्तीर्ण हो जाती हैं और सम्पूर्ण प्रकार से सन्निकृष्ट होकर उसको प्रकाशित कर देती हैं। इसलिये दीपक की रश्मियों की भाँति चक्षु से भी छोटे और बड़े किसी भी विषय का प्रत्यक्ष हो जाता है। यह कोई नियम नहीं है कि इन्द्रिय के परिमाण वाले विषय का ही इन्द्रिय से ग्रहण हो और इन्द्रिय के परिमाण से कम या अधिक परिमाणवाले विषय का ग्रहण न हो। विषय का ग्रहण होना इन्द्रिय के परिमाण पर निर्भर नहीं करता अपितु विषय के उस परिमाण पर निर्भर रहता है जो इन्द्रिय अथवा इन्द्रिय के अवयव से सम्बद्ध रहता है। तात्पर्यटीकाकार ने इस सम्बन्ध को निम्नलिखित रूप से चार प्रकार का बतलाया है[1] :—

(क) इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध।
(ख) इन्द्रिय के अवयवों से अर्थ का सम्बन्ध।
(ग) अर्थ के अवयवों से इन्द्रिय का सम्बन्ध।
(घ) इन्द्रिय के अवयवों से अर्थ के अवयवों का सम्बन्ध।

इस विवेचन से भी सिद्ध होता है कि चक्षु प्राप्यकारी है।

३. दिग्देशव्यवहार—चक्षु अपने विषय तक जाकर उससे सन्निकृष्ट नहीं होता। इस मान्यता की पुष्टि में यह युक्ति उपस्थित की जाती है कि सन्निकृष्ट पदार्थों के सम्बन्ध में 'उत्तर' 'पूर्व' आदि दिग्वाची शब्दों का एवं 'वहाँ' 'दूर' आदि देशवाची शब्दों का व्यवहार नहीं होता है क्योंकि वहाँ शरीर इन्द्रिय एवं विषय एक स्थान में स्थित होते हैं। इस प्रकार इन्द्रिय एवं विषय समानबिंदुस्थ होने के कारण सामान्यतया एक दूसरे से उत्तर पूर्व आदि दिशाओं में नहीं माने जाते हैं। उदाहरण के लिये घ्राण इन्द्रिय से गन्ध ग्रहण करते समय हम यह नहीं कहते कि 'जिस' गन्ध का हम ग्रहण कर रहे हैं वह हमारे पूर्व या उत्तर में है। इसका कारण यही है कि गन्ध घ्राणेन्द्रिय के पास जाकर उससे सन्निकृष्ट होती है, किन्तु चाक्षुष प्रत्यक्ष स्थल में परिस्थिति इसके प्रतिकूल होती है। हम सदैव वाक्य प्रयोग करते हैं कि अमुक वस्तु हमारे

1. तात्पर्यटीका—१।१।४ पृष्ठ ११९

उत्तर या पश्चिम में है, इस प्रकार दिशाओं का व्यपदेश अर्थात् व्यवहार चाक्षुष प्रत्यक्ष-स्थल में होता है, इसी प्रकार 'वहाँ' 'दूर' आदि देशवाची शब्द प्रयोग के विषय में भी समझना चाहिये। अतः चक्षु अप्राप्यकारी होता है।

आलोचना—विषय के सम्बन्ध में दिशाओं का व्यवहार होने पर भी चक्षु को अप्राप्यकारी नहीं मानना चाहिये। सच तो यह है कि सभी इन्द्रियों का विषय से सन्निकर्ष होता है किन्तु जो विषय इन्द्रियों के साथ-साथ शरीर से भी सन्निकृष्ट होते हैं उनके लिये दिशाओं का प्रयोग नहीं होता क्योंकि वे विषय शरीर से अछूते नहीं रहते, परन्तु चक्षु ऐसी इन्द्रिय है जिसका विषय के साथ सन्निकर्ष शरीर के बाहर भी होता है, अतएव विषय के शरीर से पृथक् होने से उसके लिये 'समीप' 'दूर' आदि दैशिक परत्वापरत्व सूचक शब्द एवं 'उत्तर' 'पूर्व' आदि दिग्वाची शब्द प्रयुक्त होते हैं।

४. तुल्यकाल ग्रहण—चक्षु के द्वारा निकटवर्ती वस्तु जैसे वृक्ष की शाखा एवं दूरवर्ती वस्तु जैसे चन्द्रमा का प्रत्यक्ष एक ही काल में होता है। यदि गमनशील चाक्षुष रश्मियों का अस्तित्व होता तो निकटवर्ती वस्तु के साथ चाक्षुष-रश्मियों का शीघ्र सन्निकर्ष होकर वस्तु का शीघ्र प्रत्यक्ष होता और दूरवर्ती वस्तु का देर से सन्निकर्ष होकर देर से प्रत्यक्ष होता; क्योंकि चाक्षुष रश्मियाँ विषय तक जाकर ही उससे सन्निकृष्ट हो सकती हैं और जाने के लिये समय की अपेक्षा होती है, अतएव निकटवर्ती वस्तु तक जाने के लिये अल्प समय अपेक्षित है और दूरवर्ती वस्तु तक जाने के लिये अधिक। शाखा और चन्द्रमा की दूरी में महान् अन्तर है, किन्तु फिर भी दोनों एक ही साथ देखे जाते हैं, अतएव यही सिद्ध होता है कि न तो चाक्षुषरश्मियों का ही अस्तित्व है और न ही चक्षु का विषय के साथ किसी प्रकार का सन्निकर्ष होता है जिससे चक्षु को प्राप्यकारी माना जाये।

आलोचना—शाखा और चन्द्रमा के प्रत्यक्ष को समकालिक बताकर भी चक्षु इन्द्रिय को अप्राप्यकारी नहीं सिद्ध किया जा सकता। वस्तुतः शाखा और चन्द्रमा का प्रत्यक्ष एक ही काल में नहीं अपितु भिन्न-भिन्न कालों में होता है। काल की विभिन्नता का अनुभव इसलिये नहीं हो पाता कि चक्षु की रश्मियाँ अत्यधिक तीव्रगामी होने के कारण अत्यन्त दूर वस्तु के भी समीप तुरन्त ही पहुँच जाती हैं। जिस प्रकार कमल के सौ पत्तों को नीचे-ऊपर रखकर एक नोकदार कील से छेद दिया जाये तो यही प्रतीत होगा कि सभी पत्तों में एक साथ ही छेद हो गया किन्तु ऐसा नहीं होता। एक-एक पत्ते में छेद क्रमशः भिन्न-भिन्न समय में होता है। इसी प्रकार समीप की वस्तुओं का चक्षु से पहिले

और दूर की वस्तुओं का बाद में सन्निकर्ष होने पर भी अतिशीघ्रता के कारण दोनों वस्तुओं के प्रत्यक्ष होने में समान काल का आभास होता है। पूर्वपक्षी का यह भी प्रश्न हो सकता है कि यह कैसे मालूम हुआ कि शाखा और चन्द्रमा के समकालिक ज्ञान में सन्निकर्ष की शीघ्रता ही कारण है ? यह भी हो सकता है कि एक काल में दोनों वस्तुओं का ज्ञान होता हो और इसलिये वे दोनों एक काल में ज्ञात होती हुई प्रतीत होती हों। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि चक्षु की रश्मियाँ गतिशील होती हैं और गति के लिये समय की अपेक्षा होती है। रश्मियों के गमनशील होने में यह प्रमाण है कि दीवार और पर्दे आदि किसी व्यवधान के पड़ जाने पर चक्षु की रश्मियाँ उसी प्रकार रुक जाती हैं जैसे प्रकाश की रश्मियाँ। यदि चक्षु अप्राप्यकारी होता तो व्यवधान पड़ जाने पर भी चक्षु के द्वारा ज्ञान हो पाता किन्तु ज्ञान नहीं होता। उक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि चक्षु प्राप्यकारी है।

इस प्रकार इन्द्रियों के अपने-अपने अर्थ से सन्निकृष्ट होने पर आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रत्यक्ष में मन का उपयोग

प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्तिस्थल में मन, आत्मा और इन्द्रिय दोनों से संयुक्त रहता है। आत्मा और मन एवं इन्द्रिय और अर्थ के संयुक्त होने पर भी जब तक मन का इन्द्रिय से संयोग नहीं होता तब तक रूप आदि विषयों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यदि इन्द्रियों के साथ मन के बिना संयुक्त हुए ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति मानी जायेगी तो यथासंभव रूप आदि सभी विषयों का प्रत्यक्ष एक ही साथ होने लगेगा। कारण, सभी इन्द्रियों का एक ही साथ अपने-अपने विषयों से संयोग हो सकता है और आत्मा व्यापक होने से इन्द्रिय एवं अर्थ से संयुक्त होता है। किन्तु चूँकि सभी विषयों का ज्ञान एक ही साथ नहीं होता इसलिए मन के अस्तित्व के साथ ही साथ यह भी सिद्ध हो जाता है कि वह एक काल में एक ही इन्द्रिय से संयुक्त होता है। इसीलिए एक काल में एक ही विषय का प्रत्यक्ष होता है। यही कारण है कि रूप आदि विषयों के प्रत्यक्षस्थल में मन को एक ओर आत्मा से और दूसरी ओर चक्षु आदि इन्द्रियों से संयुक्त माना जाता है[१]।

भाष्य में आत्मा और मन के सन्निकर्ष को सभी प्रकार के ज्ञानों की उत्पत्ति में साधारण कारण माना गया है, साथ ही मन और इन्द्रिय के सन्निकर्ष

---

१. न्यायभाष्य—१।१।४ ; न्यायवार्तिक—१।१।१६

को प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में असाधारण कारण मानने की आलोचना की गई है। रूप, रस आदि भेद से प्रत्यक्ष ज्ञान अनेक प्रकार के होते हैं। मन इन सब ज्ञानों का समान रूप से कारण होता है। अतएव प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में मन साधारण कारण ही होता है, असाधारण कारण नहीं होता[१]।

भाष्य और वार्तिक में मन के सन्निकर्ष से सुख आदि आन्तर विषयों के प्रत्यक्ष का उल्लेख मिलता है। भाष्यकार के विवरण से वार्तिककार का विवरण अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है[२]। सुख का प्रत्यक्ष होता है किन्तु वह बाह्य इन्द्रिय एवं सुख के सन्निकर्ष से नहीं उत्पन्न होता है फिर उसका प्रत्यक्ष कैसे माना जाये? सुख आदि आन्तरविषय अनुमेय भी नहीं माने जा सकते। कारण, अनुमेय विषय का ज्ञान लिङ्गसापेक्ष होता है। उक्त समस्या के समाधान में मन का आन्तरविषयों के साथ सन्निकर्ष माना गया है न कि बाह्य इन्द्रियों का। मन भी इन्द्रिय है जिसका सुख आदि अर्थ से सन्निकर्ष होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार सुख का प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय (मन) और अर्थ (सुख) के सन्निकर्ष से ही सिद्ध हुआ।

मन अत्यधिक शीघ्रगामी एवं अणुपरिमाणवाला द्रव्य है[३]। यह इन्द्रियों और सुख आदि विषयों से अतिशीघ्रता के साथ सन्निकृष्ट और वियुक्त होता है जिससे भिन्न-भिन्न विषयों के शीघ्र-शीघ्र ज्ञान होते हैं। वार्तिककार मन की गति को प्राणी के अदृष्ट द्वारा नियन्त्रित मानते हैं। धर्माधर्मरूप अदृष्ट ही मन को विभिन्न विषयों की ओर प्रवृत्त एवं उनसे निवृत्त करता है। यदि ऐसा न होता तो मन द्वारा यथेच्छ सभी विषयों का किसी भी काल में ज्ञान हो सकता होता[४]।

मन का इन्द्रियों के साथ दो प्रकार से सन्निकर्ष होता है। पहली स्थिति में जैसा कि पहिले बतलाया जा चुका है आत्मा मन को प्रेरित करके उसे इन्द्रिय से संयुक्त करता है अर्थात् किसी वस्तु विशेष के जानने की इच्छा से आत्मा मन को तत्संयुक्त विषय अथवा इन्द्रिय से हटाकर दूसरे विषय अथवा इन्द्रिय से संयुक्त करता है, इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक मनःसंयोग से लक्ष्यभूत

---

१. 'भिद्यमानस्य प्रत्यक्षज्ञानस्य नायं भिद्यत इति समानत्वान्नोक्त इति'
(न्यायभाष्य—१।१।४)

२. न्यायवार्तिक—१।१।४ पृष्ठ ३८

३. न्यायसूत्र—३।२।५९

४. न्यायवार्तिक—२।१।२९ पृष्ठ २०७

विषय का ज्ञान होता है। किन्तु मन का संयोग आत्मा की प्रेरणा के अतिरिक्त दूसरे प्रकार से भी होता है। सोता हुआ व्यक्ति यद्यपि अपनी इच्छा से मन को इन्द्रियों से संयुक्त नहीं करता तो भी तीव्र शब्द का स्पर्श हो जाने से मन, श्रोत्र एवं त्वक् इन्द्रिय से सन्निकृष्ट हो जाता है जिससे शब्द एवं स्पर्श का ज्ञान आत्मा में उत्पन्न होता है। इस प्रकार मन दो तरह से आत्मा इन्द्रिय अथवा विषय से सन्निकृष्ट होता है। इस विषय का उल्लेख सूत्रों में ही मिलना प्रारंभ हो जाता है।[1]

एक प्रश्न यह भी है कि आत्मा और मन के संयोग का प्रत्यक्ष हो सकता है या नहीं? वार्तिककार ने आत्मा एवं मन के संयोग को अतीन्द्रिय माना है क्योंकि आत्मा और मन के संयोग के आधार आत्मा और मन ही हैं जो अतीन्द्रिय हैं, अतएव आधेय-संयोग भी अतीन्द्रिय होता है। अथवा आत्मा का प्रत्यक्ष मन से होता है इसलिये उक्त संयोग को मन का विषय माना जा सकता है। यही स्थिति मन एवं इन्द्रिय के संयोग के प्रत्यक्ष के विषय में भी है[2]।

निर्विकल्पक तथा सविकल्प प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष के 'सविकल्पक' एवं 'निर्विकल्पक' नामक प्रभेदों के नामकरण का श्रेय किसे मिलना चाहिए? यह प्रश्न है। वार्तिक तक में प्रत्यक्ष के 'सविकल्पक' एवं 'निर्विकल्पक' संज्ञक प्रभेदों का उल्लेख नहीं है। यदि वार्तिकपूर्व किसी भी ग्रन्थ में प्रत्यक्ष के ये प्रभेद निरूपित होते तो उसका संकेत वार्तिककार अवश्य करते। यद्यपि वार्तिकपूर्व लिखित प्रशस्तपादभाष्य में आपतित 'स्वरूपालोचनमात्रम्', 'स्वरूपालोचनमात्रं प्रत्यक्षं प्रमाणम्' एवं 'आलोचनमात्रं प्रत्यक्षं 'प्रमाणम्' आदि पदों का अर्थ परवर्तीटीकाकार 'निर्विकल्पक' प्रत्यक्ष लेते हैं और सम्भवतः ऐसा हो भी, परन्तु यहाँ प्रत्यक्ष के उक्त दोनों प्रभेदों का स्पष्ट निरूपण नहीं हुआ है और न 'सविकल्पक' या 'निर्विकल्पक' संज्ञाओं का उल्लेख ही हुआ है[3]।

जिसको यह 'निर्विकल्प' कहते हैं, बौद्ध दार्शनिक काफी पहिले से ही उसी को प्रत्यक्ष मानते आये हैं। लगता है वसुबन्धु 'ततोऽर्थाद् विज्ञानं

१. न्यायसूत्रभाष्य—२।१।२७
२. न्यायवार्तिक—१।१।४ पृष्ठ ३२
३. पदार्थधर्मसंग्रह—प्रत्यक्षप्रकरण

प्रत्यक्षम्[१], के द्वारा ऐसा ही कुछ भाव व्यक्त करना चाहता है जिसका स्पष्ट निर्देश दिङ्नाग के प्रत्यक्षलक्षण—'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्[२]' में हुआ।

प्रशस्तपाद के 'आलोचनमात्र' पद से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विवेचन का कुछ आभास माना जाये अथवा न माना जाए[३], किन्तु वार्तिककार को ये दोनों प्रभेद उक्त संज्ञाओं द्वारा निर्दिष्ट न सही किसी रूप में अवश्य मान्य थे। वार्तिककार ने दिङ्नाग के प्रत्यक्षलक्षण की आलोचना करते समय स्पष्टरूप से द्विविध ज्ञान माना है और वह है—'सामान्यविशेषाकारवत्'। अर्थात् इनकी दृष्टि में प्रत्यक्षज्ञान के दो प्रभेद हुए–'सामान्याकारवत्' एवं 'विशेषाकारवत्[४]'। इससे यही सिद्ध होता है कि वार्तिककार भी उक्त दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष प्रभेद मानते थे किन्तु 'सविकल्पक' एवं 'निर्विकल्पक' नाम से स्पष्ट विवेचन न हो सकने के कारण यह तथ्य विद्वानों की दृष्टि में न आ सका। किन्तु इतना अवश्य निश्चित है कि वार्तिककार ने 'निर्विकल्पक' एवं 'सविकल्पक' पदों का प्रयोग नहीं किया।

तात्पर्यटीकाकार की धारणा है कि भाष्यकार एवं वार्तिककार ने प्रत्यक्ष-सूत्र की व्याख्या में विविध प्रत्यक्ष का जो निरूपण नहीं किया है उसका कारण यह नहीं कि उन्हें इन प्रभेदों का अथवा प्रभेदपरक सूत्रार्थ का ज्ञान नहीं था अपितु इसलिये कि यह तथ्य अतिसरल है, शिष्य उसे समझ ही लेंगे[५]। तात्पर्य-टीकाकर अपने गुरु 'त्रिलोचन' द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से प्रत्यक्षसूत्र[६] में प्रयुक्त 'व्यवसायात्मक' पद से 'सविकल्पक' अर्थ निकाल लेना उचित समझते हैं। इसी प्रकार 'अव्यपदेश्य' पद द्वारा 'निर्विकल्पक' (अविकल्पक) अर्थ भी निकालते

---

१. न्यायवार्तिक–१।१।४ पृष्ठ ४०

२. न्यायवर्तिक–१।१।४ पृष्ठ ४० तथा प्रमाणसमुच्चय, अध्याय १

३. सांख्यकारिका में भी 'आलोचनमात्र' पद का उल्लेख मिलता है—
'आलोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः'— (सांख्यकारिका, २८)

४. 'एवं ज्ञानमपि सामान्यविशेषाकारवद् तस्य विशेषाकारेण नाभिधानं सामान्याकारेण त्वभिधानमेव। यदि च विशेषाकारेणानभिधानं यत् तल्लक्षणं प्रत्यक्षस्य न केवलं प्रत्यक्षस्य त्रैलोक्यस्यैतल्लक्षणमिति'
(न्यायवार्तिक–१।१।४ पृष्ठ ४२)

५. तात्पर्यटीका–१।१।४, पृष्ठ १२२

६. न्यायसूत्र–१।१।४

हैं[१]। इसके पूर्व भाष्यकार[२] एवं वार्तिककार[३] 'व्यवसायात्मक' पद को संशय के निराकरण के लिये मानते थे क्योंकि संशय ज्ञान व्यवसायात्मक अर्थात् निश्चयात्मक नहीं होता है किन्तु तात्पर्यटीकाकार 'अव्यभिचारि' पद के द्वारा ही भ्रम के साथ ही साथ संशय का भी निराकरण उचित समझते हैं। संशय ज्ञान भी व्यभिचारी होता है। कारण, संशय काल में वस्तु का जैसा ज्ञान होता है वैसा संशयबाधकाल में नहीं। इसी प्रकार 'अव्यपदेश्य' पद से 'निर्विकल्पक' अर्थ लेना उचित समझा गया है।

किन्तु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि तात्पर्यटीकाकार स्वयं या अपने गुरु को प्रत्यक्ष के 'निर्विकल्पक' एवं 'सविकल्पक' संज्ञक प्रभेदों के नामकरण का उद्भावक नहीं मानते, अपितु उक्त प्रकार से अपने गुरु 'त्रिलोचन' को न्याय के प्रत्यक्षसूत्र की केवल नवीन व्याख्या—जिसके अनुसार सूत्र से प्रत्यक्ष के 'निर्विकल्पक' एवं 'सविकल्पक' दोनों प्रभेदों का अर्थ निकल सके—का उद्भावक माना है। वस्तुतः वार्तिककार से परवर्ती एवं तात्पर्यटीकाकार से पूर्ववर्ती मीमांसक कुमारिल को 'निर्विकल्पक' एवं 'सविकल्पक' प्रभेद ज्ञात थे। कुमारिल ने 'निर्विकल्पक' एवं 'सविकल्पक' पदों का भी प्रयोग किया है[४]।

---

१. 'तत्राविकल्पिकायाः पदमव्यपदेश्यमिति सविकल्पिकायाश्च व्यवसायात्मकमिति।'

(तात्पर्यटीका—१।१।४ पृष्ठ १२५)

२. 'दूराच्चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन्नावधारयति धूम इति वा रेणुरिति वा। तदेतदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमनवधारणज्ञानं प्रत्यक्षं प्रसज्यत इत्यत आह व्यवसायात्मकमिति।'

(न्यायभाष्य—१।१।४)

३. 'दुरात् चक्षुषाऽर्थं पश्यन्नावधारयतीति भाष्यम्—तद्व्युदासार्थमाह व्यवसायात्मकमिति'

(न्यायवार्तिक—१।१।४, पृष्ठ २७)

४. 'अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानं सदृशं शुद्धवस्तुजम्॥
न विशेषो न सामान्यं तदानीमनुभूयते।
तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवावसीयते॥'

(श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र श्लोक संख्या—११२–१३)

अतएव डॉ. रैंडिल का यह आक्षेप कि वाचस्पति मिश्र अपने गुरु त्रिलोचन को प्रत्यक्ष के 'निर्विकल्पक' एवं 'सविकल्पक' प्रभेदों के सिद्धान्त एवं संज्ञाओं का जन्मदाता मानते हैं और ऐसा मानकर जो वह वाचस्पति मिश्र की आलोचना करते हैं[1] समीचीन नहीं है। वाचस्पति मिश्र त्रिलोचन को न तो उक्त सिद्धान्त और नही उक्त दोनों संज्ञाओं का उद्‌भावक मानते हैं अपितु प्रत्यक्षलक्षणपरक न्यायसूत्र की नवीन व्याख्या का उद्‌भावक मानते हैं। यह तथ्य तात्पर्यटीका के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है[2]।

निर्विकल्पक ज्ञान में विषय के प्रभेद का भान नहीं होता, जैसे दूर से देखे जानेवाले पदार्थ के विषय में हम यही कह सकते हैं कि कुछ दिखाई पड़ता है यही 'किञ्चिद्रूप' ज्ञान निर्विकल्पक माना जाता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में विशेष का ज्ञान नहीं होता किन्तु सविकल्पक ज्ञान में विशेष भी गृहीत होता है। सविकल्पक का अर्थ ही यही होता है कि जिसमें 'विकल्प' या 'कल्पना हो। बौद्धों का प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्पक ही होता है। प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य दिङ्नाग प्रत्यक्ष को 'कल्पनापोढ' मानते हैं। उनकी दृष्टि में नाम जाति आदि कल्पनाओं से रहित वस्तु का प्रतिभास मात्र ही प्रत्यक्ष है।

---

१. 'The doctrine savikalpaka and nirvikalpaka (really traceable to Praśastrpāda) is attributed by Vācaspati Miśra to Trilocana..............The doctrine of nirvikalpaka and savikalpaka is really found fully developed, and the term already used (see śl. Vārt. pratyakṣasūtra, lines 86 and 89), in the ślokavartika of Kumarila, whose date is perhaps 700–750. So that Trilocana cannot be originator eithor of the doctrine or of the phraseaology.

(Randle : Indian Logic in the Early Schools, p. 106)

२. 'व्यवसायात्मक पदं साक्षात्सविकल्पकस्य वाचकं तथा हि व्यवसायो विनिश्चयो विकल्प इत्यनर्थान्तरं स एवात्मा रूपं यस्य तत्सविकल्पकं प्रत्यक्षम्। तदेतदतिस्फुटत्वाच् शिष्यैर्गम्यत एवेति भाष्यवार्तिककाराभ्यामव्याख्यातमपि अस्माभिः—

'त्रिलोचन गुरून्नीत मार्गानुगमनोन्मुखैः।
यथामानं यथावस्तु व्याख्यात मिदमीदृशम् ॥'

(तात्पर्यटीका—१।१।४, पृष्ठ १३३)

तात्पर्यटीकाकार ने सविकल्पक को प्रत्यक्ष प्रमाण न मानकर केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण की मान्यता देनेवाले बौद्धमत का खण्डन किया है। निर्विकल्पक के समान सविकल्पक प्रत्यक्ष भी प्रमाणिक सिद्ध होता है। नाम के स्मरण आदि से प्रत्यक्ष ज्ञान अप्रामाणिक नहीं होता। प्रत्यक्ष का विषय नाम आदि के सम्बन्ध से अपने स्वरूप को नहीं त्यागता अर्थात् रूप आदि गुणों को नहीं छोड़ता; वह ज्यों का त्यों बना रहता है। नाम के स्मरण से इन्द्रिय के व्यापार में भी रुकावट नहीं आती जिससे प्रत्यक्ष ज्ञान के उत्पन्न होने में बाधा पड़े[1]।

वैयाकरण प्रत्यक्ष के इन दो प्रभेदों में से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का अस्तित्व नहीं मानते। उनकी दृष्टि में कोई भी ज्ञान इन्द्रियमात्र से उत्पन्न नहीं माना जा सकता क्योंकि किसी भी ज्ञान के साथ ही साथ उस विषय का नाम भी विषय बनता है, अतएव प्रत्येक ज्ञान शब्दसंपृक्त कहा जा सकता है। वाचस्पति मिश्र ने वैयाकरणों के मत को स्पष्ट करने के लिये वाक्यपदीय का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है[2]:—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते॥'

तात्पर्यटीका में प्रत्येक प्रकार के ज्ञान को शाब्द मानने की आलोचना की गई है। रूप, गन्ध, शब्द आदि के प्रत्यक्ष ज्ञान अनुभव सिद्ध हैं किन्तु इन्हें शब्दब्रह्म नहीं माना जा सकता क्योंकि शब्दब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता है। दूसरे, इन्हें लौकिकशब्दरूप भी नहीं माना जा सकता क्योंकि शिशु एवं मूक जिन्हें शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता रूप, गन्ध आदि का प्रत्यक्ष करते हैं[3]।

अलौकिक प्रत्यय

वार्तिक एवं तात्पर्यटीका में अलौकिक प्रत्यक्ष के सामान्यलक्षणजन्य, ज्ञानलक्षणजन्य एवं योगज प्रभेदों में से प्रथम दो का उक्त नामों द्वारा किया गया उल्लेख नहीं प्राप्त होता क्योंकि इनका विवेचन नव्यन्याय से प्रारंभ होता है। किन्तु योगज प्रत्यक्ष की मान्यता अत्यधिक प्राचीन है। वैशेषिकसूत्रों में योगज

१. तात्पर्यटीका—१।१।४ पृष्ठ १३८
२. तात्पर्यटीका—१।१।४ पृष्ठ १२६
३. तात्पर्यटीका—१।१।४ पृष्ठ–१२७

प्रत्यक्ष का उल्लेख पाया जाता है[1]। प्रशस्तपादभाष्य में इससे भी अधिक विवेचन मिलता है[2]। न्यायभाष्य में युञ्जान योगी द्वारा आत्मा के प्रत्यक्ष होने का उल्लेख मिलता है[3]। किन्तु भाष्यकार ने प्रत्यक्ष प्रमाण का विचार करते समय योगज प्रत्यक्ष पर विचार नहीं किया है और न तो वार्तिककार ने ही उसे प्रत्यक्ष का प्रभेद माना है।

सूत्रकार का प्रत्यक्ष सर्वसाधारण के अनुभव में आनेवाला लौकिक पदार्थों का प्रत्यक्ष है। भाष्य एवं वार्तिक आदि परवर्ती ग्रन्थों में भी अनुभूयमान विषयों पर ही व्यवस्थित विचार मिलता है। वार्तिककार ने छः सन्निकर्षों की योजना तथा गुण, जाति आदि विषयों के विवेचन द्वारा अनुभव को ही तर्क का आधार बनाया है। योगज प्रत्यक्ष हम सबके अनुभव एवं व्यवहार से परे है, संभवतः इसीलिए प्राचीन न्याय में इसको प्रत्यक्ष के अन्तर्गत लाकर विवेचन नहीं किया गया है, और इसीलिए नव्य-न्याय में इसे अलौकिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत माना है।

अधिक संभव है कि परवर्ती ग्रन्थों में जिसे 'लौकिक' प्रत्यक्ष कहा गया है उसके (लौकिक) नामकरण की प्रेरणा प्रशस्तपाद के 'एतदस्मदादीनां प्रत्यक्षम्' और 'अलौकिक' के नामकरण का आधार 'अस्मद्विशिष्टानां तु योगिनाम्' ये शब्द हों[4]।

अभाव का प्रत्यक्ष

भाष्यकार ने अभाव को प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय माना है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि—'तदेवं सतः प्रकाशकं प्रमाणमसदपि प्रकाशयति'[5]। यहाँ 'असत्' शब्द का अर्थ अभाव ही है, शशविषाण आदि अलीक नहीं क्योंकि अलीक की प्रतीति ही नहीं होती है। अनुपलब्धि को न्यायमत में प्रमाण न मानकर प्रमाणभूत इन्द्रिय आदि का सहायक माना जाता है। यद्यपि अनुपलब्धि भी उपलब्धि का अभाव ही है परन्तु वह अनुपलभ्यमान वस्तु के अभाव का बोध कराने में प्रमाण (जैसे चक्षु आदि) का साहाय्य करती है।

१. वैशेषिकसूत्र—९।१।११–१२
२. प्रशस्तपादभाष्य—प्रत्यक्ष प्रकरण
३. न्यायभाष्य—१।१।३
४. प्रशस्तपादभाष्य—प्रत्यक्षप्रकरण
५. न्यायभाष्य—१।१।१ प्रस्तावना

प्रमाण के द्वारा सत् (भाव) पदार्थ का ज्ञान होता है। जो वस्तु नहीं है; उसका ज्ञान नहीं होता है—यदि वह वस्तु होती तो सत् पदार्थ की भाँति साक्षात् ज्ञान का विषय होती, ज्ञान का विषय नहीं होती है अतएव वह नहीं (असत्) है[1]। इस स्थल पर वार्तिककार के अनुसार असत् पदार्थ की उपलब्धि का कारण स्वतंत्र नहीं होता है, जब कि सत् पदार्थ की उपलब्धि का कारण स्वतंत्र होता है। असत् (अभाव) का ज्ञान निषेधमुखेन होता है[2]। प्रत्यक्ष के विवेचनस्थल में वार्तिककार ने अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से माना है यहाँ पर सन्निकर्ष विशेष्यविशेषणभाव माना गया है[3]।

अनुमान में प्रत्यक्ष के अन्तर्भाव की आलोचना

न्यायसूत्रों में प्रत्यक्ष ज्ञान को अनुमान में अन्तर्भूत मानने वाले बौद्ध पूर्वपक्ष का उल्लेख पाया जाता है[4]। किसी वस्तु के सामने का भाग दिखाई पड़ता है किन्तु दृष्ट भाग की ओट में होनेवाला भाग दिखाई नहीं पड़ता, फिर भी पूरी वस्तु का प्रत्यक्षज्ञान माना जाता है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान को पूर्वपक्षी अनुमान मानना चाहता है। भाष्यकार ने इस विषय को उदाहरण देकर समझाया है— जैसे धुंये को देखकर अग्नि का अनुमान होता है उसी तरह वस्तु के प्रत्यक्ष भाग को देखकर अप्रत्यक्ष भाग का अनुमान होता है। इसी प्रकार वृक्ष के सामने के भाग को देखकर पूरे वृक्ष का अनुमान होता है[5]। सारांश यह है कि बौद्ध नैयायिकसम्मत पूरे वृक्ष के प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष न मानकर अनुमान मानते हैं।

सिद्धान्ती उक्त सिद्धान्त को इसलिये नहीं स्वीकार करता कि वस्तु का जितना भाग देखा जाता है उतने का प्रत्यक्ष ज्ञान होता ही है फिर प्रत्यक्ष का अनुमान में कैसे अन्तर्भाव किया जाये? दूसरे, अवयवी वस्तु के अवयवों को देखने पर अवयवी का प्रत्यक्ष क्यों नहीं मान्य होगा? अवयव अवयवी से पृथक्

---

१. न्यायभाष्य—१।१।१ प्रस्तावना

२. न्यायवार्तिक—१।१।१ की भूमिका पृष्ठ ९—१०

३. न्यायवार्तिक—१।१।४ पृष्ठ ३१

४. न्यायसूत्र—२।१।३१

५. 'यदिदमिन्द्रियसन्निकर्षादुत्पद्यते ज्ञानं वृक्ष इति, एतत् किल प्रत्यक्षं तत्खल्वनुमानमेव,

(न्यायभाष्य—२।१।३१)

अर्थात् असंसक्त नहीं होता[१]। भाष्यकार की प्रत्यक्ष को अनुमान में अन्तभूत न मानने में मुख्य युक्तियाँ निम्नलिखित हैं[२]।

१—वस्तु को अवयवसमूह मानने पर उसके एक भाग के प्रत्यक्ष से सम्पूर्ण का अनुमान नहीं हो सकता क्योंकि जिस प्रकार प्रत्यक्षभाग वृक्ष न होकर अवयव होगा उसी प्रकार अनुमेय भाग भी वृक्ष न होकर अवयव होगा। इस प्रकार अवयव का ही अनुमान हो सकेगा, वृक्ष का अनुमान न होगा। प्रत्यक्ष एवं अनुमेय भाग को मिलाकर वृक्ष का ज्ञान भी अनुमान नहीं हो सकता।

२—वस्तु के दृष्ट एवं अदृष्ट भाग के सम्बन्ध का ज्ञान पहिले नहीं हुआ रहता है और बिना सम्बन्ध के ज्ञान हुए अनुमान नहीं हो सकता।

३—अनुमान लिङ्ग के प्रत्यक्ष से होता है। यदि प्रत्यक्ष का अनुमान में अन्तर्भाव हो जायेगा तो लिङ्ग का प्रत्यक्ष न हो सकेगा और लिङ्ग के प्रत्यक्ष न होने से लिङ्गी का अनुमान भी न हो सकेगा[३]।

४—वृक्ष को अवयवी मानने पर उसका प्रत्यक्ष हो सकता है। जितने अवयव दिखाई पड़ें उनके साथ अवयवी का प्रत्यक्ष होगा और जितने न दिखाई पड़े उनके साथ उनका प्रत्यक्ष नहीं होगा, किन्तु एक अवयवी न मानकर जड़ तना, शाखाओं और पत्तियों के समुदाय को वृक्ष मानकर वृक्ष का ज्ञान नहीं हो सकता क्यों कि समुदाय के सभी अवयवों का सम्पूर्ण भाग न तो दिखाई ही देगा और न उसका ज्ञान ही माना जा सकेगा, अवयवों के सभी संयोगों का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि जब तक सम्पूर्ण अवयव का प्रत्यक्ष न हो अवयवों के संयोगों का प्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा[४]? इस स्थिति में वृक्ष का न तो प्रत्यक्ष ही हो सकेगा और न अनुमान ही।

वार्तिक में भी प्रकृत विषय पर मौलिक विचार पाया जाता है। प्रत्यक्ष को अनुमान में अन्तर्भूत न मानने में वार्तिककार की मुख्य युक्तियाँ निम्न-लिखित हैं—

१—'अवयव' एवं 'भाग की मान्यता तभी प्रामाणिक हो सकती है जब 'अवयवी' या 'भागी' (भाग वाला एक पदार्थ) हो और अवयवी एवं भाग

१. न्यायसूत्र–२।१।३२–३३
२. न्यायभाष्य–२।१।३१
३. न्यायभाष्य–२।१।३२
४. न्यायभाष्य–२।१।३३

वाले एक पदार्थ को मान लेने पर अवयवसहचरित अवयवी अथवा भाग-सहचरित भागवाले पदार्थ का प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा[1]।

२—एक भाग को देखने पर वृक्ष का अनुमान नहीं हो सकता क्योंकि अनुमेय विषय का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता। दृष्ट एवं अदृष्ट भागों (अवयवों) को वृक्ष नहीं माना जाता है। उनके समूह में भी वृक्ष का ज्ञान यथार्थ नहीं माना जायेगा। इस प्रकार अवृक्षरूप भागसमूह में वृक्ष का ज्ञान भी भ्रम होगा, किन्तु प्रकृतस्थल में अनुमेयरूप से प्रतिवादी द्वारा स्वीकृत वृक्ष का ज्ञान भ्रम नहीं अपितु यथार्थ ज्ञान होता है।

३—दृष्ट भाग के प्रत्यक्ष से वस्तु का अनुमान नहीं हो सकता क्योंकि वह भाग भी उस वस्तु के एक भाग रूप में ही गृहीत होता हुआ मानना पड़ेगा और तभी उस भाग के द्वारा भागी के रूप में वृक्ष का अनुमान माना जायेगा। परन्तु जब तक वृक्ष का ज्ञान ही नहीं हुआ है तब तक हेतुभूत अर्वाग्भाग को वृक्ष का अर्वाग्भाग ही कैसे समझा जायेगा?

४—अदृष्ट भाग को पुरो दृष्टभाग का भाग मानकर भी अनुमान की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि ऐसी स्थिति में दृष्ट भाग को भाग न मानकर भागी मानना होगा और भागीभूत पुरोदृष्ट भाग के प्रत्यक्ष के साथ-साथ उस अदृष्टभाग का भी प्रत्यक्ष हो जायेगा[2]।

५—प्रत्येक अनुमानस्थल में परिस्थिति यह होती है कि किसी एक धर्मी के धर्म होनेवाली दो वस्तुओं में से एक से दूसरी का अनुमान हुआ करता हैं जैसे पर्वत के धर्मभूत अग्नि और धूम में से धूम से अग्नि का अनुमान होता है। प्रकृतस्थल में यह परिस्थिति नहीं है क्योंकि वृक्ष के पूर्व भाग और परभाग दोनों किसी एक धर्मी के धर्म नहीं हैं कि एक भाग से दूसरे भाग का उसी धर्मी में अनुमान किया जा सके।

---

१. न्यायवार्तिक—२।१।३० पृष्ठ २०८
२. न्यायवार्तिक—२।१।३० पृष्ठ २०९-१०



अध्याय ३

न्यायवार्तिक में प्रत्यक्ष के विषय-अवयवी एवं प्रत्यक्ष के अविषय परमाणु पर विचार

अवयवावयविविचार

न्यायदर्शन बौद्धों के परमाणुपुञ्जवाद एवं सांख्य के परिणामवाद का खण्डन करके अवयविवाद की स्थापना करता है एवं बौद्ध मत के विपरीत 'अवयवी' को प्रत्यक्ष का विषय मानता है[1]।

बौद्धों के अनुसार 'घट' कोई 'एक' वस्तु नहीं है अपितु बहुत से परमाणुओं का पुञ्जमात्र है। अतएव उस 'अनेक परमाणुओं के पुञ्ज' को 'एक' वस्तु मान लेना भ्रममात्र है। 'घट' को 'एक घट' कहना औपचारिक अथवा व्यावहारिक शब्द प्रयोगमात्र है न कि यथार्थतः 'घट' जैसी कोई एक वस्तु होती है। 'घट' तो परमाणुओं का समूहमात्र है।

सांख्य के अनुसार मिट्टी से अतिरिक्त 'घट' और कुछ नहीं है। मिट्टी परिणामी है और घट परिणाम। परिणाम—घट अभिव्यक्त होने के पूर्व अपने परिणामी मिट्टी में विद्यमान था। 'घट' की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। इस प्रकार सांख्य सत्कार्यवाद की स्थापना करता है जब कि न्यायदर्शन असत्कार्यवाद की।

न्याय के अनुसार कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है अर्थात् अभूतपूर्व नये कार्य की उत्पति होती है। मिट्टी से जो घड़ा उत्पन्न होता है वह न तो परमाणुपुञ्जात्मक होता है और न मिट्टी में पहिले से ही विद्यमान रहता है अपितु सर्वथा नवीन होता है। अभिप्राय यह है कि घट कारणात्मक न होकर कारण से उत्पन्न होनेवाला एक पृथक् नवीन पदार्थ होता है और वह परमाणु-पुञ्जात्मक भी नहीं होता है।

न्यायसूत्रों में ही अवयवी को लेकर पूर्वोतरपक्षों में संघर्ष मिलता है। व्याख्याओं में उत्तरोत्तर संघर्ष का तीव्रतर पल्लवन होता गया है। सूत्र एवं

---

१. देखिये अध्याय २ में 'अनुमान में प्रत्यक्ष के अन्तर्भाव की आलोचना' अंश।

भाष्य में मुख्यतः बौद्ध एवं न्याय का संघर्ष है जब कि वार्तिक में न्याय के प्रतिपक्षी के रूप में बौद्ध एवं सांख्य दोनों पाये जाते हैं।

अवयविवाद के सम्बन्ध में जो-जो मुख्य आक्षेप एवं नैयायिक कृत उनके उत्तर मिलते हैं वे इस प्रकार हैं :—

१—आपेक्ष—अवयवी संदेह का विषय है[1]। कारण, विभिन्न कारणों से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति होती है[2] अथवा नहीं यह विषय साध्य है अर्थात् अनिर्णीत है अतः उसे सिद्ध करना है। जब तक यह सिद्ध नहीं हो जाता कि विभिन्न कारणों से अवयवी जैसे अन्य द्रव्य की उत्पत्ति होती है तब तक यह संदेह ही बना रहता है कि अवयवी जैसा कोई पदार्थ भी होता है अथवा नहीं।

उत्तर—प्रकृतस्थल में अवयवी को साध्य मानना उचित नहीं है क्योंकि साध्य की सिद्धि के लिये 'लिङ्ग' का होना आवश्यक है। बौद्धमत में परमाणुपुञ्ज ही तत्त्व है, उसे अवयवी मान लेना भ्रम हैं। किन्तु प्रकृतस्थल में भ्रम नहीं माना जा सकता। कारण, दो समान धर्मों में से एक में दूसरे का आरोप ही तो भ्रम होता है[3]। जब बौद्ध अवयवी को मानता ही नहीं है तो उसकी किसी पदार्थ से समानधर्मिता होने का प्रश्न ही नहीं उठता। भ्रम तो तब माना जा सकेगा जब बौद्ध पृथक् अवयवी को मान लें। पृथक् अवयवी मान लेने पर अवयवी के विषय में किसी प्रकार के संदेह अथवा साध्यता का प्रश्न ही नहीं शेष रह जाता।

२—आपेक्ष—परमाणुपुञ्ज के अतिरिक्त अवयवी और कुछ नहीं है। अवयवों से पृथक् नये अवयवी की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। कारण, यदि अवयव और अवयवी एक ही नहीं हैं तो उन्हें पृथक् होना चाहिये था। किन्तु वे पृथक् नहीं हैं क्योंकि परस्पर पृथक् पदार्थों में से एक दूसरे का अवयव नहीं होता है। उदाहरण के लिये गाय और अश्व दो पृथक् पदार्थ हैं, इसीलिये गाय अश्व का अवयव नहीं है[4] और अश्व भी गाय का अवयव नहीं है। किन्तु तन्तु पट के अवयव माने जाते हैं। अतएव तन्तु और पट एक ही हैं। तन्तुपुञ्ज ही पट है न कि तन्तुओं से पृथक् पट जैसा नया पदार्थ उत्पन्न होता है।

१. न्यायवार्तिक—२।१।३ पृष्ठ २१७
२. न्यायभाष्य—२।१।३४
३. न्यायसूत्र—२।१।३३
४. न्यावार्तिक—२।१।३३, पृष्ठ २१७

उत्तर—अवयवी को अवयवों से अतिरिक्त न मानना उचित नहीं। कारण, 'अवयव' सापेक्ष है। इसे अवयवी की अपेक्षा रहती है। बिना अवयवी के सिद्ध हुए कोई पदार्थ किसका अवयव होगा? इस प्रकार अवयव को मान लेने पर अवयवी को भी मानना होगा।

यद्यपि गाय एवं अश्व पृथक् पदार्थ हैं और इसलिये गाय अश्व का अवयव नहीं है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी परस्पर पृथक् पदार्थों में अवयवावयविभाव नहीं होता है क्योंकि अवयव एवं अवयवी को परस्पर पृथक् न मानने पर उन्हें एक ही मानना होगा। ऐसी स्थिति में तन्तु एवं पट एक ही समझे जायेंगे और तन्तु को 'पट' कहना ही अधिक उचित समझा जायेगा। 'तन्तु पट का अवयव है' इस वाक्य के स्थान पर 'तन्तु तन्तु का अवयव है' इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग करना होगा। किन्तु कोई भी पदार्थ अपना अवयव नहीं होता[१]। यदि तन्तु एवं पट को समान मानकर 'तन्तु पट का अवयव है, इस वाक्य के स्थान पर 'पट पट का अवयव है' इस वाक्य का प्रयोग किया जाये तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि पट का अवयव तो तन्तु होता है पट नहीं अर्थात् 'अवयवत्व' धर्म तन्तु का है पट का नहीं। इस प्रकार अवयवी का प्रत्याख्यान करने पर उक्त प्रकार से अनेक समस्यायें खड़ी होती हैं जिनका समाधान अवयवी को अवयव से भिन्न मानकर ही हो सकता है। अतएव अवयवों से पृथक् अवयवी की सिद्धि होती है।

३—आक्षेप—पट तन्तुओं से पृथक् अन्य नवीन पदार्थ नहीं होता है अपितु विशेष प्रकार अर्थात् विभिन्न आकारयुक्त (संस्थान) रूप में स्थित तन्तुओं को ही पट कहा जाता है। इस प्रकार पट न कहे जाने वाले तन्तु भी संस्थानविशेष रूप में अवस्थित होने के कारण 'पट' की संज्ञा से अभिहित होते हैं।

उत्तर—बौद्ध संस्थानविशेष का क्या अर्थ लेंगे। संस्थान-विशेष का कुछ विशेष अर्थ होता है या नहीं? अर्थात् 'संस्थानविशेष' तन्तु से अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ है या नहीं। यदि नहीं है तो उसका उच्चारण ही व्यर्थ है और 'संस्थानविशेष' के अवस्थान के बल पर तन्तुओं को पट कहा जाना भी समुचित नहीं है। यदि 'संस्थानविशेष' कोई अतिरिक्त पदार्थ है तो वह क्या है? उसका स्वरूप क्या है? इस विषय का निर्देश होना चाहिये।

जिसे बौद्ध 'संस्थान विशेष' कहता है उसी को न्याय 'संयोग' कहता है। बौद्ध 'संयोग' को अतिरिक्त पदार्थ नहीं मानता फिर भी 'संस्थानविशेष' कहकर

१. न्यायवार्तिक—२।१।३३, पृष्ठ २१८

अपना अभिप्रेत सिद्ध करना चाहता है। 'संयोग' गुण है उसकी सिद्धि अनेकों प्रकार से होती है। परस्पर संयुक्त अवयवों से एक अवयवी की उत्पत्ति न्याय मानता है। अर्थात् अवयवी की उत्पत्ति में संयोग नामक गुण कारण है। वार्तिककार ने प्रकृतस्थल में अतिविस्तार से 'संयोग' नामक गुण की सिद्धि की है[1]।

४. आक्षेप—अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती, जैसे गाय, हाथी, अश्व में से किसी से भी पुरुष की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। अभिप्राय यह है कि कोई द्रव्य समान द्रव्य को ही उत्पन्न करता है। तन्तुओं से पट की उत्पत्ति होती है अतएव 'पट' 'तन्तुओं' से पृथक् पदार्थ नहीं है अपितु 'तन्तु-समूह' को ही पट कहा जाता है।

उत्तर—यह आवश्यक नहीं कि अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य की उत्पत्ति न हो। तुरी आदि से पट की उत्पत्ति देखी जाती है जब कि तुरी और पट भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। पुनश्च—जब तन्तु और पट एक ही हैं तब 'तन्तु' एवं 'पट' दोनों शब्द पर्यायवाची हो गये और 'तन्तु से पट की उत्पत्ति होती है' इस वाक्य में 'तन्तु' एवं 'पट' दोनों शब्दों का प्रयोग न करके एक ही शब्द का प्रयोग करना चाहिये। किन्तु बौद्ध भी ऐसा नहीं करते। अतएव तन्तु एवं पट दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं और तन्तुओं से पृथक् 'पट' संज्ञक अवयवी की उत्पत्ति होती है।

५. आक्षेप—यदि तन्तु पट से पृथक् पदार्थ होते तो अवश्य वे पट से अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ के अवयव होते। चक्र आदि पदार्थ पट से पृथक् पदार्थ हैं क्योंकि वे पट से अन्य पदार्थ—रथ के अवयव होते हैं। इस प्रकार पट एवं तन्तु एक ही सिद्ध होते हैं। अतः अवयवी अवयवों से पृथक् पदार्थ नहीं है[2]।

उत्तर—चक्र आदि को अवयव और रथ को अवयवी मानकर भी यदि बौद्ध तन्तुओं को अवयव और पट को अवयवी न मानें तो किसका दोष है? 'अवयव' और 'अवयवी' को स्वीकार करके भी पदार्थों में अवयवावयविभाव न स्वीकार करना बौद्धों का हठमात्र होगा।

अतएव बौद्धों के प्रकृत अहेतु द्वारा अवयविवाद का खण्डन नहीं हो सकता[3]।

---

१. न्यायवार्तिक—२।१।३३, पृष्ठ २१८–२६

२. न्यायवार्तिक—२।१।३३, पृष्ठ २२६–२७

३. न्यायवार्तिक—२।१।३३, पृष्ठ २२७

६. आक्षेप—जो पदार्थ जिस पदार्थ से भिन्न होते हैं वह उससे भिन्न देश (स्थान) में उत्पन्न होते हैं इस बात को बौद्ध और नैयायिक दोनों एक स्वर से मानेंगे। उदाहरण के लिए गाय अश्व से भिन्न होती है अतएव दोनों भिन्नदेशीय होते हैं, समान स्थानीय नहीं। किन्तु जिस स्थान में तन्तु विद्यमान रहते हैं उस स्थान से पृथक् स्थान में पट की उत्पत्ति नहीं होती है। फिर क्योंकर पट को तन्तुओं से पृथक् पदार्थ माना जाये ?

उत्तर—बौद्धों का उक्त हेतु अनैकान्तिक है अतएव मान्य नहीं हो सकता। पुनश्च यदि 'पट' को पृथक् अवयवी न माना जायेगा तो 'उत्पत्ति' का माना जाना भी असंभव हो जायेगा। कारण, 'तन्तुओं' से पट उत्पन्न होता है' इस वाक्य में प्रयुक्त 'पट' का अर्थ बौद्धमत में 'तन्तु' है। तब उक्त वाक्य का अर्थ—'तन्तुओं से तन्तु उत्पन्न होते हैं' होगा। किन्तु तन्तु तो पहिले ही विद्यमान थे। उनके उत्पन्न होने का प्रसङ्ग ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में न तो तन्तुओं की ही उत्पत्ति सिद्ध की जा सकती है और न पट की ही। अर्थात् ऐसी स्थिति में उत्पत्ति ही न बन सकेगी। अतएव उत्पत्ति को चरितार्थ करने के लिए तन्तुओं से पृथक् पट अवयवी को मानना ही उचित है।

७ आक्षेप—यदि दो पदार्थों में से एक के विद्यमान होने पर दूसरा पदार्थ अन्य पदार्थ को उत्पन्न करता है तब वे दो पदार्थ परस्पर पृथक् माने जाते हैं। उदाहरण के लिए चटाई और तन्तु दोनों पदार्थ इसलिए भिन्न माने जाते हैं कि चटाई के विद्यमान होने पर तन्तु एक अन्य पदार्थ—पट को उत्पन्न करते हैं। किन्तु पट के विद्यमान होने पर तन्तु अन्य किसी पदार्थ (निर्दिष्ट पट) को उत्पन्न नहीं कर सकते क्योंकि पदार्थ (पट) तो पहिले से विद्यमान ही है इसलिए तन्तु और पट पृथक्-पृथक् पदार्थ नहीं हैं[1]।

उत्तर—बौद्ध जब यह कहता है कि 'चटाई के विद्यमान होने पर तन्तु एक अन्य पदार्थ—पट को उत्पन्न करते हैं' तब उसी के कथन से पट 'एक अन्य पदार्थ' अर्थात् तन्तु से पृथक् पदार्थ सिद्ध हो जाता है, फिर वह हठवश 'पट' को तन्तुओं से पृथक् पदार्थ क्यों नहीं मानता, उसे मानना चाहिए।

८ आक्षेप—जो पदार्थ जिनसे भिन्न होते हैं उनमें से एक पदार्थ की इकाइयों में होने वाले संयोग या संयोगों को छोड़कर दूसरा पदार्थ रह सकता है। उदाहरण के लिए तन्तुओं से भिन्न चटाई होती है क्योंकि तन्तुओं के संयोग या संयोगों से अलग चटाई की अपनी स्वतन्त्र सत्ता रहती है। किन्तु

१. न्यायवार्तिक—२।१।२२ पृष्ठ २२८

पट को तन्तुओं से पृथक् पदार्थ कैसे माना जाये जो तन्तुसंयोग को छोड़कर अलग नहीं रह सकता है[1]।

उत्तर—तन्तु-संयोग से पट की उत्पत्ति मानकर तो बौद्ध एक तरह से 'संयोग' एवं उत्पन्न एक नवीन पदार्थ 'अवयवी' को भी मान लेता है।

९ आक्षेप—परस्पर भिन्न पदार्थों में एक के गुण से दूसरे के गुण की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। उदाहरण के लिए गाय के गुणों से अश्व के गुणों की उपत्ति नहीं होती। किन्तु तन्तुओं के गुणों से पट के गुणों (शौक्ल्य आदि) की उत्पत्ति होती है। फिर क्योंकर तन्तुओं से पृथक् 'पट' को माना जाये?

उत्तर—बौद्ध तन्तु के गुणों से पट के गुणों की उत्पत्ति मानता है किन्तु 'पट' को पृथक् पदार्थ नहीं मानता है। फिर क्या तन्तु के गुणों से तन्तु के गुणों की उत्पत्ति होती है? ऐसा मानना तर्कसङ्गत नहीं है। अतएव तन्तुओं से भिन्न पट पदार्थ उत्पन्न होता है। इस प्रकार अवयवी की सिद्धि होती है।

१०. आक्षेप—अवयवी अवयवों से पृथक् पदार्थ नहीं होता। कारण, यदि अवयवी को अवयवों से अतिरिक्त उत्पन्न नवीन पदार्थ माना जायेगा तो उसका प्रत्यक्ष न हो पायेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष होता ही है। प्रत्यक्ष इसलिए नहीं हो पायेगा कि प्रत्यक्ष माता और अप्रत्यक्ष-गर्भ के बीच होने वाला उन दोनों का संयोग प्रत्यक्ष होता हुआ नहीं देखा जाता। वह संयोग भी उसी प्रकार प्रत्यक्ष माता और अप्रत्यक्ष गर्भ दोनों में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है जिस प्रकार प्रत्यक्ष पुरोवर्ती घट-भाग और अप्रत्यक्ष उसके पश्चाद्वर्ती घटभाग इन दोनों अवयवों में घट समवाय सम्बन्ध से ही रहता है। अतः प्रत्यक्ष माता और अप्रत्यक्ष गर्भ में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले अप्रत्यक्ष संयोग के समान प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष-अवयवगत घट भी अप्रत्यक्ष होने लगेगा। इस प्रकार आपन्न अप्रत्यक्षता के भय से घट को अवयवों से भिन्न नहीं कहा जा सकता। घट की अनुभूयमान प्रत्यक्षता को देखते हुये यह मानना उचित प्रतीत होता है कि उसे प्रत्यक्षभूत पुरोवर्ती घटावयवरूप ही माना जाये[2]।

उत्तर—बौद्धस्वीकृत गर्भमातृसंयोग को दो प्रकार से ही अप्रत्यक्ष मान सकते हैं—(१) प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्षभूत अवयवों से आरम्भ (उत्पन्न)

१. न्यायवार्तिक—२।१।३३, पृष्ठ २२९
२. न्यायवार्तिक—२।१।३३ पृष्ठ २२९

होने के कारण और (२) प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्षभूत माता एवं गर्भ में विद्यमान होने के कारण।

प्रथम विकल्प को स्वीकार करने पर किसी भी पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा क्योंकि त्र्यणुक भी अप्रत्यक्षभूत द्व्यणुक से उत्पन्न होने के कारण अप्रत्यक्ष होने लगेगा जिसके फलस्वरूप चतुरणुक पञ्चाणुक इत्यादि सभी अप्रत्यक्ष होने लगेंगे क्योंकि सभी अवयव अप्रत्यक्ष ही माने जायेंगे। दूसरे विकल्प के अनुसार अवयव के प्रत्यक्ष न होने के कारण अवयवी का प्रत्यक्ष न मानना उचित नहीं। कारण, तत्र जिन अवयवों का प्रत्यक्ष होता है तत्सहचरित रूप में अवयव प्रत्यक्ष होने के कारण सम्पूर्ण अवयवी का प्रत्यक्ष मान लेना चाहिये। किसी भी पदार्थ के मध्य एवं परभाग का प्रत्यक्ष नहीं होता तो क्या किसी भी पदार्थ को प्रत्यक्ष न माना जायेगा। ऐसी स्थिति में सभी पदार्थ अप्रत्यक्ष समझे जाने लगेंगे। किन्तु ऐसा नहीं होता।

अन्यच्च, बौद्ध जितने अंशों का प्रत्यक्ष मानता है वह प्रत्यक्ष किसका है? वह प्रत्यक्ष परमाणुओं का हो नहीं सकता, क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय हैं। वह प्रत्यक्ष तो वस्तुतः अवयवी के प्रत्यक्षीक्रियमाण उन अवयवों का है जो स्वयं अवयवी भी हैं। परमाणुओं का इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता। हाँ, इन्द्रिय से परमाणु का सन्निकर्ष अवश्य माना जा सकता है किन्तु महत्त्व का अभाव होने के कारण इन्द्रिय-सन्निकृष्ट परमाणु का भी प्रत्यक्ष नहीं होता।

वार्तिककार ने वातायन के छिद्र में दिखाई पड़ने वाले त्रुटि को परमाणु मानने का खण्डन किया है। वाह्य इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होने के कारण त्रुटि भी घट की तरह भेद्य है। जो भेद्य है वह परमाणु नहीं है। परमाणु तो उसी को माना जा सकता है जिसका विभाजन आगे न हो सके अतएव जो बाह्य इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष का विषय न बन सके। वार्तिककार ने परमाणुओं को संहत (अकार्यकारणभूत अनेक संयुक्तों के अवस्थान) मानने का भी खण्डन किया है[1]।

११. आक्षेप—सांख्यदर्शन की युक्ति है कि अवयव एवं अवयवी यदि परस्पर भिन्न होते तो उनमें संयोग अथवा अप्राप्ति (विभाग) होती। उदाहरण के लिये गाय और घोड़ा दो अलग-अलग पदार्थ इसलिये माने जाते हैं कि गाय और घोड़े का संयोग संभव होता है और अप्राप्ति (अलग-अलग रहना) भी संभव होती है। किन्तु तन्तुओं का पट से न तो संयोग ही सिद्ध होता है और

१. न्यायवार्तिक—२।१।३३ पृष्ठ, २३२

न अप्राप्ति ही। इसलिये अवयव एवं अवयवी एक ही है, अवयवी अवयवों से अतिरिक्त पदार्थान्तर नहीं है[1]।

उत्तर—वार्तिककार ने सांख्य के उक्त आक्षेप की आलोचना युक्तियाँ देकर किया है। सांख्य दर्शन सत्त्व, रज एवं तम तीनों गुणों को परस्पर भिन्न मानता है किन्तु उनका परस्पर न तो संयोग ही होता है और न विभाग ही फिर सत्त्व, रज एवं तम को एक दूसरे से भिन्न क्यों मान लिया जाये और अवयवी को अवयवों से भिन्न न माना जाये। प्रधान प्रकृति एवं पुरुष का एक दूसरे से न तो संयोग ही होता है और न विभाग ही। फिर क्यों कर वे दोनों पृथक् पदार्थ माने जायें और अवययी अवयवों से पृथक् न माना जाये। इस प्रकार विचार करने पर सिद्ध होता है कि अवयवी अवयवों से पृथक् पदार्थ हैं।

१२. आक्षेप—अवयवी अवयवों से भिन्न पदार्थ नहीं होता। कारण, अवयवों के कार्य में अवयवों से भिन्न गुरुत्व नहीं प्राप्त होता[2]। उदाहरण इस प्रकार समझा जाता है—तन्तुओं में जितना गुरुत्व रहता है उतना ही पट में रहता है। यदि तन्तुओं से भिन्न पट होता तो पट में तन्तुओं से भिन्न गुरुत्व होता किन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव तन्तुओं से पट भिन्न नहीं है अर्थात् अवयवों से भिन्न अवयवी नामक पदार्थ नहीं माना जाना चाहिये।

उत्तर—गुरुत्व के प्रतिषेध से अवयवी का प्रतिषेध नहीं हो सकता। 'गुरुत्व'—रूप हेतु पक्ष से कथमपि सम्बद्ध नहीं है। जिस प्रकार उदक के प्रतिषेध से कमण्डलु अथवा कपालों का प्रतिषेध नहीं हो सकता इसी प्रकार गुरुत्व के प्रतिषेध से अवयवी का प्रतिषेध नहीं हो सकता। वार्तिककार ने प्रकृतस्थल पर गुरुत्व को लेकर अधिक विस्तार से विचार प्रस्तुत किये हैं[3]।

अवयवों से अतिरिक्त अवयवी की सत्ता न स्वीकार करने में किसी भी पदार्थ का ज्ञान होना असम्भव हो जायेगा[4]। अर्थात् बौद्ध यदि परमाणुपुञ्ज के अतिरिक्त अवयवी को नवीन उत्पन्न हुआ पदार्थ न मानेगा तो द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय में से किसी भी पदार्थ का ज्ञान न हो सकेगा[5]। कारण, परमाणु प्रत्यक्ष का विषय नहीं है अतएव परमाणुपुञ्ज भी दर्शन का विषय न हो सकेगा, किन्तु द्रव्यादि पदार्थों का प्रत्यक्षज्ञान होता

---

१. न्यायवार्तिक—२।१।३३ पृष्ठ, २३२

२. न्यायवार्तिक—२।१।३३, पृष्ठ २३३

३. न्यायवार्तिक—२।१।३५, पृष्ठ २३३–३९

४. न्यायसूत्र—२।१।३५ ५. न्यायभाष्य—२।१।३५

है जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए द्रव्य का ज्ञान 'घट' रूप में, गुण का ज्ञान 'श्याम' रूप में, क्रिया का ज्ञान 'चलता है' रूप में, सामान्य का ज्ञान 'है' रूप में विशेष का ज्ञान 'कलश' रूप में और समवाय का ज्ञान 'इस घड़े में रूप आदि हैं' इस रूप में होता है[1]। इससे यही सिद्ध होता है कि परमाणुपुञ्ज के अतिरिक्त अवयवी का अस्तित्व रहता है जिसके ज्ञान के सहारे द्रव्यादि सभी पदार्थों का ज्ञान होता है।

यदि अवयवी को परमाणुओं से पृथक् पदार्थ न माना जायेगा तो प्रत्यक्ष अनुमान आदि किसी प्रमाण से किसी भी पदार्थ का ज्ञान न हो सकेगा। कारण, परमाणु प्रत्यक्ष का विषय नहीं होते एवं अन्य प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक ही होते हैं। अवयवी परमाणु से पृथक् द्रव्य होता है क्योंकि रोकने (धारण) और खींचने (आकर्षण) की क्रिया किसी अवयवी में ही हो सकती है परमाणुओं में नहीं[2]।

किसी क्रियाशील पदार्थ के एक अवयव को रोक लेने पर सभी अवयव रुक जाते हैं, एवं निश्चल पदार्थ के एक अवयव को खींच लेने पर सभी अवयव खिंच जाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि अवयवों में एक अवयवी रहता है। परमाणु तो अवयव-हीन हैं, उनमें उक्त क्रियाएँ होनी सम्भव नहीं है[3]।

किसी पदार्थ के विषय में हम सब को ज्ञान होता है कि 'यह एक पदार्थ है'। अब प्रश्न यह है कि 'एक' यह ज्ञान एक पदार्थ में होता है या अनेक में ? यदि एक पदार्थ में 'एक' ज्ञान हुआ माना जायेगा तब तो एक अवयवी की सिद्धि माननी पड़ेगी क्योंकि एक परमाणु का दर्शन नहीं होता, और यदि अनेक में एक का ज्ञान माना जायेगा तब अनुभव-विरोध की आपत्ति होगी। हमें यह अनुभव नहीं होता कि हम अनेक को एक समझ रहे हों[4]। अथवा फिर अनेक में एक की प्रतीति भ्रम होगी और इस प्रकार के सभी ज्ञान भ्रमात्मक समझे जाने लगेंगे। किन्तु भ्रमात्मक ज्ञान का बाध होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव अवयवों से पृथक् अवयवी की सिद्धि होती है।

१२ आक्षेप—अवयवी अवयवों से पृथक् पदार्थ नहीं है। परमाणु-समूह को ही अवयवी कह लिया जाता है। जिस प्रकार सेना और वन क्रमशः अश्व-

१. न्यायवार्तिक—२।१।३४, पृष्ठ २३९–४०
२. न्यायसूत्र—२।१।३५
३. न्यायवार्तिक—२।१।३५, पृष्ठ २४०
४. न्यायभाष्य—२।१।३६

हस्त्यादि एवं वृक्षों के समूह होते और समझे जाते हैं, अश्व, हस्ती आदि के समूह के अतिरिक्त सेना और कुछ नहीं होती तथा वृक्षों के समूह के अतिरिक्त वन और कुछ नहीं होता। इसी प्रकार परमाणु-समूह के अतिरिक्त अवयवी भी पृथक् पदार्थ नहीं होता।

उत्तर—प्रकृतस्थल पर सेना और वन के जो उदाहरण दिये गये हैं वे अप्रासङ्गिक हैं। सेना और वन के अङ्गभूत एक-एक व्यक्ति को समीप से देखा जाता है अर्थात् सेना के एक एक हाथी या घोड़े को समीप से देखा जा सकता है किन्तु परमाणुओं में से प्रत्येक को अलग-अलग नहीं देखा जा सकता है। परमाणु तो अतीन्द्रिय हैं[1]। इस प्रकार दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक में स्पष्टतः भेद होने के कारण दृष्टान्त अमान्य सिद्ध होता है।

सेना एवं वन के जिन अवयवों का समीप से प्रत्यक्ष होता है क्या उनका एक-एक करके अलग-अलग प्रत्यक्ष होता है अथवा नहीं। यदि सेना के एक अश्व या हस्ती का अथवा वन के एक वृक्ष का पृथक् प्रत्यक्ष होता है तो अवयवी की सिद्धि मान ली गई क्योंकि अश्व, हस्ती या वृक्ष अवयवी हैं। एक अवयव का प्रत्यक्ष न मानकर अनेक अवयवों के समूह को अवयवी मानना समीचीन नहीं। कारण, 'एक' को न स्वीकार करने वाला व्यक्ति 'अनेक' को कैसे स्वीकार कर सकेगा ? 'अनेक' के ज्ञान का आधार 'एक' है[2]। जिस एक पदार्थ का प्रत्यक्ष होगा वह परमाणु न होकर अवयवी ही होगा क्योंकि परमाणु का प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता।

बौद्ध परमाणु-समूह को घट मानते हैं। प्रश्न यह है कि परमाणुओं में कुछ विशेषता उत्पन्न होती है उसे 'घट' कहते हैं अथवा बिना किसी विशेषता के ही परमाणुसमूह को 'घट' कह दिया जाया करता है ? यदि परमाणुओं में कुछ विशेषता उत्पन्न होने पर उन्हें घट कहा जाता है तब तो अवयवी की सिद्धि हो गई क्योंकि विशेष ही अवयवी है और यदि परमाणुओं में विशेषता उत्पन्न हुई नहीं मानी जाती है तो उन्हें प्रत्यक्ष का विषय नहीं होना चाहिए क्योंकि परमाणु तो अतीन्द्रिय हैं[3]।

१४ आक्षेप—अवयवों से पृथक् अवयवी पदार्थ नहीं होता। यदि अवयवों से पृथक् अवयवी की सत्ता मान ली जाये तो अनेक प्रश्न उठते हैं—

---

१. न्यायसूत्र—२।१।३७

२. न्यायवार्तिक—२।१।३६ पृष्ठ २४२

३. न्यायवार्तिक—२।१।३६ पृष्ठ २४३

१—क्या प्रत्येक अवयव सम्पूर्ण अवयवी में रहता है ? किन्तु सम्पूर्ण (कृत्स्न) अवयवी में प्रत्येक अवयव का रहना सम्भव नहीं। कारण, अवयव का परिमाण कम और अवयवी का अधिक होता है। पुनश्च यदि सभी अवयव अवयवी को व्याप्त कर लेंगे तो एक अवयव का दूसरे से सम्बन्ध स्थिर न हो सकेगा।

(२) दूसरा प्रश्न यह है कि क्या अवयवी के एक देश में अवयव रहता है ? यहाँ विचारणीय विषय यह है कि 'अवयवी का एक देश' 'अवयव' के अतिरिक्त और है ही क्या ? इस प्रकार 'अवयवी के एक देश में अवयव रहता है' वाक्य का अर्थ 'अवयव में अवयव रहता है' हुआ, किन्तु ऐसा मानना समीचीन नहीं[1]।

३—तीसरा प्रश्न यह है कि क्या सम्पूर्ण अवयवी प्रत्येक अवयव में वर्तमान रहता है ? ऐसा मानना भी समीचीन नहीं। कारण, महत्परिमाण अवयवी अणुपरिमाण अवयव में कैसे रह सकेगा ? पुनश्च अवयवी को एक अवयव में रहने वाला मानने पर उसे एक द्रव्य—एक परमाणु स्वरूप मानना होगा। एक परमाणु से अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति मानने पर अवयवी की सतत् उत्पत्ति माननी पड़ेगी। द्व्यणुक को एक परमाणु में रहने वाला मानने पर द्व्यणुक को भी नित्य मानना होगा क्योंकि एक परमाणु-रूप कारण का विभाग सम्भव नहीं है। और कारण के विभाग के बिना कार्य का विभाग नहीं हो सकता। इस प्रकार एक ही अवयवी के उत्पत्तिमान् और नित्य होने का प्रसङ्ग उठ खड़ा होता है[2]।

४—चौथा प्रश्न यह है कि क्या अवयवी अपने एक-एक अंश से प्रत्येक अवयवों में विद्यमान रहता है ? ऐसा मानने पर दो ही विकल्प हो सकते हैं—

(क) अवयवी का अंश—अवयव अवयव में रहता है, किन्तु कोई भी वस्तु स्वयं में नहीं रह सकती।

(ख) अवयवी का एक नवीन अंश—अवयव दूसरे अवयव में रहता है। इस विकल्प में अवयवी के ऐसे अन्य अवयवों की कल्पना करनी पड़ जाती है जिनसे अवयवी का आरम्भ नहीं हुआ था। ऐसी मान्यता भी समीचीन नहीं है।

५—अवयवी अवयवों से पृथक् ज्ञात नहीं होता, फिर उसे अवयवों से पृथक् पदार्थ क्यों माना जाये ? यदि अवयवों से पृथक् अवयवी पदार्थ को माना

१. न्यायसूत्र–भाष्य–वार्तिक—४।२।७ (वार्तिक पृष्ठ ५०३)
२. न्यायवार्तिक—४।२।८ पृष्ठ ५०४

जायेगा तो उसे निराश्रय (अनाधार) भी मानना होगा। अनाधार वस्तु नित्य होती है[1]। इस प्रकार इस पक्ष में अवयवी को नित्य मानना होगा। किन्तु अवयवी नित्य नहीं माना जाता।

उत्तर—आक्षेप संख्या १ और २ का समाधान यह है कि 'कृत्स्न' एवं 'एकदेश' शब्दों का प्रयोग 'एक' वस्तु के विषय में न होकर एकाधिक वस्तुओं के विषय में होता है। अभिप्राय यह है कि 'कृत्स्न' एवं 'एकदेश' शब्दों का प्रयोग वहीं होता है जहाँ प्रतिपाद्य पदार्थ अनेक होते हैं। वहाँ जब सभी को ग्रहण करके वक्ता उनके सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता है तब उनमें से किसी एक को भी न छोड़ा जाये यह सूचित करने के लिए 'कृत्स्न' शब्द का प्रयोग करता है और जब सब न लिये जायें, कुछ ही लिये जायें या कोई एक ही लिया जाये इस अभिप्राय से वक्ता शब्द का प्रयोग करता है तो उस ग्राह्य-रूप में अभिप्रेत को 'एकदेश' शब्द से कहता है। नाना अवयवों में विद्यमान अवयवी यतः एक ही होता है, अनेक नहीं होता, अतः उसके सम्बन्ध में उक्त वस्तुस्थिति के अनुसार 'कृत्स्न' या 'एकदेश' शब्द का प्रयोग ही नहीं हो सकता। अतः 'कृत्स्न' एवं 'एकदेश' को लेकर किया गया उक्त आक्षेप सङ्गत नहीं कहा जा सकता[2]।

शेष सभी आक्षेपों का उत्तर यह है कि पूर्वपक्षी जिस रूप में अवयवों में अवयवी की अथवा अवयवी में अवयवों की वृत्ति की कल्पना करता है वह समीचीन नहीं। वस्तुतः अवयव एवं अवयवी में आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध है[3]। अवयव अवयवी के आश्रय होते हैं और अवयवी अवयवों में आश्रित। आश्रित सदैव आश्रय में ही रह सकता है। कोई अवयवी अपने कारणभूत अवयवों में ही रह सकता है, अन्यत्र नहीं। हाँ, आश्रयभूत अवयव अवयवी में नहीं रहते। कारणभूत अवयव अवयवी के न रहने पर भी रह सकते हैं। अतएव पूर्वपक्षी की अवयवावयविविषयक वृत्तिकल्पनायें निःसार हैं। न्यायाभिमत वृत्ति को समझ करके ही प्रतिपक्षी को विचार प्रस्तुत करना चाहिए।

परमाणु और अवयवी—पूर्वोक्त १० वें आक्षेप के उत्तर में बतलाया जा चुका है कि परमाणु प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, अर्थात् परमाणु अतीन्द्रिय होता है। जहाँ तक परमाणु के स्वरूप का प्रश्न है, अविभाज्य परमाणु को

१. न्यायवार्तिक—४।२।९ पृष्ठ ५०४
२. न्यायसूत्र-भाष्य-वार्तिक—४।२।११ (वार्तिक पृष्ठ ५०५)
३. न्यायवार्तिक—४।१।१२, पृष्ठ ५०५–५०६

मानना सर्वथा आवश्यक है[१]। अविभाज्य परमाणु को न मानने पर छोटे-बड़े पदार्थों में परस्पर भेद न हो सकेगा क्योंकि (घट जैसी) छोटी वस्तु में अनन्त विभाज्य परमाणु मानने पड़ जायेंगे और हिमवान् जैसे बड़े पदार्थ से भी अनन्त विभाज्य परमाणु मानने होंगे, तब तो छोटी वस्तु घट और बड़ी वस्तु हिमवान् दोनों को समान मानना होगा। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव नैयायिक-सम्मत परमाणु की मान्यता ही समीचीन है। पदार्थ को विभाजन करते-करते जो अंश पुनः अविभाज्य हो उसे परमाणु कहेंगे। इस सिद्धान्त में परमाणुओं की न्यूनाधिक संख्या के आधार पर वस्तुओं के छोटे-बड़े का भेद बन सकता है। जिस वस्तु में कम परमाणु होंगे वह छोटी और जिसमें अधिक परमाणु होंगे वह बड़ी होगी।

परमाणु के सावयवत्व की आलोचना

बौद्धमत—बौद्ध परमाणु को सावयव अतएव अनित्य मानते हैं। उनके अनुसार सावयव होने के कारण उसमें वृत्ति का विकल्प होता है। अभिप्राय यह है कि मान्य अवयवावयवधारा के बीच भी अवयवों का सम्बन्ध माना जायेगा या नहीं? यदि सम्बन्ध माना जायेगा तो उस अवयवावयवधारा का कहीं अन्त न हो पायेगा और कहीं जाकर उस अवयवावयवधारा का अन्त तभी हो पायेगा यदि शून्य में पर्यवसान माना जाये। जहाँ तक अवयवावयवधारा मानी जाती रहेगी वहाँ तक अवयवों का संयोग भी मान्य होता रहेगा, इसलिए अवयवावयवधारा का अन्त कभी नहीं हो पायेगा, अनवस्था अबाध गति से आगे बढ़ती जायेगी। अतः अन्त में शून्य ही मान कर विश्राम लेना होगा[२]।

परमाणुओं को निरवयव कैसे माना जाये? क्योंकि सर्वव्यापक आकाश परमाणुओं के भीतर बाहर सब ओर व्याप्त रहता है। सावयव पदार्थ के ही प्रसङ्ग में 'भीतर', 'बाहर' आदि शब्दों का व्यवहार किया जा सकता है। यदि आकाश को परमाणुओं के भीतर बाहर व्याप्त न मानेंगे तो आकाश को असर्वव्यापक मानना होगा[३]। पुनश्च मूर्त द्रव्य साकार एवं सावयव होते हैं। परमाणु मूर्त द्रव्य होने के कारण भी सावयव है और गोल होने के कारण भी। अतएव सावयव होने के कारण परमाणु अनित्य भी है[४]।

१. न्यायवार्तिक—२।२।१६–१७, पृष्ठ ५१०

२. तात्पर्यटीका—४।२।१८ पृष्ठ ६४८

३. न्यायवार्तिक—४।२।१९–२०, पृष्ठ ५११–१२

४. न्यायवार्तिक—४।२।२३ पृष्ठ ५२३

आलोचना-(१) आकाश के सम्बन्ध से परमाणु को सावयव नहीं माना जा सकता। परमाणु कार्य नहीं है। कार्य पदार्थ के ही 'भीतर' एवं 'बाहर' आदि देश माने जा सकते हैं, जिनसे आकाश सम्बद्ध हो सके[1]।

(२) "परमाणु के 'भीतर', 'बाहर' आदि देशों के अभाव मानने से आकाश का उन देशों से सम्बन्ध नहीं हो पायेगा" इस वाक्य से यह नहीं सिद्ध होता कि आकाश सर्वव्यापक नहीं है, क्योंकि 'सर्वव्यापक' शब्द का अर्थ यह नहीं होता कि जो पदार्थ है ही नहीं उससे सम्बद्ध होना अपितु सभी मूर्त द्रव्यों के साथ सर्वत्र सम्बद्ध होना। जब परमाणु में 'भीतर' 'बाहर' आदि स्थान हैं ही नहीं तब 'बाहर' एवं 'भीतर' सम्बद्ध होने की बात कही नहीं जा सकती। रही बात आकाश के सर्वगत होने की तो उसके होने में बाधा इसलिए नहीं प्राप्त होती है कि अवयवावयविभावानापन्न दो द्रव्यों के बीच संयोग मान्य होने के कारण परमाणु और आकाश के बीच भी संयोग सम्बन्ध होने में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती, क्योंकि परमाणु और आकाश दोनों द्रव्य हैं और अवयवावयविभावानापन्न भी। न परमाणु आकाश का अवयव है न आकाश परमाणु का और दोनों द्रव्य हैं। ऐसी परिस्थिति में आकाश में परमाण्वात्मक मूर्त द्रव्य का भी संयोग हो सकने के कारण सर्वमूर्त-द्रव्यसंयोग-स्वरूप सर्वगतत्व भलीभाँति उपपन्न होता है।

(३) परमाणु को अनित्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि परमाणु सावयव नहीं होता। जिससे छोटा कोई न हो सके उसी को परमाणु कहा जाता है। उसे सावयव कैसे माना जाये? क्योंकि उसका अवयव मानने पर वह अवयव उससे छोटा हो जायेगा। अतः परमाणु परमाणु ही न रह पायेगा। वह मान्य अवयव परमाणु का स्थान ले लेगा। आकाश से सम्बद्ध होने के कारण किसी को सावयव मानकर उसे अनित्य नहीं सिद्ध किया जा सकता क्योंकि अवयव के विनाश अथवा विभाग होने पर ही कार्य द्रव्य नष्ट होता है। आकाश किसी भी पदार्थ में किसी प्रकार की क्रिया नहीं उत्पन्न कर सकता जिससे अवयवों में विभाग होकर उस द्रव्य का नाश हो जाये[2]।

(४) मूर्त होने के कारण घट की तरह परमाणुओं को सावयव नहीं माना जा सकता। परमाणु-रूप मूर्त द्रव्य के बारे में भी यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या परमाणु जैसे मूर्त द्रव्य के अवयवों का पारस्परिक विभाग हो सकता है

२. न्यायवार्तिक—४।२।१९-२०, पृष्ठ ५१२

१. न्यायवार्तिक—४।२।२२, पृष्ठ ५१३

या नहीं ? यदि नहीं तो प्रकृतस्थल में घट (जो अवयवी है) को उदाहरण रूप में नहीं लेना चाहिए और न तो परमाणु को सावयव ही कहना चाहिए। यदि परमाणु के विभाग माने जायें तो उसकी सीमा निर्धारित होनी चाहिए। क्या परमाणु के विभाजन का कार्य अनन्तकाल तक चल सकता है ? अथवा कहीं विराम हो जाता है ? यदि विराम हो जाता है तो विरामकाल में स्थित भाग को ही परमाणु माना जायेगा। प्रमाणाभाव से अनन्त काल तक के विभाजन को कभी नहीं स्वीकार किया जा सकता। विभाजन होते-होते परमाणु का विनाश भी नहीं माना जा सकता 'क्योंकि विनाश होने से फिर जगत् की उत्पत्ति कैसे और किससे होगी'[1] ?

(५) एक परमाणु दूसरे परमाणुओं से विभिन्न दिशाओं में संयुक्त रहता है, अतएव परमाणु के सम्बन्ध में अनेक दिशाओं का व्यवहार होने से बौद्ध उसे सावयव मानते हैं। किन्तु उक्त मान्यता समीचीन नहीं। वस्तुतः दिशायें अनेक नहीं हैं। एक ही दिशा है। सूर्य के उदय एवं अस्तकाल में संयुक्त होने वाले देशों के आधार पर विभिन्न दिशाओं की कल्पना की गई है[2]। एक परमाणु में दूसरे परमाणुओं के साथ दिक्कल्पनाज्ञेय छः संयोग हो सकते हैं किन्तु संयोगी होने से परमाणु की मूर्तता सिद्ध होती है न कि उसकी सावयवता[3]। वार्तिककार ने थोड़े विस्तार से परमाणु की निरवयवता में युक्तियाँ उपस्थित की हैं।



१. न्यायवार्तिक—४।२।२४–२५ पृष्ठ ५१४

२. न्यायवार्तिक—४।२।२४–२५ पृष्ठ ५१७

३. तात्पर्यटीका—४।२।२५ पृष्ठ ६५२–५३

अध्याय ४

न्यायवार्तिक में अनुमान प्रमाण

अनुमान का लक्षण—सूत्रकार का अनुमानलक्षणपरक सूत्र इस प्रकार है—'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च'[1]। इस प्रकार सूत्रकार अनुमान को 'तत्पूर्वक' अर्थात् प्रत्यक्षपूर्वक मानते हैं। भाष्यकार लिङ्ग के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष अर्थ के ज्ञान को अनुमान मानते हैं[2]। इनके अनुसार लिङ्गदर्शन के पूर्व लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध का दर्शन एवं लिङ्गदर्शन के पश्चात् उक्त सम्बन्ध का स्मरण आवश्यक है[3]। वार्तिककार का मत है कि अनुमान के पूर्व प्रत्यक्षमात्र ही नहीं यथासम्भव सभी प्रमाण आ सकते हैं[4]। वार्तिककार ने अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार बतलाई है—अनुमाता कभी पहिले लिङ्ग-धूम एवं लिङ्गी-अग्नि के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष कर चुका रहता है। इसे प्रथम प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। इसके पश्चात् लिङ्ग—(धूम) का दर्शन होता है। अन्त में उसे पुनः लिङ्गदर्शन होता है। किन्तु यह अन्तिम लिङ्गदर्शन-रूप प्रत्यक्ष पूर्ववर्णित दो प्रकार के प्रत्यक्ष एवं व्याप्तिस्मरण द्वारा अनुगृहीत होता है। इसी अनुगृहीतरूप अन्तिम प्रत्यक्ष को परामर्श कहते हैं, और यही परामर्श अनुमान कहा जाता है[5]।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि 'अनुमान' शब्द क्रियावाची और करणवाची दोनों प्रकार के होते हैं। प्रकृतस्थल में 'अनुमान' शब्द को करणवाची समझना चाहिए क्योंकि अनुमित्यात्मक फल के प्रति फलायोगव्यवच्छिन्नरूप में कारण परामर्श ही होता है क्योंकि 'साध्यव्याप्यहेतुमान् पक्षः' जैसे 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इस परामर्शात्मक ज्ञान के होते ही 'पक्षः साध्यवान्' जैसे 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति होती है। अतः करणवाची अनुमान शब्द से परामर्श को कहना उचित ही है। इसीलिए नव्यन्याय के प्रवर्तक तत्त्वचिन्तामणिकार गंगेशोपाध्याय ने इसी मत को अपनाया है। वार्तिककार के

---

१. न्यायसूत्र—१।१।५

२. 'मितेन लिङ्गेनार्थस्य पश्चान्मानमनुमानम्' (न्यायभाष्य—१।१।३)

३. न्यायभाष्य—१।१।५

४. न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ४३

५. न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ४३–४४

प्रकृत विवेचन[1] को देखते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अनुमान सम्बन्धी नव्य नैयायिकों का सिद्धान्त वस्तुतः वार्तिककार का ऋणी है।

लिङ्गपरामर्श[2] से अनुमिति उत्पन्न होती है। लिङ्ग एवं लिङ्गी के सम्बन्ध की स्मृति अथवा लिङ्गदर्शन आदि अंग मिलित रूप में ही अनुमाण प्रमाण हो सकते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं। वार्तिककार ने दर्शित सभी अनुमितिकरणों में लिङ्गपरामर्श को ही प्रमुख माना है क्योंकि लिङ्गपरामर्श के ठीक बाद (अव्यवहित उत्तरकाल में) अनुमिति होती है[3]।

लिङ्गपरामर्श ज्ञान भी स्वयं प्रत्यक्षात्मक है फिर उसे अनुमान क्यों माना जाये? यद्यपि लिङ्ग परामर्श प्रत्यक्ष है किन्तु इस प्रत्यक्ष से अनुमेय अर्थ का अनुमित्यात्मक ज्ञान होता है इसलिए तात्पर्यटीकाकार ने भी उक्त प्रत्यक्ष को भी अनुमान मानना उचित समझा है[4]। इनका मत है कि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त लिङ्ग परामर्श अनुमित्यात्मक आदि रूप भी होने के कारण अनुमान आदि रूप भी हो सकता है। उक्त लिङ्गपरामर्श रूप अनुमान अनुमिति का प्रधान कारण है। वार्तिककार ने अनुमिति को भी अनुमान माना है[5]। चूँकि प्रत्येक प्रमाण का कुछ न कुछ फल अवश्य होता है, उक्त दोनों प्रकार के अनुमानों का भी अपना-अपना फल है। जब अनुमिति-रूप ज्ञान को अनुमान माना जाता है तब हान, उपादान एवं उपेक्षा आदि बुद्धियाँ फलरूप में प्राप्त होती हैं और जब अनुमिति के करण को अनुमान माना जाता है तब अनुमिति फल होती है। वार्तिककार के अनुमान की इस द्विविध कल्पना का आधार भाष्यकार की प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में ऐसी ही कल्पना है। भाष्यकार ने सन्निकर्ष और ज्ञान दोनों को प्रत्यक्ष मानकर उनके फल का निर्देश किया है[6] किन्तु भाष्यकार ने अनुमान के सम्बन्ध में ऐसी कल्पना नहीं की थी।

वार्तिककार ने यह भी प्रश्न उठाया है कि अनुमान को यदि 'प्रत्यक्षपूर्वक' माना जायेगा तो संस्कार एवं निर्णय के भी अनुमान होने की आपत्ति उठ

---

१. 'तदिदमन्तिमं प्रत्यक्षं........अग्निविषया प्रतिपत्तिः'
(न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ४४)

२. प्रकृत अर्थ में 'परामर्श' एवं 'लिङ्गपरामर्श' पदों का प्रयोग न्याय-वैशेषिक परम्परा में सर्वप्रथम न्यायवार्तिक (१।१।५, पृष्ठ ४४) में हुआ है।

३. न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ४५, ४. तात्पर्यटीका—१।१।५, पृष्ठ १५७

५. न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ४५ पंक्ति २–४

६. न्यायभाष्य—१।१।३

खड़ी होगी क्योंकि स्मृति का हेतु-संस्कार प्रत्यक्ष से ही उत्पन्न होता है[१]। इसका समाधान यह है कि यहाँ ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है। संस्कार ज्ञान नहीं होता, अतएव संस्कार को लेकर अनुमान के लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं आ सकता। रहा निर्णय के विषय में विवाद। निर्णय जब प्रमाण होगा तब किसी न किसी प्रमाण के अन्तर्गत आता ही है अतएव प्रमाण की श्रेणी में आ जाने के कारण अनुमान के 'प्रत्यक्षपूर्वकत्व' की ही सिद्धि होती है।

व्याप्ति—न्याय-वैशेषिक साहित्य में 'व्याप्ति' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख 'न्यायवार्तिक' में आता है[२]। किन्तु यहाँ विवरणपूर्वक व्याप्ति के स्वरूप का विवेचन नहीं किया गया है। डॉ० विद्याभूषण व्याप्ति को दिङ्नाग की देन मानते हैं[3], किन्तु संस्कृत मूल के चीनी अनुवाद से संस्कृत में अनूदित 'तर्कशास्त्र' नामक दिङ्नागपूर्व ग्रन्थ में 'व्याप्ति' शब्द मिलता है[४]। यहाँ 'व्याप्ति' शब्द का अर्थ दिङ्नाग की व्याप्ति के अर्थ से भिन्न नहीं प्रतीत होता है, किन्तु अनुवाद से अनूदित होने के कारण यह शंका होनी स्वाभाविक है कि तर्कशास्त्र में जब वह अपने मूलरूप-संस्कृत में था 'व्याप्ति' शब्द का प्रयोग हुआ था या नहीं। यदि प्रयोग हुआ था तो डॉ. विद्याभूषण का यह मत, कि व्याप्ति दिङ्नाग की देन है, समीचीन नहीं। कारण स्वयं डॉक्टर विद्याभूषण 'तर्कशास्त्र' को वसुबन्धु की रचना मानते हैं[५] और वसुबन्धु दिङ्नाग का गुरु था।

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ४५ पंक्ति १९

२. न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ४६

३. This univeal invariable, or inseparable connection between them is called in Sanskrit Vyāpti and in Tibetan khyab which was as far as I find discovered by Dignāga.'

—(Vidyabhusana: A History of Indian logic. P.292)

४. Tucci : Pre—Dignāga Budhist Texts on Logic from Chinese Sources. तर्कशास्त्र पृष्ठ २०

५. 'Vasubandhu was the author of a large number of very valuable works including the Tarka-śastra, which consists of three chapters and is perhaps the first regular Buddhist work on Logic'

(Vidyabhusana : History of the Mediaeval School of Indian Logic p. 76.

न्यायसूत्रों में 'व्याप्ति' शब्द का प्रयोग अवश्य नहीं हुआ किन्तु व्याप्ति द्वारा अभिव्यक्त अर्थ की समानता रखने वाले अर्थ के वाचक शब्द सूत्रों में मिलते हैं। इन शब्दों में उल्लेखनीय 'साधर्म्य' 'वैधर्म्य' एवं 'नियम' आदि हैं[१]। किन्तु केवल 'साधर्म्य' और वैधर्म्य द्वारा अनुमान नहीं माना जा सकता। 'साधर्म्य' और वैधर्म्यमात्र द्वारा अनुमान मानने पर ही असदुत्तर जातिका प्रसङ्ग आ जाता है[२]। भाष्यकार ने 'व्याप्ति' के स्थान पर 'लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध' को लिया है[३]। तात्पर्यटीकाकार ने नियत, स्वाभाविक एवं अनौपाधिक सम्बन्ध को व्याप्ति माना है[४]।

वार्तिक में बौद्ध और सांख्यमत के अनुमानलक्षण की आलोचना पाई जाती है। भाष्य में उक्त मतों का प्रकृतस्थल में उल्लेख नहीं पाया जाता।

दिङ्नाग का अनुमानलक्षण (प्रथम)—'नान्तरीयकार्थदर्शनं तद्विदोऽनुमानम्' यह दिङ्नाग का अनुमान लक्षण है। जब एक वस्तु किसी दूसरी वस्तु के बिना कभी नहीं रहती है तो उसे उससे नान्तरीयक होने वाली कहा जाता है। नान्तरीयक होने वाली वस्तु को 'नान्तरीयक अर्थ' कहा जाता है और अनुमाता के उस वस्तु के दर्शन को अनुमान कहा जाता है। यही दिङ्नाग का अभिप्राय है[५] जिसका स्पष्टीकरण वार्तिक में किया गया है।

आलोचना—उक्त लक्षण में प्रथम दोष यह है कि इसमें 'अर्थ' शब्द निरर्थक है क्योंकि अर्थ ही सदैव नान्तरीयक होता है, अतएव यहाँ 'अर्थ' शब्द का प्रयोग व्यर्थ ही है। वस्तुतः 'अनर्थ' नामक कोई भी वस्तु विश्व में नहीं है। दूसरे, यदि 'नान्तरीयक' पद को विशेषण न मानकर 'नान्तरीयकार्थ' को समस्त पद मानें तो भी बहुत से आक्षेप उपस्थित होंगे जिनका निवारण संभव नहीं। षष्ठी तत्पुरुष समास लेकर उक्त पद का 'नान्तरीयक का अर्थ' यह अभिप्राय लिया जा सकता है। चूँकि शब्द के कृतक होने के कारण अनित्य सिद्ध होने के स्थल में 'कृतकत्व' को नान्तरीय माना जायेगा और उस (नान्तरीयक) के अर्थ' से अभिप्राय या तो धर्म से होगा अथवा प्रयो-

---

१. 'उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः' (न्यायसूत्र–१।१।३४)
'तथा वैधर्म्यात्' (न्यायसूत्र–१।१।३५)
नियमहेत्वभावाद्यथा दर्शनमभ्यनुज्ञा' (न्यायसूत्र–३।२।११)

२. 'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः' (न्यायसूत्र—१।२।१८)

३. न्यायभाष्य—१।१।५ ४. तात्पर्यटीका–१।१।५, पृष्ठ १६५

५. न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ५४

जन से। यदि 'नान्तरीयकार्थ'-पदगत 'अर्थ' शब्द का अर्थ धर्म हो तो सब का धर्म होने के नाते सत्त्व, मेयत्व (ज्ञान का विषय होना) और अभिधेयत्व (आदि अथवा उसके ज्ञान) अनुमान माने जाने लगेंगे क्योंकि उक्त सत्त्व आदि कृतकत्वादि के भी धर्म हैं। परन्तु ऐसा मानना अनुभवविरुद्ध है। किसी पदार्थ के केवल सत्त्वज्ञान से किसी अन्य असम्बद्ध पदार्थ का अनुमान नहीं हो पाता। इसी प्रकार प्रयोजन के पक्ष में भी दोष दिखलाये जा सकते हैं। 'नान्तरीयकार्थ' पद के अन्य विकल्पात्मक विग्रहों को लेकर वार्तिककार ने प्रकृत अनुमानलक्षण की आलोचना विस्तार से की है।

दिङ्नाग का अनुमानलक्षण—(द्वितीय)—दिङ्नाग ने अनुमान का द्वितीय लक्षण इस प्रकार किया है—'अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्भावो नास्तिताऽसति' अर्थात् जहाँ हेतु पक्ष और सपक्ष में रहे किन्तु विपक्ष में न रहे वहाँ अनुमान होता है[1]। दिङ्नाग का यह अनुमानलक्षण 'प्रमाणसमुच्चय' नामक ग्रंथ के द्वितीय अध्याय में मिलता है[2]।

आलोचना—वार्तिककार ने दिङ्नाग के अनुमानलक्षण में निम्नलिखित दोष माने हैं:—

१—प्रकृत अनुमानलक्षण में अतिव्याप्ति नामक दोष है क्योंकि इससे अनुमान के एक देश का भी ग्रहण हो जाता है। उदाहरण के लिये 'परमाणु अनित्य हैं, गन्धयुक्त होने के कारण, घट की तरह' यह अनुमानवाक्य। यह अनुमान-वाक्य दिङ्नाग के अनुमान के लक्षण के अनुरूप ही है[3], क्योंकि गन्ध का सद्भाव परमाणुओं (अनुमेय) में होता है और परमाणुओं से बने घट आदि (तत्तुल्य) में भी होता है तथा अनुमेयभूत परमाणुओं से भिन्न शब्द आदि में नहीं होता है। यद्यपि गन्ध वहीं रहेगी जो परमाणु या उससे बना द्रव्य होगा और जो परमाणु या परमाणु से बना द्रव्य नहीं होगा वहाँ गन्ध नहीं रहेगी, किन्तु सभी परमाणुओं में गन्ध नहीं रहती, केवल पार्थिव परमाणुओं में ही रहती है। इसलिये जलीय, तैजस एवं वायव्य परमाणुओं का ग्रहण न होने के कारण प्रकृत अनुमानलक्षण में अतिव्याप्ति नामक दोष आ गया है।

इस अनुमानलक्षण के तीन अंश हैं—'अनुमेय में हेतु का सद्भाव', 'अनुमेयतुल्य पदार्थ में हेतु का सद्भाव' और 'अनुमेयासत् में हेतु का अभाव'।

---

१. न्यायवार्तिक–१।१।५, पृष्ठ ५५
   तात्पर्यटीका–१।१।५, पृष्ठ १८९

२. Vidyabhuana. A History of Indian logic, p 288

३. न्यायवार्तिक–१।१।५, पृष्ठ ५५

बौद्ध प्रत्येक अंश के साथ एक अवधारणार्थक शब्द 'एव' (ही) का विकल्प से प्रयोग करते हैं। अनुमानगत प्रथम अंश के साथ अवधारणार्थक शब्द का विकल्प से प्रयोग इस प्रकार होगा—

'अनुमेय में ही हेतु का सद्भाव' अथवा 'अनुमेय में हेतु का सद्भाव ही'। सम्भव है अन्य से पृथक्-रूप अपोह के द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति मानने के कारण ही बौद्धों ने अवधारण के लिये अतिरिक्त पद के प्रयोग को उचित समझा हो।

२—'हेतु के अनुमेय में ही सद्भाव' की मान्यता द्वारा पूर्वोक्त दोष (संख्या १) का निवारण नहीं हो सकता क्योंकि 'ही' के प्रयोग करने पर भी परमाणु ही अनुमेय रहता है[1]।

३—यदि उक्त 'ही' रूप अवधारणार्थक शब्द के प्रयोग से 'अनुमेय में ही हेतु का सद्भाव' माना जायेगा तो दिङ्नाग के अनुमानलक्षण में प्रयुक्त शब्दों के अर्थों में परस्पर विरोध होगा। यदि अनुमेय में अर्थात् केवल अनुमेय में ही हेतु का सद्भाव अनुमान के नियामक रूप में माना जायेगा तो तत्तुल्य (जैसे घट) में हेतु का सद्भाव न हो सकेगा जिसे उक्त अनुमानलक्षण द्वारा दिङ्नाग ने अपेक्षित माना है।

४—दूसरे विकल्प के अनुसार 'सद्भाव' पद के साथ 'एव' (ही) का प्रयोग करने पर 'अनुमेय में हेतु का सद्भाव ही' पद-समूह बनता है जिससे व्याप्ति की प्राप्ति होती है। अनुमेय में हेतु का अवश्य रहना ही है प्रकृत व्याप्ति। किन्तु इससे व्याप्ति की प्राप्ति इसलिये नहीं हो पाती[2] कि विशेषण-संगत एवकार का अर्थ होता है अयोगव्यवच्छेद। अयोगव्यवच्छेद का प्रभाव विशेषण पर ही पड़ा करता है, इसलिये यहाँ भी उसका प्रभाव विशेषणभूत अनुमेय पर ही पड़ सकने के कारण हेतु उससे अछूता ही रह जाता है। 'अनित्याः परमाणवः, गन्धवत्त्वात् घटवत्' यहाँ हेतुभूत 'गन्धवत्त्व' का निराकरण उस (ही) से नहीं हो पाता, इसलिये उसमें भी अनुमानता की आपत्ति वारित नहीं होती।

५—उक्त प्रकार से अवधारण के द्वारा ही व्याप्ति की प्राप्ति हो जाने पर 'तत्तुल्ये सद्भावः' और 'असति नास्तिता' ये लक्षणगत दो अंश भी व्यर्थ होने

१- 'न चैकदेशवृत्तिर्निराकृत इत्यवधारणं व्यर्थम्'
न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ५५

२. न्यायवार्तिक—१।१।५ पृष्ठ ५६,

लगेंगे क्योंकि 'अनुमेये सद्भावः' इसमें ही अवधारण का योग करके जब व्याप्ति की प्राप्ति ही हो जायेगी तो परवर्ती उक्त दो अंशों द्वारा किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति तो हो नहीं पाती केवल तत्तुल्य में हेतु का अस्तित्वमात्र विवक्षित रह जाता है एवं 'नास्तितासति' से केवल विपक्ष में हेतु का न होना मात्र वक्तव्य रह जाता है क्योंकि व्याप्ति तो पूर्वोक्त प्रकार से 'अनुमेये सद्भाव एव' से ही प्राप्त हो जाती है।

६—पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष में से दो अथवा एक में हेतु के यथासम्भव रहने और न रहने के कारण सप्तिका (सात दशाओं) की सम्भावना होती है। बौद्ध केवल अन्तिम दशा में ही अनुमान मानते हैं। सप्तिका निम्नलिखित हैः—

(१) हेतु पक्ष में रहता है, सपक्ष में नही रहता, विपक्ष में रहता है।
(२) हेतु सपक्ष में रहता है, पक्ष में नहीं रहता, विपक्ष में रहता है।
(३) हेतु विपक्ष में नहीं रहता, पक्ष में नहीं रहता, सपक्ष में नहीं रहता।
(४) हेतु पक्ष में रहता है, सपक्ष में रहता है, विपक्ष में उसका अभाव नहीं रहता।
(५) हेतु पक्ष में रहता है, विपक्ष में नहीं रहता, सपक्ष में नहीं रहता।
(६) हेतु सपक्ष में रहता है, विपक्ष में नहीं रहता, पक्ष में नहीं रहता।
(७) हेतु पक्ष में रहता है, सपक्ष में रहता है, विपक्ष में नहीं रहता।

उक्त सप्तिका की अन्तिम (७ वीं) दशा में अनुमानलक्षण के तीनों अंश चरितार्थ हो जाते हैं, अतएव बौद्ध इसी स्थिति में अनुमान मानते हैं। प्रथम तीन दशाओं में से प्रत्येक में दो-दो अंश चरितार्थ नहीं हो पाये हैं। उसके बाद की तीन दशाओं में से प्रत्येक में एक-एक अंश चरितार्थ नहीं हो सका है, इसीलिए बौद्ध उक्त प्रथम छः दशाओं में अनुमान नहीं मानते। किन्तु विपक्ष और सपक्ष के अभाव होने की स्थिति में जब हेतु क्रमशः अन्वयी और व्यतिरेकी होगा तब सप्तिकागत चतुर्थ एवं पञ्चम दशा में भी अनुमान हो सकने के कारण वार्तिककार दिङ्नाग के अनुमानलक्षण को अव्यापक मानते हैं[1]।

सारांश यह है कि 'सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात्, घटवत्' इस केवलान्वयी अनुमानस्थल में विपक्ष न मिल पाने के कारण विपक्षावृत्तित्व का अर्थात् विपक्ष में रहने वाला न होने का सूचक 'नास्तितासति' यह लक्षणगत अंश चरितार्थ नहीं हो पायेगा और 'जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वात्' इस केवल-व्यतिरेकी अनुमानस्थल में सपक्ष न मिल सकने के कारण 'तत्तुल्ये सद्भावः'

१. न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ५६–५७

यह अंश चरितार्थ न हो सकने के कारण दिङ्नाग का यह लक्षण निर्दोष नहीं माना जा सकता।

सांख्यदर्शन का अनुमान-लक्षण—वार्तिक में सांख्यदर्शन का अनुमान लक्षण इस प्रकार मिलता है—'सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्'[१]। इस पद्यात्मक वाक्य का छन्द (आर्या) वही है जो ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं का है। परन्तु यह ज्ञात नहीं है कि इसे कहाँ से उद्धृत किया गया है। उक्त अनुमानलक्षण के दो सम्भावित अर्थ हैं :—

१—जहाँ परस्पर सम्बद्ध वस्तुओं में से एक के प्रत्यक्ष से दूसरी अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान होता है वहाँ दूसरी वस्तु का वह ज्ञान अनुमान होता है।

२—एक सम्बन्ध के प्रत्यक्ष होने से किसी वस्तु का ज्ञान अनुमान होता है।

आलोचना—चूँकि केवल एक प्रकार के ही प्रत्यक्ष ज्ञान से अनुमान नहीं हो पाता अपितु अनुमानस्थल में एक से अधिक प्रत्यक्षों की अपेक्षा होती है जैसे व्याप्तिदर्शन और लिङ्गदर्शन, इसलिए वार्तिककार पहिले विकल्प के अनुसार अनुमान का लक्षण सदोष मानते हैं। दूसरे विकल्प के अनुसार भी लक्षण दुष्ट रहता है क्योंकि अनुमानकाल में सम्बन्ध का दर्शन नहीं होता बल्कि लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध का स्मरण-मात्र होता है। दर्शन केवल लिङ्ग का ही होता है। दूसरे विकल्प के अनुसार रूप से स्पर्श का भी अनुमान होना चाहिए। किन्तु ऐसा मानने पर स्वयं सांख्य के सिद्धान्तों का खण्डन होगा। रूप से स्पर्श के अनुमान में 'इन दोनों के बीच सम्बन्ध मानना होता है, जिसकी उपपत्ति सांख्यसिद्धान्त में नहीं हो पाती है। एक ही पदार्थ में रूप और स्पर्श की विद्यमानता को समवाय सम्बन्ध से स्वीकार करके भी अनुमान की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि सांख्य दर्शन में समवाय पदार्थ नहीं माना जाता है। सांख्य में द्रव्य और गुण की पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं मानी जाती। इसलिए द्रव्य और गुण में परस्पर आधाराधेयभाव न सिद्ध होने के कारण 'जहाँ रूप होगा वहाँ स्पर्श होगा' ऐसी व्याप्ति नहीं बन सकती जिससे अनुमान किया जा सके। प्रकृतस्थल में 'जहाँ' शब्द आधार होगा और 'रूप' एवं 'स्पर्श' शब्द आधेय होंगे[२]। इसी तरह रूप एवं स्पर्श में आधाराधेयभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता।

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ५६—५७ तात्पर्यटीका—१।१।५, पृष्ठ १९४
२. न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ५७

अनुमान के प्रभेद

अनुमान के मुख्य दो प्रभेद हैं— स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। सूत्रों एवं भाष्य में 'स्वार्थानुमान' एवं 'परार्थानुमान' शब्द नहीं पाये जाते। प्रशस्तपाद में 'स्वनिश्चितार्थमनुमानम्' और 'परार्थानुमानम्' शब्द मिलते हैं[1]। दिङ्नाग ने स्वार्थानुमान को 'आत्मसंविदे अनुमानम्' और परार्थानुमान को 'परसंविदे साधनम्' कहा है[2]। प्रमाणसमुच्चय के दूसरे अध्याय में स्वार्थानुमान एवं तीसरे अध्याय में परार्थानुमान का विवेचन किया गया है[3]। अनुमान जब स्वयं अपने लिए होता है स्वार्थानुमान कहा जाता है किन्तु जब अवयवों का प्रयोग करके अनुमान-वाक्य द्वारा दूसरे को अनुमिति कराना उद्देश्य होता है तब परार्थानुमान माना जाता है[4]।

अनुमान के अन्य प्रभेद

अनुमान के अन्य प्रभेद दो प्रकार से पाये जाते हैं। प्रसङ्गानुसार ये स्वार्थानुमान अथवा परार्थानुमान के अन्तर्गत आ जाते हैं :—

(क)— १. अन्वयी २. व्यतिरेकी ३. अन्वयव्यतिरेकी

(ख)— १. पूर्ववत् २. शेषवत् ३. सामान्यतो दृष्ट।

प्रथम प्रकार के प्रभेद—'अन्वयी' 'व्यतिरेकी' एवं अन्वयव्यतिरेकी' शब्द अनुमान के प्रभेदों के रूप में सूत्र एवं भाष्य में नहीं मिलते। उक्त संज्ञाओं एवं तद्बोध्य अनुमान-प्रभेदों का सोदाहरण निरूपण वार्तिक से प्रारम्भ होता है।

१. अन्वयी—'अन्वयी' को ही परवर्ती नैयायिकों ने 'केवलान्वयी' की संज्ञा दी। जिस अनुमान में साध्य एवं हेतु पक्ष एवं सपक्ष में तो रह सकें किन्तु विपक्ष का अभाव होने के कारण व्याप्ति की अन्वयमुखेन ही प्रवृत्ति हो सके उसे अन्वयी कहते हैं। प्रकृत अनुमान का दृष्टान्त देते हुए वार्तिककार ने सर्वानित्यत्ववादी दार्शनिकों की दृष्टि में अन्वयी होनेवाले अनुमान का उल्लेख किया है[5], यथा—'शब्द अनित्य है, कृतक होने के कारण' यहाँ अनित्यत्व साध्य है और शब्द पक्ष है। सपक्ष-रूप में घट-पट आदि कोई भी

१. प्रशस्तपादभाष्य—अनुमानप्रकरण

२. 'न्यायप्रवेश' पृष्ठ १

३. Vidyabhusana : A History of Indian Logic, p. 276.

४. 'परप्रतिपादका ये वाक्याङ्गभूता...'(न्यायवार्तिक–१।१।३२, पृष्ठ १०७)

५. न्यायवार्तिक–१।१।५ पृष्ठ ४६

पदार्थ लिया जा सकता है। किन्तु सर्वानित्यत्ववाद में कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है, अतएव विपक्ष के मिलने की सम्भावना न होने से उनकी दृष्टि में अन्वयव्याप्ति ही हो सकती है, व्यतिरेकव्याप्ति नहीं हो सकती। इसलिये अनुमान के इस प्रभेद का नाम 'अन्वयी' हुआ।

यद्यपि प्रकृत अनुमान को वार्तिककार ने 'अन्वयी' कहा है किन्तु परवर्ती नैयायिकों को 'अन्वयी' संज्ञा वैज्ञानिक नहीं प्रतीत हुई होगी क्योंकि 'अन्वय-व्यतिरेकी' अनुमान भी 'अन्वयी' होता है, अतएव 'अन्वयी' के स्थान पर 'केवलान्वयी' पद का प्रयोग करके उन्होंने 'अन्वयी' पद से 'अन्वयव्यतिरेकी' में होने वाली अतिव्याप्ति को दूर किया। यही स्थिति परवर्ती नैयायिकों की 'केवलव्यतिरेकी' संज्ञा के सम्बन्ध में भी है, अतएव परवर्ती नैयायिकों ने व्यतिरेक-व्याप्तिरहित 'सर्वमभिधेयं, प्रमेयत्वात्, घटवत्' अथवा 'घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्, पटवत्' इस प्रकार के अनुमानों को ही अन्वयी अथवा केवलान्वयी कहा है।

२. व्यतिरेकी—जब हेतु एवं साध्य पक्ष में रहते हैं, विपक्ष में नहीं रहते और सपक्ष का सर्वथा अभाव होने के कारण अन्वयव्याप्ति का ज्ञान नहीं हो पाता, तब वार्तिक के शब्दों में अनुमान 'व्यतिरेकी' होता है। उदाहरण के लिये—'यह जीवित शरीर आत्मरहित नहीं है, प्राण आदि के राहित्य की आपत्ति होने लगने के कारण'[1] यह अनुमान वाक्य लिया जा सकता है। अभिप्राय यह है कि प्रकृतस्थल में 'जीवित शरीर' पक्ष है, 'आत्मरहित न होना' साध्य है, 'प्राणादिराहित्य का प्रसङ्ग' हेतु है। घट एवं पट आदि विषय विपक्ष होंगे क्योंकि इनमें अनात्मधर्म—'प्राणादिराहित्य' पाया जाता है। सपक्ष का सर्वथा अभाव है क्योंकि यहाँ व्यतिरेकव्याप्ति ही मिलनी संभव है, जैसे—जहाँ-जहाँ सात्मकत्व का अभाव है वहाँ-वहाँ प्राणराहित्य है, जैसे घट। यहाँ अन्वयव्याप्ति संभव नहीं। हम सपक्ष को लेकर नहीं कह सकते कि—'जहाँ-कहाँ प्राण का अस्तित्व है वहाँ-वहाँ आत्मा का अस्तित्व है' क्योंकि पक्ष के अतिरिक्त कोई ऐसा पदार्थ नहीं मिलता जिसमें प्राणादिमत्त्व और सात्मकता को प्रदर्शित किया जा सके। अतएव सपक्ष के न मिलने के कारण केवल व्यतिरेकव्याप्ति होने के कारण इसे 'व्यतिरेकी' अनुमान कहा जाता है।

३. अन्वयव्यतिरेकी—जिस अनुमान में हेतु एवं साध्य अपने पक्ष और सपक्ष में रहें किन्तु विपक्ष में न रहें उसे 'अन्वयव्यतिरेकी' अनुमान कहते हैं। अन्वयव्यतिरेकी अनुमानस्थल में पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष तीनों का अस्तित्व

१. न्यायवार्तिक–१।१।५ पृष्ठ ४६

पाया जाता है। यहाँ अन्वय एवं व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्ति बन सकने के कारण अनुमान 'अन्वयव्यतिरेकी' माना जाता है, जैसे—'शब्द अनित्य है, सामान्य एवं विशेष से युक्त एवं बाह्येन्द्रिय द्वारा ज्ञेय होने के कारण, जैसे घट'। घट में 'सत्ता' नामक पर सामान्य एवं 'घटत्व' नामक अपर सामान्य रहता है, घट का चक्षु (बाह्येन्द्रिय) द्वारा ज्ञान भी होता है। घट को सभी व्यक्ति अनित्य भी मानते हैं। इसी प्रकार शब्द में भी 'सत्ता' नामक पर सामान्य और 'शब्दत्व' नामक अपर सामान्य रहता है। बाह्येन्द्रिय (श्रोत्र) द्वारा शब्द का प्रत्यक्ष होता है। अतएव शब्द भी अनित्य है[1]।

वार्तिककार के अनुमानप्रयोग के प्रकृत तीनों प्रभेदों का आधार प्रशस्तपाद एवं दिङ्नाग के हेतु की त्रिरूपता रही होगी। इन आचार्यों के अनुसार जब तीनों रूप एक ही हेतु के धर्म होते हैं तभी वह हेतु सद्धेतु होता है और वह अनुमापक हो पाता है। वैसे प्रशस्तपाद एवं दिङ्नाग के पूर्व वसुबन्धुकृत 'तर्कशास्त्र' नामक ग्रंथ में हेतु की त्रिरूपता का स्पष्ट उल्लेख मिलता है[2]। विभिन्न अनुमानस्थलों में सपक्ष एवं विपक्ष का अभाव देखकर वार्तिककार उसी एक हेतु से तीन हेतुओं की कल्पना कर लेते हैं और तीन हेतुओं के आधार पर अनुमान के तीन प्रभेद कर लेते हैं जिन्हें अन्वयी व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी कहा जाता है।

द्वितीय प्रकार के प्रभेद

१. पूर्ववत्—भाष्यकार ने 'पूर्ववत्' 'शेषवत्' एवं 'सामान्यतो दृष्ट' अनुमान के स्वरूप का स्पष्टीकरण विकल्प से किया है। 'पूर्ववत्' अनुमान का स्वरूप भाष्य में निम्नलिखितरूप में पाया जाता है[3]—

(क) जहाँ कारण से कार्य का अनुमान होता है पूर्ववत् माना जाता है[4],

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ४६

२. तर्कशास्त्र, पृष्ठ १४—"तस्य हेतोः पक्षधर्मः सपक्षसत्त्वं विपक्षव्यावृत्तिश्च त्रयलक्षणसम्पन्नत्वात् सोऽनपसरणीयः"
Tucci : Pre-Dinnaga Buddhist Text on Logic form Chinese Sources.

३. न्यायभाष्य—१।१।५

४. इस व्याख्या का आधार 'अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम्' इस वैशेषिक सूत्र (९।२।१) में प्रयुक्त 'करणम्' पद प्रतीत होता है।

जैसे मेघों के उमड़ने से भविष्य में वर्षा होने का अनुमान। बादलों का आकाश में उठना कारण है और वर्षा का होना कार्य।

(ख) 'पूर्ववत्' का अर्थ 'पूर्व परिस्थिति की भाँति' लेकर एक (लिंग) से दूसरे (लिंगी) के ज्ञान को 'पूर्ववत्' अनुमान होता माना जाता है, जैसे धूम से अग्नि के अनुमान-स्थल में धूम लिंग होगा और अग्नि लिंगी।

पूर्ववत् अनुमान के पहिले विकल्प के अनुसार भाष्यकार ने कारण से कार्य का अनुमान माना है किन्तु विचारणीय प्रश्न है कि कारण से कार्य का अनुमान कैसे हो सकता है ? यदि कारण के दर्शनमात्र से अज्ञातकार्य के अस्तित्व का ज्ञान माना जाये तो यह मान्यता भी उचित नहीं क्योंकि कारण के दर्शन से भी पूर्णतः अज्ञात कार्य का ज्ञान नहीं हो सकता[1], यह इसलिये कि अज्ञात एवं निर्णीत विषय के ज्ञान के लिये अनुमान नहीं किया जाता।

दूसरे, यदि यह माना जाये कि 'जहाँ कारण हो वहाँ कार्य भी हो, तो प्रकृत मान्यता उपयुक्त नहीं हो पाती क्योंकि कारण और कार्य का आधार एकनिष्ठ नहीं होता अपितु उनके आधार में भिन्नता भी पायी जाती है, जैसे पट अपने आधार-तन्तुसमूह में रहता है और तन्तुसमूह अपने आधार रूई के रेशों में रहता है[2]। यद्यपि तन्तु कारण है और पट कार्य तो भी दोनों के आधार भिन्न हैं। इस उदाहरण के अतिरिक्त यदि धूम और अग्नि का उदाहरण लिया जाये तो वस्तुस्थिति अधिक स्पष्ट हो सकती है। जहाँ आग रहती है वहाँ धुआँ नही रहता अर्थात् जिस स्थान को अवच्छिन्न करके आग रहती है उसी स्थान को अवच्छिन्न करके धूम नहीं रहता क्योंकि धूम और आग दोनों के परमाणु एक ही काल में एक ही स्थान को व्याप्त नहीं कर सकते। अनुमेय का जिज्ञासु व्यक्ति धुयें को देखता हुआ भी आग को नहीं देखता है। यदि धूम और अग्नि एकस्थाननिष्ठ होते तो दोनों दिखाई पड़ते।

वार्तिककार ने उक्त दोनों समस्याओं का समाधान किया है। यद्यपि कारण के ज्ञान से कार्य का अनुमान अवश्य होता है, परन्तु कार्य पूर्णतः अज्ञात नहीं रहता अपितु वह कारण के विशेषणरूप में ज्ञात रहता है और पक्ष में तत्काल प्रत्यक्षतः ज्ञात न होने के कारण उसका अनुमान होता है। इस प्रकार कार्य कारण से एक अदृश्य शृङ्खला द्वारा सम्बद्ध रहता है। कारण विशेष्य है और कार्य विशेषण। वस्तुतः अनुमेय कारण ही होता है किन्तु पूर्व अज्ञात कार्यरूप धर्म के विशेष्य रूप में। कारण प्रत्यक्षतः ज्ञात था अतएव उसे बिल्कुल अज्ञात

१. न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ४६-४७ २. न्यायवार्तिक—१।१।५ पृष्ठ ४६

नहीं मान सकते किन्तु कार्यविशिष्ट रूप में नहीं ज्ञात था अतएव उसे पूर्ण ज्ञात भी नहीं मान सकते। विशिष्ट कारण एक अंश में अर्थात् शुद्धरूप में ज्ञात था दूसरे अंश में अर्थात् कार्य-विशिष्ट-रूप में अज्ञात। इसलिये अनुमेय—कारण न तो पूर्णतः ज्ञात ही हो पाया और न पूर्णतः अज्ञात ही हो पाया। इस प्रकार कारण के विशेषणरूप में कार्य का अनुमान माना जा सकता है, स्वतंत्र नहीं। यही दृष्टिकोण अपनाकर वार्तिककार भाष्यकार के उदाहरण को भी अपने मत के अनुकूल बना लेते हैं[1]। भाष्यकार का उदाहरण है—'मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिः'। यहाँ कार्य और कारण में सामानाधिकरण्य नहीं है। वार्तिककार इसी उदाहरण को 'वृष्टिमन्त एते मेघाः..............' आदि रूप देते हैं। यहाँ 'वृष्टिमन्तः' शब्द 'मेघाः' के विशेषणरूप में प्रयुक्त हुआ है अतएव कारणरूप मेघ के ज्ञान के साथ कार्यरूप वृष्टि का सम्पर्क अवश्य स्थापित हो जाता है। सम्बन्ध स्थापित होने से कारण के ज्ञान के साथ ही कार्य का भी विशेषणविशेष्यभाव द्वारा आंशिक (सामान्य) ज्ञान हो जाता है। कार्य का पूर्णज्ञान अनुमान के उपरान्त ही होता है, इसीलिये अनुमान–द्वारा मेघ की वृष्टिमत्ता सिद्ध करने के लिये वार्तिककार ने कई हेतु उपस्थित किये हैं—

'मेघों का ज़ोर से गरजना, उनके साथ बहुत से बलाका नामक पक्षियों का होना, विद्युत् का चमकना और मेघों का ऊँचाई पर होना'। उक्त लक्षणों से युक्त मेघ सदा बरसा करते हैं, अतएव यह बरसेंगे यह अनुमान होता है।

दिङ्नाग के अनुमेय—संबंधी मत की आलोचना—उक्त विवेचन से यही सिद्ध होता है कि वार्तिककार लिङ्गीविशिष्ट लिङ्ग को अनुमेय मानते हैं, केवल लिङ्गी या लिङ्ग को नहीं। इनके अनुसार अग्निविशिष्ट धूम अनुमेय है केवल धूम या अग्नि नहीं[2]। दिङ्नाग ने 'प्रमाणसमुच्चय' में अग्निविशिष्ट देश को अनुमेय माना है[3]। वार्तिककार अग्निविशिष्ट देश अथवा अग्नि को अनुमेय नहीं मानते, क्योंकि :—

१. धूम और अग्निमान् देश में धर्म एवं धर्मी का संबंध नहीं है। जहाँ धूम का प्रत्यक्ष होता है वहाँ अग्निमान् देश नहीं है और अग्निमान् देश का

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।५ पृष्ठ ४७
२. 'अनुमेयोऽग्निमानयं धूम इति' (न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ५१)
३. 'अग्निमान् देश इति चेत्' (न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ५०),
'अत्र दिग्नागेन धूमादग्निरूपधर्मान्तरानुमानं अग्निदेशयोः सम्बन्धानुमानं च दूषयित्वाऽग्निदेशविशिष्टानुमानं समर्थितम्' (तात्पर्यटीका—१।१।५, पृष्ठ १७९),
Vidyabhusana : A Histosy of Indian Logic, p. 281.

भी प्रत्यक्ष नहीं होता है जिससे धूम की सत्ता का निश्चय किया जाये[1]। इस प्रकार धर्मधर्मीरूप से धूम एवं अग्नि के परस्पर सम्बद्ध न होने के कारण धूम के द्वारा अग्निविशिष्ट देश का अनुमान नहीं हो सकता।

२. धूम और अग्नि में कार्यकारणभाव सम्बन्ध नहीं है। धूम में अग्नि नहीं रहती और अग्नि में धूम नहीं रहता अपितु अपने-अपने कारण—परमाणुओं में रहते हैं। इसलिये धूम से अग्नि का भी अनुमान नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि धूम की अवयवावयविधारा और है तथा अग्नि की अवयवावयविधारा और है। दोनों की सम्मिलित अवयवावयविधारा नहीं है कि एक को अवयव और दूसरे को अवयवी मानकर दोनों में से उपादानोपादेयभावात्मक कार्यकारणभाव माना जा सके।

३. धूम और अग्नि दोनों किसी एक ही पदार्थ में साथ-साथ समवेत नहीं रहते हैं और न तो धूम एवं अग्नि मिलकर किसी एक पदार्थ के उपादान कारण ही होते हैं जिसमें वे दोनों एक ही साथ रह सकें और धूम के देखने से अग्नि या अग्निमान् देश का अनुमान न हो सके।

४. रूप एवं स्पर्श की भाँति धूम और अग्नि में अनिवार्य साहचर्य सम्बन्ध भी नहीं है जिससे एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान हो सके। धूम एवं अग्नि को पृथक्-पृथक् देखा जाता है फिर किस सम्बन्ध के आधार पर धूम से अग्नि का अनुमान होगा[2]।

वार्तिककार विशेष (सुपरीक्षित) धूम को लिंग मानते हैं। जैसे-तैसे थोड़े धुयें को देखकर उसे लिंग मानना उचित नहीं। लगातार देर तक अविच्छिन्न रूप में ऊपर उठते हुये धुयें को ही लिङ्ग मानकर 'धूम की अग्निमत्ता' का अनुमान होता है।

दिङ्नागपूर्व 'उपायहृदय' नामक बौद्ध-ग्रन्थ में पूर्ववत् अनुमान का स्वरूप भाष्य के विवेचन से भिन्न है। उपायहृदय के अनुसार छंगे (पाँच के बजाय छः उँगलियों वाले) बच्चे को बचपन में देखने के बाद वृद्धावस्था में उसकी उँगलियों को देखकर अनुमान किया जाता है कि यह वही व्यक्ति है जिसे उसके बचपन में देखा था[3]।

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ५० २. न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ५१

१. 'उपायहृदय' पृष्ठ १३

Tucci : Pre–Dinnaga Buddhist Text on Logic from Chinese Sources,

२. शेषवत्—भाष्यप्रतिपादित 'शेषवत्' अनुमान का स्वरूप विकल्प से इस प्रकार है[1]—

(क) कार्य से कारण के अनुमान को 'शेषवत्' कहा जाता है[2]। नदी की धारा में जल का मलिन होना तथा प्रवाह का बढ़ जाना आदि विशिष्ट परिवर्तन देखकर यह अनुमान किया जाता है कि वर्षा अवश्य हुई है। यहाँ वर्षा का होना कारण है जो कि अनुमेय है और नदी के प्रवाह की विशेषता कार्य है—प्रत्यक्ष है—लिङ्ग है।

(ख) जिस अनुमान से कुछ पदार्थों के त्याज्य हो जाने के कारण शेष अर्थात् अवशिष्ट पदार्थ या पदार्थों का बोध हो उसे 'शेषवत्' अनुमान कहा जाता है। 'शब्द' के इस लक्षण से कि वह 'सत् और अनित्य है' उसका गुण होना ही अनुमित होता है क्योंकि समवाय, विशेष और सामान्य के सत् अर्थात् गौणरूप में सत्तायोगी होने पर भी अनित्य न होने के कारण शब्द इन तीनों में से कोई एक नहीं हो सकता। केवल 'द्रव्य', 'गुण' एवं 'कर्म' ही सत् एवं अनित्य होते हैं। शब्द को द्रव्य भी नहीं माना जा सकता क्योंकि शब्द एक द्रव्य—समवायिकारणरहित द्रव्य आकाश—में समवेत रहता है। शब्द कर्म भी नहीं है क्योंकि एक कर्म से दूसरे कर्म की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु एक शब्द से दूसरे शब्द की उत्पत्ति होती है। अब अवशिष्ट पदार्थ 'गुण' रहा। अतएव 'शब्द' के गुण होने का अनुमान हुआ।

'उपायहृदय' नामक प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थ के 'शेषवत्' अनुमान का स्वरूप भाष्य सम्मत नहीं है। वहाँ सागर के थोड़े पानी से बाकी के खारी होने के ज्ञान को 'शेषवत्' अनुमान माना गया है[3]।

वार्तिककार का मत है कि शेषवत् अनुमान में कारण कार्य का विशेषण बन कर गुणीभूत होता है। नदी की धारा में जल की अधिकता एवं गति की तीव्रता के साथ ही साथ वर्षा द्वारा टूट कर बहते हुये फल एवं काष्ठ आदि

---

१. न्यायभाष्य—१।१।५

२. 'शेषवत्' प्रभेद की इस व्याख्या का आधार—'अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम्' इस वैशेषिक सूत्र (९।२।१) में प्रयुक्त 'कार्यम्' पद प्रतीत होता है।

३. उपायहृदय, पृष्ठ १३-१४
Tucci : Pre-Dinnaga Buddhist Text on logic from Chinese Sources.

पदार्थों को देखकर भूतकालिक वर्षा का अनुमान होता है[1]। यहाँ नदी के विशेषणरूप में 'भूतकालवृष्टिसम्बन्धिनी' जैसा कोई पद जोड़ लेना चाहिये ताकि कारण—ज्ञान और कार्यज्ञान के बीच शृङ्खला जुड़ सके अन्यथा पूर्णतः अज्ञात कारण का किसी प्रकार भी अनुमान न हो सकेगा। प्रकृत अनुमान के उदाहरण के सम्बन्ध में यह आक्षेप किया जाता है कि नदी की धारा का स्वरूप नदी का गुण है, इसलिये नदी की धारा ही कार्यरूप हेतु का पक्ष हुई, परन्तु भूतकालीन वृष्टि का स्थान नदी की वर्तमानकाल में प्रत्यक्षभूत धारा नहीं होती। इस प्रकार साध्य और हेतु का पक्ष समान न होने के कारण अनुमान की सिद्धि न हो सकेगी। वार्तिककार नदी को ही कारण और कार्य दोनों का पक्ष मानते हैं क्योंकि नदी के पिछले भाग (उद्गम की ओर) वृष्टि होती है जिसका सम्पर्क नदी से रहता है, अतएव पक्षभेद न होने के कारण अनुमान में कोई दोष नहीं है।

३. **सामान्यतोदृष्ट**—भाष्य में 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान का स्वरूप विकल्प से निम्नलिखित रूप में पाया जाता है[2]—

(क) दृष्ट परिस्थिति की समानता के आधार पर किया गया अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान कहा जाता है। किसी वस्तु जैसे सूर्य को एक स्थान पर देखने के बाद पुनः उसे यदि दूसरे स्थान पर देखा जाये तो उस गति का ज्ञान 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान से ही होता है। 'वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान को गतिशील होकर ही पहुँच सकती है' यह नियम सभी अव्यापक द्रव्यों के लिये सामान्यरूप से देखा जाता है, इसीलिये इस अनुमान को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा जाता है।

(ख) जिस अनुमान में लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध का विशेषतः कभी प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु अन्यत्र देखे हुये सम्बन्ध की समानता के आधार पर लिङ्ग के प्रत्यक्षज्ञान से अप्रत्यक्ष लिङ्गी का अनुमान होता है उसे सामान्यतोदृष्ट कहा जाता है[3]। इच्छा और आत्मा के लिङ्गलिङ्गीभावस्वरूप सम्बन्ध का प्रत्यक्ष किसी ने कभी नहीं किया। किन्तु इच्छा आदि गुणों के अस्तित्व में कोई व्यक्ति संदेह नहीं कर सकता। इच्छा आदि गुण होते हैं और चूँकि

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ४७ २. न्यायभाष्य—१।१।५

३. द्रष्टव्य—'प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि'

(वैशेषिक सूत्र—२।२।४)

सभी गुण किसी न किसी द्रव्य के आश्रित होते हैं, इच्छा भी किसी न किसी द्रव्य के आश्रित होगी। इच्छा (आत्मातिरिक्त) पृथ्वी-जल आदि द्रव्यों के आश्रित नहीं होती है। जिस आश्रय में इच्छा आदि गुण रहते हैं वही आत्मा है। यहाँ इच्छा लिंग है और आत्मा लिङ्गी। परन्तु दोनों के सम्बन्ध का धूम और अग्नि की भाँति प्रत्यक्ष कभी नहीं होता अतएव यहाँ आत्मसत्ता का ज्ञान 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान द्वारा हुआ माना जाता है।

वार्तिककार ने सामान्यतोदृष्ट अनुमान का लक्षण इस प्रकार किया है[1]—

'अकार्याकरणीभूतेन यत्राविनाभाविना विशेषेण विशेष्यमाणो धर्मी गम्यते तत् सामान्यतोदृष्टम्' अर्थात् जहाँ साध्य एवं हेतु में कार्यकारणभाव सम्बन्ध न होता हो अपितु अविनाभावयुक्त विशेष से विशिष्ट धर्मी का ज्ञान हो वहाँ सामान्यतोदृष्ट अनुमान माना जाता है। यह लक्षण भाष्य-प्रतिपादित प्रथम विकल्प (सामान्यतोदृष्टविषयक) को दृष्टि में रखकर किया गया है। लक्षण के साथ-साथ उदाहरण भी मिलता है। वार्तिककार का उदाहरण भाष्यकार के उदाहरण से सर्वथा भिन्न है। तात्पर्यटीकाकार ने पृथक् उदाहरण देने के निम्नलिखित कारणों का निर्देश किया है[2]—

१. भाष्यकार का उदाहरण दुःखबोध्य है,
२. भाष्यकार का उदाहरण 'शेषवत्' अनुमान के अन्दर आ जाता है,
३. बिना लक्षण का उदाहरण अनन्त प्रभेदों को जन्म दे सकता है।

वार्तिककार का उदाहरण है—बलाका द्वारा जल का अनुमान। बलाका पक्षी वहीं रहा करते हैं जहाँ जल होता है और जहाँ जल नहीं होता नहीं रहते। अतएव बलाका और जल में अविनाभाव सम्बन्ध है। किन्तु बलाका जल का कारण नहीं है। कार्यभूत जल का कारण जल के परमाणु हैं। 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान अविनाभाव सम्बन्ध पर स्थिर रहता है जब कि 'पूर्ववत्' और 'शेषवत्' दोनों अनुमानों का आधार कार्यकारणभाव सम्बन्ध है।

भाष्यकार ने सूर्य को भिन्न स्थानों पर देख कर उसकी अप्रत्यक्ष गति का ज्ञान सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा माना है किन्तु सूर्य की गति के अनुमान में किसी लिंग का सम्बन्ध नहीं प्राप्त होता है और बिना सम्बन्ध हुये एक से दूसरे का ज्ञान नहीं हो सकता[3]। बिना सम्बन्ध के ज्ञान से अनुमेय का ज्ञान

१. न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ४७
२. तात्पर्यटीका—१।१।५, पृष्ठ १७६
३. न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ४७-४८

मानने पर किसी पदार्थ से किसी भी असम्बद्ध पदार्थ के ज्ञान होने की आपत्ति होगी। सूर्यमण्डल किसी पदार्थ से सम्पृक्त नहीं दिखाई पड़ता और गति के ज्ञान के लिए सम्पर्क की अपेक्षा होती है। सूर्य के साथ आकाश एवं दिक् के संयोग का प्रत्यक्ष मानना भी सम्भव नहीं है क्योंकि दो प्रत्यक्ष पदार्थों का ही संयोग प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय हो सकता है। आकाश और दिक् नीरूप हैं—अप्रत्यक्ष हैं, अतएव उनसे संयुक्त हुए पदार्थों के संयोग का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। हाँ, सूर्यमण्डलमात्र का प्रत्यक्ष होता है। किन्तु केवल वस्तु के प्रत्यक्ष से अर्थात् बिना लिङ्गप्रत्यक्ष के लिङ्गी का अनुमान नहीं हो सकता।

उक्त समस्या का समाधान वार्तिककार ने किया है। वस्तुतः प्रकृतस्थल में दो अनुमान हैं—एक तो सूर्य के देशान्तरप्राप्ति का अनुमान और दूसरा देशान्तरप्राप्ति से उसकी गति का अनुमान। देशान्तरप्राप्ति का अनुमान दो प्रकार से होता है—

(१) सूर्य स्थान बदलता है क्योंकि वह पूर्व की ओर मुख के सम्मुख दिखाई पड़ता है और यदि हम अपने केन्द्र पर स्थित रहते हुए पीछे की ओर मुड़ जायें तो पुनः वह मुख के सम्मुख दिखाई पड़ता है।

(२) सूर्य गतिशील होता है, क्योंकि बिना हिले टकटकी लगाकर उसे देखते रहने पर कुछ समय बाद वह उस स्थान पर नहीं दिखाई पड़ता यद्यपि बीच में किसी विषय का व्यवधान नहीं पड़ता। स्थान-परिवर्तन गतिपूर्वक ही होता है, इससे अनुमान होता है कि सूर्य गतिशील रहता है।

भाष्य में लिंग और लिङ्गी के विशेषतः सम्बन्ध का प्रत्यक्ष न होने पर भी लिङ्ग से लिङ्गी का ज्ञान सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा माना गया है[१]। परन्तु लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध के प्रत्यक्ष का अभाव या तो वर्तमान काल में माना जा सकता है अथवा प्रत्येक काल में। यदि उक्त सम्बन्ध के ज्ञान का अभाव वर्तमानकाल में माना जाये तो यह परिस्थिति अनुमान के सभी प्रभेदों में होती है केवल सामान्यतोदृष्ट में ही नहीं होती और यदि उक्त सम्बन्ध के ज्ञान का अभाव सदैव लिया जाये तो अनुमान ही न हो सकेगा।

उक्त आक्षेप का उत्तर वार्तिककार ने दिया है[२]—प्रकृत लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध का विशेषतः ज्ञान इतर विषयों के लिङ्ग एवं लिङ्गी के सम्बन्ध-ज्ञान पर निर्भर करता है। इच्छा और आत्मा के अतिरिक्त अन्य विषयों के बारे में हम ठीक तरह से जानते हैं कि गुण (लिङ्ग) तथा गुणी (लिङ्गी)

१. न्यायभाष्य—१।१।५ २. न्यायवार्तिक—१।१।५, पृष्ठ ५१-५२

में सम्बन्ध होता है, जैसे रूप आदि गुण का पृथ्वी-जल आदि द्रव्य के साथ सम्बन्ध अवश्य होता है, यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है।

वार्तिककार यहाँ आत्मा आदि की पूर्णरूप से सिद्धि दो अनुमानों के द्वारा मानते हैं। एक अनुमान के द्वारा इच्छा आदि गुणों में परतन्त्रता सिद्ध होती है और दूसरे अनुमान से उन्हें आत्मतन्त्र (आत्मा में रहनेवाले) सिद्ध किया जाता है। अतः इच्छा आदि गुणों के आश्रय के रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। पहिले अनुमान का स्वरूप इस प्रकार है— 'इच्छा आदि परतन्त्र हैं, गुण होने के कारण, जैसे रूप'। दूसरे अनुमान में तीन हेतु देकर इच्छा आदि गुणों को आत्मतन्त्र सिद्ध किया गया है—

१. परिशेष होने के कारण,
२. स्वयं ज्ञेय होने कारण,
३. ब्राह्य इन्द्रियों द्वारा अज्ञेय होने के कारण।

पृथ्वी आदि सभी द्रव्यों में अपने-अपने गुण रहते हैं जिनका प्रत्यक्ष सभी लोग करते हैं। इच्छा आदि भी गुण हैं जिनका मानस प्रत्यक्ष सभी को होता है परन्तु वे इच्छा आदि गुण आत्मातिरिक्त पृथ्वी आदि द्रव्यों में प्रत्यक्ष नहीं किये जाते हैं अतः उन्हें आत्माश्रित ही मानना होगा। इस प्रकार परिशेषात् इच्छा आदि गुणों के आश्रय रूप में आत्मा की सिद्धि हो जाती है। दूसरे, अपनी इच्छा एवं ज्ञान आदि का अनुभव केवल अपने को ही होता है। किसी व्यक्ति की इच्छा का प्रत्यक्ष अनुभव अन्य व्यक्ति द्वारा सम्भव नहीं। परन्तु अन्य द्रव्यों के गुणों का अनुभव बहुत से व्यक्ति एक ही साथ कर सकते हैं, जैसे पृथ्वी आदि के गन्ध आदि गुणों का प्रत्यक्ष एक ही समय अनेक व्यक्ति करते हैं किन्तु इच्छा आदि पदार्थ ऐसे नहीं होते, अतएव उन्हें आत्मातिरिक्त पृथ्वी आदि का गुण नहीं माना जा सकता। किन्तु हैं वे भी गुण ही और गुण बिना गुणी का रह नहीं सकता, अतः इच्छा आदि गुणों के गुणीरूप में आत्मा को मानना आवश्यक है। तीसरे, अन्य द्रव्यों के गुण बाह्य इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं किन्तु इच्छा आदि गुणों का प्रत्यक्ष केवल मन से होता है और आत्मा भी बाह्य इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतएव आत्मा और इच्छा आदि गुण दोनों अतीन्द्रिय (बाह्य इन्द्रिय के अविषय) होने के नाते एक जैसे हैं इसलिए इच्छा आदि गुण आत्मा के ही हैं। आकाश, काल और दिक् द्रव्य अतीन्द्रिय होते हुए भी इच्छा के आधार नहीं माने जा सकते क्योंकि अनुभव द्वारा ऐसा नहीं सिद्ध होता। 'मन'

पदार्थ में महत्त्व न होने के कारण उसके गुण का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। किन्तु इच्छा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है अतएव इच्छा आदि मन के गुण भी न होकर आत्मा के गुण हैं। इस प्रकार इच्छा आदि के द्वारा इच्छा आदि के आधार-आत्मा की सत्ता का अनुमान होता है।

परार्थानुमान

जिस अनुमान से दूसरे को अनुमिति होती है परार्थानुमान कहा जाता है। न्यायवाक्य का प्रयोग दूसरे को अनुमिति कराने के लिए होता है इसी लिए वार्तिककार ने न्यायवाक्य के अवयवों को 'परप्रतिपादक' कहा है[१]। न्यायदर्शन में अवयवों की संख्या पाँच मानी गई है[२]। सूत्रों में ही प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पाँच अवयवों का प्रतिपादन मिलता है। भाष्यकार ने उक्त पाँच अवयवों के अतिरिक्त जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास को मिलाकर दस अवयवों के मानने वाले प्राचीन नैयायिकों का उल्लेख किया है[३]। दिङ्नाग के पूर्व बौद्धदर्शन में भी पाँच अवयव माने गये हैं,[४] किन्तु दिङ्नाग ने पाँच के स्थान पर पक्ष, हेतु और दृष्टान्त केवल तीन ही अवयवों को मानना प्रारम्भ किया[५]।

वार्तिककार ने पाँच से अधिक और पाँच से कम अवयवों के मानने की आलोचना की है। न्यायसम्मत पाँच अवयवों के अतिरिक्त जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन एवं संशयव्युदास अनुमानवाक्य के अंश नहीं हो पाते। जिज्ञासा और संशय आदि प्रतिज्ञा आदि के समान प्रयुक्त होकर दूसरे व्यक्ति को अनुमान नहीं करा सकते। दूसरी बात यह है कि न्यायवाक्य के प्रयोक्ता व्यक्ति में जिज्ञासा और संशय नहीं होते हैं। अशक्य एवं प्रयोजनहीन वस्तु को कोई नहीं जानना चाहता यह बात लोकसिद्ध है, इसलिये इन्हें भी साधक वाक्य का अवयव नहीं माना जा सकता। यही स्थिति संशयव्युदास के सम्बन्ध

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।३२ पृष्ठ १०७ २. न्यायसूत्र—१।१।३२

३. न्यायभाष्य—१।१।३२

४. 'यथा पंचावयववाक्यसाधनार्थम्' (तर्कशास्त्र-पृष्ठ ५)

Tucci—Pre—Dinnaga Buddhist Texts on Logic from Chinese Sources.

५. पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थ प्रतिपाद्यत इति' (न्यायप्रवेश पृष्ठ १)

तथा

न्यायवार्तिक—१।१।३२, पृष्ठ १०७

में है। पाँच से कम अवयव वाक्य के अभिप्राय को पूरा नहीं कर पाते। इसलिये पाँच अवयव ही मानने चाहिये[1]।

न्यायवाक्य में अवयवों का प्रयोग निम्नलिखित रूप में होता है—

(क) साधर्म्यरूप

प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है,
हेतु—उत्पत्तिशील होने के कारण,
उदाहरण—उत्पन्न होने वाली वस्तु अनित्य देखी जाती है, जैसे घड़ा,
उपनय—वैसे ही यह (शब्द) है,
निगमन—इसलिये वैसा है (शब्द अनित्य है)।

(ख) वैधर्म्यरूप

प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है,
हेतु—उत्पत्तिशील होने के कारण,
उदाहरण— उत्पन्न न होने वाली वस्तु नित्य देखी जाती है, जैसे आत्मा,
उपनय—वैसा यह (शब्द) नहीं है,
निगमन—इसलिये वैसा है—शब्द अनित्य है।

प्रतिज्ञा

न्यायवाक्य का सर्वप्रथम अवयव 'प्रतिज्ञा' है। न्यायसूत्र के अनुसार प्रतिज्ञा का लक्षण–'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा' है[2], इसका अर्थ यह है कि साध्य का निर्देश प्रतिज्ञा कही जाती है। साध्य का अर्थ 'प्रज्ञापनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी' होता है[3]। 'शब्द अनित्य है' यहाँ अनित्यत्व धर्म से विशिष्ट धर्मी—शब्द का निर्देश प्रतिज्ञा हुई। वार्तिक में इस लक्षण के सम्बन्ध में आक्षेप एवं उसके समाधन पाये जाते हैं—यदि धर्म प्रज्ञापनीय है तो विशेषण नहीं बन सकता क्योंकि विशेषण सदैव ज्ञात ही रहता है और यदि धर्म ज्ञात है तो फिर साध्य नहीं हो सकता[4]। परन्तु यह आक्षेप उचित नहीं है क्योंकि अनित्यत्व रूप शब्द का धर्म सिद्ध भी है और साध्य भी। घट आदि पदार्थों में रहने वाली अनित्यता सिद्ध है और शब्द में रहने वाली साध्य है। इस प्रकार अनित्यत्व धर्म न तो पूर्णतः अज्ञात ही है और न पूर्णतः ज्ञात ही है। इसलिये अनुमान हो सकेगा। परन्तु केवल अनित्यत्व धर्म ही साध्य नहीं है अपितु अनित्यत्व

१. न्यायवार्तिक—१।१।३२, पृष्ठ १०८
२. न्यायसूत्र—१।१।३३ ३. न्यायभाष्य—१।१।३३
४. न्यायवार्तिक—१।१।३३ पृष्ठ १०९

धर्म से विशिष्ट धर्मी साध्य है। यदि केवल अनित्यत्व धर्म को साध्य माना जायेगा तो साध्य और हेतु का सम्बन्ध स्थिर न हो सकेगा क्योंकि प्रकृतस्थल में 'शब्द अनित्य है, कृतक होने के कारण' यहाँ 'कृतक (उत्पत्तिशील) होने के कारण' यह हेतु धर्मी-शब्द में ही प्रयुक्त हो सकता है क्योंकि अनित्यत्व धर्म कृतक नहीं होता। हमारा अनुभव इस बात का साक्षी नहीं है कि 'अनित्यत्व' उत्पन्न और नष्ट होता हो, जब कि शब्द उत्पत्तिविनाशशील हो सकता है। अनित्यत्व सदैव विद्यमान रहता है। वह उत्पन्न और नाश होने वाला पदार्थ नहीं। अतएव वार्तिककार ने धर्मविशिष्ट धर्मी को साध्य मानने का अनुमोदन किया है।

बौद्ध 'साध्यनिर्देश ही प्रतिज्ञा है' या 'साध्यनिर्देश प्रतिज्ञा ही है' इस प्रकार अवधारण-वाक्य की कल्पना करके न्यायसम्मत प्रतिज्ञालक्षण में दोष दिखलाते हैं। परन्तु यह कल्पना इसलिये समीचीन नहीं कि अवधारण केवल उन्हीं स्थलों पर होना चाहिये जहाँ एक वाक्य या पद के अनेक अर्थ होते हैं, न कि सभी स्थलों पर[1]।

प्रतिज्ञा के लक्षण के सम्बन्ध में विपक्षी की ओर से एक आपत्ति यह भी उठाई गई है कि जब हेतु अथवा दृष्टान्त सिद्ध नहीं रहते अपितु उन्हें भी सिद्ध किये जाने की अपेक्षा होती है तब उन्हें साध्य मानना होगा। तदनुसार उनका निर्देश प्रतिज्ञा मानना होगा। उदाहरण के लिये 'नित्यः शब्दः, चाक्षुषत्वात्' इस वाक्य-प्रयोगस्थल में हेतु बनाया जाने वाला 'चाक्षुषत्व' पक्ष में सिद्ध नहीं है-उभयवादिसम्मत नहीं है, अतएव उसे भी साध्य ही माना जायेगा। ऐसी परिस्थिति में उसके निर्देश को भी प्रतिज्ञावाक्य कहना पड़ेगा। इसी प्रकार 'नित्यः शब्दः अस्पर्शवत्त्वात्, बुद्धिवत्' यहाँ दृष्टान्तभूत बुद्धि की नित्यता परीक्ष्य है-साध्य है, अतएव बुद्धिरूप धर्मी में किया जाने वाला अस्पर्शवत्त्व का निर्देश भी प्रतिज्ञावाक्य कहा जाने लगेगा।

वार्तिककार इसका उत्तर देते हुये कहते हैं कि प्रतिज्ञा के लक्षण में 'साध्य' पद का प्रयोग करने से 'सिद्ध' एवं 'अनुपपद्यमानसाधन' पदार्थों का निरास हो जाता है। 'अनुपपद्यमानसाधन' उस पदार्थ को कहते हैं जिसको सिद्ध करने में कोई साधन कृतकार्य न हो सके। शब्द में चाक्षुषत्व एवं बुद्धि में अस्पर्शवत्त्व किसी भी साधन से सिद्ध नहीं होते हैं, इसलिये शब्द में चाक्षुषत्व अनुपपन्न ही माना जायेगा, उसे साध्यभूत नहीं कहा जा सकेगा। इसलिये उसके निर्देश को अर्थात् 'चाक्षुषत्ववान् शब्दः' इस निर्देश को किसी भी प्रकार 'साध्यनिर्देश'

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।३३, पृष्ठ १०९–१०

नहीं कहा जा सकता जिसके आधार पर उसमें प्रतिज्ञावाक्यता की आपत्ति दी जा सके। इसी प्रकार 'नित्यः शब्दः, अस्पर्शवत्त्वात्, बुद्धिवत्' इस न्यायप्रयोग-स्थल में 'अस्पर्शा बुद्धिः' इस दृष्टान्तधर्मिक हेतुनिर्देश में भी प्रतिज्ञावाक्यता की आपत्ति इसलिये नहीं दी जा सकती कि बुद्धि की अस्पर्शता सर्वथा निर्विवाद होने के कारण सिद्ध ही कही जायेगी, साध्य नहीं कही जायेगी। ऐसी परिस्थिति में उक्त दृष्टान्तधर्मिक साधन-निर्देशात्मक 'अस्पर्शा बुद्धि' इस निर्देश को साध्य-निर्देश नहीं कहा जा सकता है[1]।

वार्तिककार ने 'नित्यः शब्दः' इत्यादि असङ्गत प्रतिज्ञा के इस विचार के अवसर पर 'अचन्द्रः शशी' इत्यादि असङ्गत प्रतिज्ञावाक्य के प्रयोगस्थल में भी आपन्न होने वाले 'स्ववचनविरोध' आदि दोषों को पक्ष का दोष न मानकर तादृश प्रतिज्ञावाक्यों के प्रयोक्ताओं का ही दोष माना है[2]। उनका कथन यह है कि पक्ष एक प्रकार की वस्तु है और वस्तुधर्म में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। हाँ, उसके समझने और कहने में त्रुटि हो सकती है। कहने की त्रुटि भी वाचक शब्द में नहीं मानी जानी चाहिये अपितु वक्ता की ही त्रुटि स्वीकार की जानी चाहिये। पक्षपरक होने के कारण यदि स्ववचनविरोध आदि दोष पक्ष के दोष माने जायेंगे तो हेत्वाभास भी परम्परया पक्ष के दोष माने जाने लगेंगे। किन्तु ऐसा नहीं होता, अतएव स्ववचनविरोध आदि दोष पक्ष एवं तद्घटित प्रतिज्ञा के दोष नहीं हो सकते,[3] प्रत्युत तादृश प्रतिज्ञावाक्य के प्रयोक्ता के ही दोष माने जाने चाहिये।

वसुबन्धु के प्रथम पक्षलक्षण की आलोचना—वार्तिककार ने प्रतिज्ञा-विषयक अपने मत को निर्दोष सिद्ध करके वसुबन्धु के पक्षविषयक मत की आलोचना की है। प्राचीन दार्शनिक प्रतिज्ञागतपक्ष को ही साध्य मानते थे। वसुबन्धु का पक्षलक्षण इस प्रकार है—'पक्षो यः साधयितुमिष्टः' अर्थात् जिसे सिद्ध करना इष्ट होता है उसे पक्ष कहते हैं[4]। पक्ष की हेतु और उदाहरण में अतिव्याप्ति दूर करने के लिये ही प्रकृत पक्ष के लक्षण में 'इष्ट' पद का प्रयोग

१. न्यायवार्तिक—१।१।३३, पृष्ठ ११०-११
तात्पर्यटीका—१।१।३३, पृष्ठ २६८
२. न्यायवार्तिक—१।१।३३, पृष्ठ ११४
३. न्यायवार्तिक—१।१।३३, पृष्ठ ११५
४. न्यायवार्तिक—१।१।३३ पृष्ठ ११३
तथा—'तथा पक्षो यः साधयितुमिष्ट इत्यत्रापि च वसुबन्धुलक्षणे विरुद्धार्थानिराकृतग्रहणं न कर्तव्यम्।' (तात्पर्यटीका—१।१।३३, पृष्ठ २७३)

किया गया है। वार्तिककार इस लक्षण में प्रयुक्त साध्य (साधयितुं) शब्द से हेतु एवं उदाहरण रूप अनीप्सित अर्थात् असाध्य (सिद्ध) अवयवों का निराकरण मानते हैं। पुनश्च असम्भव एवं विरुद्ध वाक्यों का निराकरण प्रत्यक्ष प्रमाण एवं लोकप्रसिद्धि द्वारा ही हो जाता है, इसलिये पक्ष के लक्षण में 'इष्ट' पद का प्रयोग व्यर्थ है। 'चूंकि सभी व्यक्ति इष्ट की ही सिद्धि या प्राप्ति करना चाहते हैं, अनिष्ट की नहीं क्योंकि अनिष्ट के विषय में किसी को सिसाधयिषा नहीं होती है, अतएव स्वभावप्राप्त विषय का लक्षण में समावेश करना ज्ञातज्ञापन होने के कारण समीचीन नहीं।

वसुबन्धु के द्वितीय पक्षलक्षण की आलोचना—वार्तिककार द्वारा आलोचित एवं तात्पर्यटीकाकार द्वारा उद्धृत वसुबन्धु का द्वितीय पक्षलक्षण इस प्रकार है—

'साध्यत्वेनेप्सितः पक्षो विरुद्धार्थानिराकृतः'।

वार्तिककार इस लक्षण को इसलिये दोषयुक्त मानते हैं कि लक्षणगत 'ईप्सित' पद के द्वारा ही यह प्राप्त हो जाता है कि अभी पक्ष में न तो साध्य का निर्णय हो चुका है और न साध्याभाव का, अतः 'विरुद्धार्थानिराकृतः' यह अंश व्यर्थ ही होने लगता है।

बौद्धों के एक अन्य पक्षलक्षण की आलोचना—'वादविधानटीका'[1] नामक बौद्धग्रन्थ के पक्षलक्षण में 'साधयितुं' शब्द के साथ ही 'स्वयं' शब्द का

---

१. ऐसा प्रतीत होता है कि राहुल सांकृत्यायन की दृष्टि में 'वादविधानटीका', 'वादविधान' एवं 'वादविधि' एक ही ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न नाम हैं। इन्होंने 'वादविधान' एवं 'वादविधि' को एक ही ग्रन्थ मानते हुए उसे वसुबन्धु की कृति स्वीकार किया है। राहुल के अनुसार 'वादविधान' अथवा 'वादविधि' की आलोचना उद्योतकर ने की है। परन्तु उद्योतकर ने 'वादविधि' एवं 'वादविधानटीका' का ही (१।१।३३ पृष्ठ ११७ पर) उल्लेख किया है। अतएव प्रतीत होता है कि राहुल का 'वादविधान' से तात्पर्य 'वादविधानटीका' से ही है। देखिये :—

'The first author who wrote a definite work on logic is Vasubandhu, he may be truly called the father of the Buddhist logic.

His work, Vādavidhāna or Vādavidhi, is several times quoted and criticised by Uddyotakara Bhāradvāja.'

(Introduction to Vādanyāya by Dharmakirti. p. II)

प्रयोग मिलता है। वार्तिककार यहाँ 'स्वयं' शब्द के प्रयोग को व्यर्थ मानते हैं क्योंकि 'साधयितुं' शब्द से स्वयं अर्थ की प्राप्ति स्वतः हो जाती है जैसे 'स्नान करने जाता हूँ' के स्थान पर 'स्वयं स्नान करने जाता हूँ' ऐसा वाक्यप्रयोग कोई नहीं करता। वार्तिककार ने इसके सम्बन्ध में निम्न प्रकार से युक्ति दी है[1]—'तुसुन्' प्रत्यय समानकर्तृकता के बोधस्थल में ही प्रयुक्त होता है' जैसे 'स्नातुं गच्छामि' (स्नान करने जाता हूँ) इस प्रयोगस्थल में। कोई भी स्वस्थ व्यक्ति ऐसा वाक्यप्रयोग नहीं करता कि 'मैं स्वयं स्नान करने जाता हूँ'। कहने का तात्पर्य यह है कि 'स्नान करने जाता हूँ, ऐसे वाक्य के प्रयोगस्थल में 'स्नान' और 'जाना' ये दो क्रियायें बोध का विषय होती हैं तथा दोनों ही क्रियायें एककर्तृक ही हैं, भिन्नकर्तृक नहीं हैं, यह भी अनायास ही प्रतीत होता है। अतः वहाँ एककर्तृकता को समझाने के लिये 'स्वयं' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। यह परिस्थिति सार्वत्रिक होने के कारण 'साधयितुमिष्टः' (साधन करने की इच्छा का विषय) इस प्रयोगस्थल में 'सिद्धि' एवं 'इच्छा' इन दोनों में एककर्तृकता 'स्वयं' शब्द के प्रयोग के बिना भी समझी जा सकती है, अतः 'स्वयं' शब्द का प्रयोग व्यर्थ ही माना जायेगा।

वसुबन्धु का प्रतिज्ञालक्षण—वसुबन्धु के 'वादविधि' नामक ग्रन्थ में प्रतिज्ञा का लक्षण 'साध्याभिधानं प्रतिज्ञा' है। यदि 'साध्य' शब्द का अर्थ पक्ष लिया जायेगा तो गौरव दोष आपतित होगा क्योंकि पक्ष के ही प्रसंग में प्रकृत लक्षण का निर्माण हुआ है, अतएव पक्ष के पर्याय साध्य के स्थान पर 'तत्' शब्द का प्रयोग होना चाहिये था और इस प्रकार प्रतिज्ञा का लक्षण होना चाहिये था—'तदभिधानं प्रतिज्ञा'। किन्तु यदि इस लक्षण को पक्ष की अपेक्षा नहीं है अपितु लक्षण स्वतंत्र है, तब तो यही मान्य होगा कि यह लक्षण नैयायिकों के लक्षण के ही समान है, अतएव नैयायिकों के प्रतिज्ञालक्षण में दोष मानने पर बौद्धों को इस लक्षण में भी दोष मानना पड़ेगा[2]।

हेतु

उदाहरण के साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के द्वारा जो साध्य के सिद्ध होने का साधन होता है उसे हेतु कहते हैं। हेतु दो प्रकार के माने गये है—पहिला साधर्म्यहेतु और दूसरा वैधर्म्यहेतु। सूत्र के अनुसार हेतु का लक्षण—'उदाहरण-

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।३३, पृष्ठ ११७

२. न्यायवार्तिक—१।१।३३, पृष्ठ ११७–११८

साधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः'—'तथा वैधर्म्यात्'[1] है। 'साधर्म्य' शब्द का अर्थ समानधर्मता है। यहाँ समानधर्मता साध्य (पक्ष) और उदाहरण के बीच मानी गई है अर्थात् जो धर्म उदाहरण में हो वैसा ही, न कि वही, साध्य (पक्ष) में भी हो। जो धर्म उदाहरण में होता है वही धर्म साध्य में नहीं हो सकता क्योंकि एकविषयगत धर्म दूसरे का धर्म नहीं हो सकता। उक्त हेतु के लक्षण में यदि 'उदाहरण' पद को छोड़कर केवल 'साधर्म्य' पद का प्रयोग किया जाये तो 'अनुदाहरण' के साधर्म्य से भी हेतु मानने की आपत्ति होगी। अतएव उदाहरणाभासों की निवृत्ति के लिये हेतु के लक्षण में 'उदाहरण' पद का प्रयोग किया गया है[2]।

किन्तु 'उदाहरणसाधर्म्य का स्पष्ट अर्थ 'उदाहरण से साध्य का साधर्म्य' ही माना जायेगा अर्थात् 'उदाहरणसाधर्म्य' का अभिधेय अर्थ 'अनुदाहरण-साधर्म्य की निवृत्ति' किसी प्रकार नहीं हो सकता। इसी प्रकार के प्रश्न को दृष्टि में रखकर वार्तिककार ने 'उदाहरण' और 'साधर्म्य' इन दोनों पदों के साथ-साथ अवधारणार्थक 'एव' (ही) शब्द का प्रयोग किया है। 'उदाहरण की ही केवल समानता' होने के कारण हेत्वाभासों का निवारण हो जाता है[3]।

दिङ्नाग का आक्षेप—दिङ्नाग का आक्षेप है कि 'उदाहरणसाधर्म्य' और 'साध्यसाधन' में कुछ भी अन्तर नहीं, क्योंकि 'साध्यसाधन' 'उदाहरण-साधर्म्य' से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार हेतु के लक्षण में एक ही अर्थ के वाचक दो पदों का प्रयोग उचित नहीं[4]। वस्तुतः हेतु का लक्षण होना चाहिये था 'उदाहरणसाधर्म्य हेतुः'। दूसरा दोष यह भी दिखलाया गया है कि 'उदाहरणसाधर्म्य' और 'साध्यसाधन' पदों में विभक्तिव्यत्यय है। यदि 'उदाहरणसाधर्म्य' और 'साध्यसाधन' में परस्पर विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध होता तो विभक्तिव्यत्यय न होता। कोई व्यक्ति 'नीलात् उत्पलम्' का प्रयोग न करके 'नीलम् उत्पलम्' का ही प्रयोग करता है। 'साधर्म्यात्' में प्रयुक्त पञ्चमी

---

१. न्यायसूत्र—१।१।३४-३५

२. न्यायवार्तिक—१।१।३४, पृष्ठ ११८

३. न्यायवार्तिक—१।१।३४, पृष्ठ ११९

४. 'उदाहरणसाधर्म्याच्च किमन्यत्साध्यसाधनम्'
न्यायवार्तिक—१।१।३४, पृष्ठ १२०

विभक्ति से पार्थक्य का ज्ञान होता है जैसे 'वह गाँव से जाता है' इस वाक्य में 'वह' और 'गाँव' में भिन्नता का ज्ञान होता है किन्तु 'उदाहरणसाधर्म्य' के अतिरिक्त 'साध्य का साधन' और कुछ नहीं होता है। इसलिये यहाँ पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग उचित नहीं। तीसरा दोष यह है कि 'उदाहरण के साधर्म्य' को हेतु और 'साध्यसाधन' को उसका विशेषण मानने पर हेतु अभिधेय (वाच्य) होगा किन्तु हेतु को अभिधेय मानना उचित नहीं। हेतु न्यायवाक्य का अवयव है जिसे सदा वाचक ही होना चाहिये। प्रतिज्ञा के लक्षण में 'निर्देश' शब्द प्रतिज्ञा के अभिधान—वाचक होने का ही सूचक है। हेतु और प्रतिज्ञा के वाच्य और वाचक होने के कारण न्यायवाक्य का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाता, अतएव बौद्ध प्रतिज्ञा और हेतु दोनों के लक्षणों को ठीक नहीं मानते[1]।

उत्तर—वार्तिककार हेतु के लक्षण में इन तीनों दोषों को नहीं मानते। इन्होंने 'साध्यसाधन' पद को हेतु के लक्षण में अनिवार्य माना है, अन्यथा केवल उदाहरण की समानधर्मता को हेतु मानने पर हेतु व्यभिचारी भी हो सकता है और उससे साध्य की सिद्धि नहीं भी हो सकती है[2]।

'उदाहरणसाधर्म्यात्' और 'उदाहरणसाधर्म्यम्' में कोई अन्तर नहीं। " 'सन्धि', 'विग्रह' आदि 'से' राजनीति के छः अंग–'षड्गुण' सम्पन्न होते हैं" ऐसे वाक्यप्रयोगस्थल में संधि-विग्रह आदि अंग 'षड्गुण' से पृथक् नहीं हैं, यद्यपि 'से'—रूप पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। यदि ऐसा संभव न माना जायेगा तो बौद्धों का हेतुलक्षण—'हेतुर्विपक्षाद्विशेषः' विभक्तिव्यधिकरण से युक्त होने से त्रुटिपूर्ण होगा। दूसरे, पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग निमित्त अर्थ में भी होता है[3]।

वार्तिककार हेतु-रूप वाक्य के अवयव को वाचक मानने के साथ-साथ वाच्य भी मानते हैं, जैसे 'उसने क्या कहा'? के उत्तर में "उसने 'गाय' यह कहा" में 'यह' शब्द 'गाय' शब्द का वाचक है[4]। अभिप्राय यह है कि वाचकभूत वह शब्दात्मक आकाशविशेषगुण 'शब्द' आदि शब्दों से कथित

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।३४, पृष्ठ १२०
२. न्यायवार्तिक—१।१।३४, पृष्ठ १२०
३. न्यायवार्तिक—१।१।३४, पृष्ठ १२१
४. न्यायवार्तिक—१।१।३४, पृष्ठ १२१

होता है, इसलिये वाच्यता और वाचकता ये दोनों इस प्रकार अत्यन्त विरुद्ध नहीं है कि वाच्य वाचक न हो पाये।

वार्तिककार ने ऐसे साधर्म्यात्मक अव्यभिचारी हेतु को 'वीत' कहा है जो स्वरूपतः किसी भाववस्तु के अस्तित्व का परिच्छेदक अर्थात् ज्ञापक हो। वैधर्म्य हेतु को ही 'अवीत' कहा गया है। अवीत हेतु अव्यभिचारी परपक्ष-प्रतिषेधक और व्यतिरेकी होता है। इस स्थल में एक धर्म की निवृत्ति के दर्शन से दूसरे धर्म की निवृत्ति का ज्ञान होता है। वार्तिककार ने भाष्यकार के प्रकृत 'वैधर्म्य'-हेतु-सम्बन्धी उदाहरण को अनुपयुक्त बताया है क्योंकि वह हेतु केवल व्यतिरेकी ही नहीं अन्वयी भी होता है। वार्तिककार अवीतरूप से (केवल) व्यतिरेकी हेतु को ही स्वीकार करते हैं, अतः भाष्योक्त उदाहरण, जहाँ का हेतु अन्वयव्यतिरेकी है, इन्हें रुचिकर नहीं। भाष्यकार का उदाहरण है—

'अनित्यः शब्दः

उत्पत्तिधर्मकत्वात्

अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं दृष्टम् आत्मादि द्रव्यम्'।

यहाँ 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' यह हेतु अन्वयी भी है, केवलव्यतिरेकी नहीं। हाँ 'अनुत्पत्तिधर्मकम्'......'आदि उदाहरण व्यतिरेकी है, किन्तु उदाहरणमात्र के व्यतिरेकी होने से हेतु केवलव्यतिरेकी नहीं हो जाता। इन दोषों से असंतुष्ट होकर वार्तिककार ने हेतुविषयक अपना स्वतन्त्र उदाहरण प्रस्तुत किया है[1]—

'नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम्,

अप्राणादिमत्त्वादिप्रसङ्गात्,

यदुभयपक्षसंप्रतिपन्नमप्राणादिमत् तत्सर्वं निरात्मकं दृष्टम्,

न चेदं प्राणादिमत् भवति,

तस्मान्नेदं निरात्मकम्'

यहाँ हेतु 'अप्राणादिमत्त्वादिप्रसङ्गात्' व्यतिरेकी है[2]।

दिङ्नाग के हेतुलक्षण की आलोचना—वार्तिक में दिङ्नाग के हेतुलक्षण की भी आलोचना पाई जाती है। दिङ्नाग के अनुसार हेतुलक्षण

१. तात्पर्यटीका—१।१।३५, पृष्ठ २८२

२. न्यायवार्तिक—१।१।३५, पृष्ठ १२३

'तत्र यः सन् सजातीये द्वेधा चासंस्तदत्यये' है, अर्थात् 'जो हेतु पक्ष में रहता हुआ सपक्ष में पूर्णतः अथवा अंशतः रहे किन्तु विपक्ष में बिल्कुल न रहे सद्धेतु होता है'[1]। वाचस्पति मिश्र ने दिङ्नाग की पूरी कारिका को इस प्रकार उद्धृत किया है—

'तत्र यः सन् सजातीये द्वेधा चासंस्तदत्यये।
स हेतुर्विपरीतोऽस्माद्विरुद्धोऽन्यत्वनिश्चितः ॥'[2]

उक्त उद्धरण से प्रतीत होता है कि हेतु की सल्लक्षणता की विपरीत स्थिति में हेतु 'विरुद्ध' एवं 'अनिश्चित' होने के कारण अप्रामाणिक होते हैं। दिङ्नाग के अनुसार पक्ष में रहने वाला कोई भी हेतु सपक्ष में (१) रहने (सत्) (२) न रहने ('असत्') एवं (३) अंशतः रहने ('सदसत्') के कारण तीन प्रकार का हो सकता है। उक्त स्थितियों में तीनों में से प्रत्येक हेतु विपक्ष में (१) रहने ('सत्'), (२) न रहने ('असत्') एवं (३) अंशतः रहने ('सदसत्') के कारण तीन प्रकार का हो सकता है। इस प्रकार पक्ष मेंरहने वाले हेतु की विभिन्न नौ स्थितियाँ हो सकती हैं, जिनमें से कुछ 'सद्' हेतु कुछ 'विरुद्ध' हेतु और कुछ 'अनिश्चित' हेतु होते हैं। तात्पर्यटीका में दिङ्नाग की धर्मपक्षताज्ञापक कारिका इस प्रकार उद्धृत की गई है—

'सपक्षे सन्नसन् द्वेधा पक्षधर्मः पुनस्त्रिधा।
प्रत्येकमसपक्षे च सदसद्द्विविधत्वतः ॥'[3]

ध्यान रहे कि हेतुसम्बन्धी प्रकृत विचार सपक्ष एवं विपक्ष में हेतु के सद्भाव पर ही आधारित है। प्रत्येक स्थिति में हेतु पक्ष में रहता है, अतएव प्रत्येक स्थिति में पुनः-पुनः पक्षसत्त्व का उल्लेख करना पुनरुक्ति समझ कर छोड़ दिया गया है। पक्ष में रहने वाली हेतु की तीन अवस्थायें 'सपक्ष' में 'सत्', 'असत्' एवं 'द्वेधा' ('सदसत्') भेद से इस प्रकार होंगी—

प्रथम—हेतु सपक्ष में पूर्णतः रहे (सत्)

द्वितीय—हेतु सपक्ष में बिल्कुल न रहे (असत्)

तृतीय—हेतु सपक्ष में अंशतः रहे (सदसत्)

अब उपर्युक्त तीन हेतुओं में से प्रत्येक के विपक्ष में रहने (सत्), न रहने (असत्) एवं अंशतः रहने (सदसत्) जैसे भेदों से तीन-तीन विभाग

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।३५, पृष्ठ १२९
२. तात्पर्यटीका—१।१।३५, पृष्ठ २८९
३. तात्पर्यटीका—१।१।३५, पृष्ठ २८९

हुए, अर्थात् कुल मिलाकर नौ हेतु हुए[1]। 'प्रथम'—अवस्थागत हेतु को लेकर तीन विभाग इस प्रकार होते हैं —

१—हेतु सपक्ष में पूर्णतः रहे (सत्),/विपक्ष में पूर्णतः रहे (सत्)—अनिश्चितहेतु।

२—हेतु सपक्ष में पूर्णतः रहे (सत्), विपक्ष में बिल्कुल न रहे (असत्)—सद्धेतु।

३—हेतु सपक्ष में पूर्णतः रहे (सत्), विपक्ष में अंशतः रहे (सदसत्)—अनिश्चितहेतु।

'द्वितीय'—अवस्थागत हेतु के तीन विभाग इस प्रकार होते हैं :—

४—हेतु सपक्ष में बिल्कुल न रहे (असत्), विपक्ष में पूर्णतः रहे (सत्)—विरुद्धहेतु।

५—हेतु सपक्ष में बिल्कुल न रहे (असत्), विपक्ष में बिल्कुल न रहे (असत्)—अनिश्चित हेतु।

६—हेतु सपक्ष में बिल्कुल न रहे (असत्), विपक्ष में अंशतः रहे (सदसत्)—विरुद्ध हेतु।

'तृतीय'—अवस्थागत हेतु के ये तीन प्रभेद होते हैं :—

७—हेतु सपक्ष में अंशतः रहे (सदसत्), विपक्ष में पूर्णतः रहे (सत्)—अनिश्चित हेतु।

८—हेतु सपक्ष में अंशतः रहे (सदसत्), विपक्ष में बिल्कुल न रहे (असत्)—सद्धेतु।

९—हेतु सपक्ष में अंशतः रहे (सदसत्), विपक्ष में अंशतः रहे (सदसत्)—अनिश्चित हेतु।

हेतु की उक्त नवों दशाओं पर प्रकाश डालना आवश्यक है ताकि विषय का स्पष्टीकरण हो जाए। .तात्पर्यटीका में नवों हेतुओं का उदाहरण दो कारिकाओं में मिलता है। एक कारिका में सभी नवों हेतुओं का उल्लेख है एवं दूसरी में उनके नौ साध्यों का क्रमशः उल्लेख है। कारिकायें इस प्रकार हैं:—

'प्रमेयकृतकानित्यकृतश्रावणयत्नजाः ।
अनित्ययत्नजास्पर्शा नित्यत्वादिषु ते नव ॥
एवं 'नित्यानित्यप्रयत्नोत्थमध्यमत्रिकशाश्वताः ।
अयत्नानित्यनित्याश्च प्रमेयत्वादिसाधनाः ॥'[2]

---

1. Vidyabhusana : A History of Indian Logic. Pp. 283–84

२. तात्पर्यटीका—१।१।३५, पृष्ठ२९०

अर्थात् (१) प्रमेयत्व (२) कृतकत्व (३) अनित्यत्व (४) कृतकत्व (५) श्रावणत्व (६) यत्नजत्व (७) अनित्यत्व (८) यत्नजत्व और (९) अस्पर्शत्व ये नौ हेतु क्रमशः—

(१) नित्यत्व (२) अनित्यत्व (३) प्रयत्नोत्थत्व (४) नित्यत्व (५) नित्यत्व (६) नित्यत्व[1] (७) अयत्नत्व (८) अनित्यत्व और (९) नित्यत्व इन नौ साध्यों के साधन हैं। शब्द को पक्ष मानकर उपर्युक्त हेतुसाधनभाव को इस प्रकार घटित किया जा सकता है—

१—नित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्।
२—अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्।
३—प्रयत्नोत्थः शब्दः अनित्यत्वात्।
४—शाश्वतः (नित्यः) शब्दः कृतकत्वात्
५—शाश्वतः (नित्यः) शब्दः श्रावणत्वात्
६—शाश्वतः (नित्यः) शब्दः यत्नजत्वात्
७—अयत्नजः शब्दः अनित्यत्वात्
८—अनित्यः शब्दः यत्नजत्वात्
९—नित्यः शब्दः अस्पर्शत्वात्

उक्त अनुमानों में हेतु की स्थिति क्रमशः इस प्रकार है—

१—सपक्षविपक्षव्यापक
२—सपक्षव्यापकविपक्षावृत्ति
३—सपक्षव्यापकविपक्षैकदेशवृत्ति
४—सपक्षावृत्तिविपक्षव्यापक
५—सपक्षविपक्षावृत्ति
६—सपक्षावृत्तिविपक्षैकदेशवृत्ति
७—सपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापक
८—सपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षावृत्ति
९—सपक्षविपक्षैकदेशवृत्ति

---

१. 'मध्यमत्रिकशाश्वताः' का अर्थ है—'नौ साध्यों में से बीच के (मध्यम) तीन (त्रिक) अर्थात् साध्य संख्या ४, ५ और ६ शाश्वत (नित्य) हैं'।

इस प्रकार ऊपर हेतु की सभी स्थितियों को प्रदर्शित करने के पश्चात् अब उनका विशेष विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है[१]—

हेतुसंख्या—१. यहाँ हेतु सपक्ष में पूर्णतः रहता है (सत्) और विपक्ष में पूर्णतः रहता है (सत्), अर्थात् यह हेतु 'सपक्षविपक्षव्यापक' होता है। 'सपक्षविपक्षव्यापक' होने के कारण यह हेतु 'अनिश्चित' होता है। इसका उदाहरण—'नित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्' लिया गया है। यहाँ 'प्रमेयत्व' हेतु की व्याप्ति सभी नित्य एवं अनित्य पदार्थों में होती है, अतएव हेतु के व्यभिचारी होने के कारण शब्दात्मक पक्ष में साध्य—'नित्यत्व' अव्यभिचारी रूप में सिद्ध नहीं हो पाता।

बौद्ध सिद्धान्त में उक्त उदाहरण को उचित नहीं माना जा सकता। कारण, यहाँ बौद्ध सिद्धान्त में सपक्ष ही न मिल सकेगा, क्योंकि सभी क्षणिक होने के कारण किसे नित्य कहा जायेगा? और जब कि सपक्ष मिलेगा ही नहीं तब हेतुभूत प्रमेयत्व को बौद्ध दृष्टिकोण से सपक्षव्यापक कैसे कहा जायेगा? हाँ, न्यायसिद्धधान्त के अनुसार इस उदाहरण को 'सपक्षविपक्षव्यापक' हेतु-रूप में माना जा सकता है, जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

हेतु संख्या—२. यहाँ हेतु सपक्ष में पूर्णतः रहता है (सत्) और विपक्ष में बिल्कुल नहीं रहता (असत्), अर्थात् यह हेतु 'सपक्षव्यापकविपक्षावृत्ति' होता है। 'सपक्षव्यापकविपक्षावृत्ति' होने के कारण यह हेतु 'सद्धेतु' होता है। इसका उदाहरण 'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्' लिया जा सकता है। यहाँ 'कृतकत्व' हेतु व्याप्ति पर आधारित है, क्योंकि 'कृतकत्व' केवल अनित्य पदार्थों में ही रहता है, जैसे घट में, न कि आत्मा जैसे नित्य द्रव्यों में। इसीलिये इस हेतु को 'सद्धेतु' माना गया है।

उक्त विवेचन न्याय की दृष्टि से किया गया है। बौद्धमत में विपक्ष न मिलने के कारण हेतु को 'विपक्षवृत्ति' भी नहीं कहा जा सकता है, अतः उसे 'विपक्षावृत्ति' अर्थात् विपक्षवृत्तिभिन्न भले ही कहा जा सके। परन्तु जब विपक्ष ही नहीं मिलता है तब वस्तुतः विपक्ष की अप्रसिद्धि के कारण यहाँ 'विपक्षवृत्तित्व' तथा 'विपक्षावृत्तित्व' दोनों ही अप्रसिद्ध हो जाते हैं। अतः प्रकृत 'कृतकत्व' हेतु को बौद्ध दृष्टिकोण से 'सपक्षव्यापकविपक्षावृत्ति' नहीं कहा जा सकता।

---

१. द्रष्टव्य—Randle : Indian Logic in the Early Schools PP. 225-27.

हेतुसंख्या—३. यह हेतु सपक्ष में पूर्णतः रहता है (सत्) विपक्ष में अंशतः रहता है (सदसत्) अर्थात् यह हेतु 'सपक्षव्यापकविपक्षैकदेशवृत्ति' होता है। 'सपक्षव्यापकविपक्षैकदेशवृत्ति' होने के कारण यह हेतु 'अनिश्चित' होता है। इसका उदाहरण 'प्रयत्नोत्थः शब्दः अनित्यत्वात्' लिया जा सकता है। प्रकृतस्थल का हेतु 'अनित्यत्व' ऐसे पदार्थों में तो पाया ही जाता है जो 'प्रयत्नज' होते हैं, जैसे घट; किन्तु ऐसे पदार्थों में भी पाया जाता है जो 'प्रयत्नज' नहीं हैं अर्थात् घट आदि की भाँति कुंभकार आदि के प्रयत्न से नहीं उत्पन्न होते हैं, जैसे मेघ। अतएव हेतु अनैकान्तिक होने के कारण निश्चय नहीं हो पाता कि साध्य—'शब्द' घट की भाँति 'प्रयत्नोत्थ' है अथवा मेघ की भाँति 'अप्रयत्नोत्थ' है। इसीलिये यह हेतु अनिश्चित है।

हेतुसंख्या—४. प्रकृत हेतु सपक्ष में बिल्कुल नहीं रहता (असत्) और विपक्ष में पूर्णतः रहता है (सत्), अर्थात् यह हेतु 'सपक्षावृत्तिविपक्षव्यापक' होता है। 'सपक्षावृत्तिविपक्षव्यापक' होने के कारण यह हेतु 'विरुद्ध' होता है। इसका उदाहरण 'नित्यः शब्दः, कृतकत्वात्' है। 'कृतकत्व' धर्म सपक्षभूत आत्मा आदि नित्य पदार्थों में कभी नहीं पाया जाता और विपक्षभूत घट आदि नित्य पदार्थों में अनिवार्यतः पाया जाता है। इस प्रकार दोनों ओर से व्याप्ति के अनिवार्यतः विरुद्ध होने के कारण प्रकृत हेतु 'विरुद्ध' होता है।

बौद्धमत में समस्त पदार्थ क्षणिक होते हैं अतएव कोई भी पदार्थ नित्य नहीं माना जाता है जिसे सपक्ष के रूप में लिया जा सके। अतएव सपक्ष के प्राप्त न होने के कारण हेतु को 'सपक्षवृत्ति' नहीं कहा जा सकता, इसलिये हेतु को 'सपक्षावृत्ति' अर्थात् 'सपक्षवृत्तिभिन्न' कहा जा सकता है। इसी दृष्टिकोण से यह उदाहरण उपयुक्त हो सकता है। परन्तु 'सपक्षावृत्ति' का अर्थ 'सपक्ष प्राप्त हो और उसमें हेतु अवर्तमान हो उसे सपक्षावृत्ति कहा जायेगा' ऐसा मानने पर यह उदाहरण बौद्धमत में अनुपयुक्त होगा; क्योंकि यहाँ सपक्ष मिलता ही नहीं है।

हेतुसंख्या—५. यह हेतु सपक्ष में बिल्कुल नहीं रहता (असत्) विपक्ष में बिल्कुल नहीं रहता है (असत्) अर्थात् यह हेतु 'सपक्षविपक्षावृत्ति' होता है। 'सपक्षविपक्षावृत्ति' होने के कारण यह हेतु 'अनिश्चित' होता है। इसका उदाहरण (अनित्यः ?) शाश्वतः शब्दः श्रावणत्वात्' लिया जाता है।

'अनित्यः शब्दः श्रावणत्वात्' को डॉ॰ रैंडिल प्रकृत हेतु का उदाहरण मानते हैं। परन्तु यह उदाहरण जाति को न मानने वाले बौद्धमत में ही उपयुक्त हो सकता है क्योंकि न्यायमत में 'शब्दत्व' जाति भी विपक्ष हो जायेगा जिसमें 'श्रावणत्व' हेतु रह जाने के कारण हेतु 'विपक्षावृत्ति' न हो सकेगा। बौद्धमत में सामान्य की मान्यता नहीं है इसलिये विपक्षरूप में 'शब्दत्व' को नहीं लिया जा सकता है और 'सर्वं क्षणिकम्' इस बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार संसार के समस्त पदार्थ अनित्य ही मान्य हैं, नित्य नहीं, अतः विपक्ष कोई न मिल सकेगा। ऐसी परिस्थिति में हेतु 'विपक्षसत्' न हो पायेगा और 'विपक्षसत् न होने' के कारण उसे 'विपक्षासत्' अर्थात् 'विपक्षसद्भिन्न' कहा जा सकता है। अतएव बौद्धमत से यह उदाहरण समुचित ही है। परन्तु 'विपक्षासत्' का अर्थ यदि 'विपक्ष में न रहने वाला' अर्थात् 'विपक्ष तो मिले किन्तु उसमें हेतु न रहे' यह अभिप्रेत हो तब उसे बौद्धमत में भी उदाहरण नहीं कहा जा सकेगा क्योंकि बौद्धमत में सभी पदार्थ क्षणिक होते हैं अतएव अनित्य होते है, कोई पदार्थ नित्य नहीं होता जिसे विपक्ष-रूप में लिया जा सके और उस विपक्ष में न रहने के कारण 'श्रावणत्व' हेतु को 'सपक्षविपक्षावृत्ति' कहा जा सके।

'श्रावणत्व' हेतु केवल शब्दात्मक पक्ष में ही रहता है, इसलिए यहाँ हेतु 'असाधारणानैकान्तिक' ही होगा, साध्य चाहे 'अनित्यत्व' बनाया जाये अथवा 'नित्यत्व'। इसीलिए डॉ॰ रैंडिल ने जो 'अनित्यः शब्दः श्रावणत्वात्' यह उदाहरण उपस्थित किया है वह असाधारण लक्षण के अनुसार असाधारण हेतु का उपयुक्त उदाहरण है परन्तु 'मध्यमत्रिकशाश्वताः'[1] इस बौद्धकारिका के अनुसार सदुदाहरण नहीं हो पाता क्योंकि 'अनित्यत्व' को 'शाश्वतत्व' नहीं माना जा सकता।

हेतुसंख्या—६. यह हेतु सपक्ष में बिल्कुल नहीं रहता (असत्) और विपक्ष में अंशतः रहता है (सदसत्) अर्थात् हेतु 'सपक्षावृत्तिविपक्षैकदेशवृत्ति' होता है। 'सपक्षावृत्तिविपक्षैकदेशवृत्ति' होने के कारण हेतु 'विरुद्ध' होता है। इसका उदाहरण 'शाश्वतः शब्दः यत्नजत्वात्' लिया जा सकता है। कोई भी 'शाश्वत अर्थात् 'नित्य' पदार्थ यत्नज नहीं होता, जैसे आत्मा। पुनश्च अशाश्वत पदार्थों में से कुछ ऐसे होते हैं जो यत्नज होते हैं, जैसे घट एवं कुछ अयत्नज होते हैं जैसे मेघ। इस प्रकार सद्धेतु होने के लिये

१. तात्पर्यटीका—१।१।३५, पृष्ठ २९०

आवश्यक 'पक्षसत्त्व' एवं 'विपक्षासत्त्व' दोनों अंशों में से कोई एक पूर्णतः चरितार्थ नहीं हो पाता। यहाँ का हेतु तो 'सपक्षावृत्ति' अर्थात् 'सपक्षासत्' एवं 'विपक्षैकदेशवृत्ति' अर्थात् 'विपक्षैकदेशसत्' है। अतएव प्रकृत हेतु विरुद्ध है।

उक्त उदाहरण भी पूर्वोक्त उदाहरणों के समान बौद्धसम्मत नहीं है। अग्रिम उदाहरणों के विषय में भी यही स्थिति है।

हेतुसंख्या—७. प्रकृत हेतु सपक्ष में अंशतः रहता है (सदसत्) विपक्ष में पूर्णतः रहता है। (सत्) अर्थात् यह हेतु 'सपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापक' होता है। 'सपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापक' होने के कारण हेतु 'अनिश्चित' होता है। इसका उदाहरण 'शब्दः अयत्नकार्यः अनित्यत्वात्' लिया जा सकता है। 'अनित्यत्व' धर्म कुछ सपक्षों में तो रहता है, किन्तु कुछ सपक्षों में नहीं भी रहता है। जैसे अयत्नज मेघ में 'अनित्यत्व' धर्म रहता है, आत्मा आदि में नहीं रहता। इस प्रकार हेतु 'सपक्षैकदेशवृत्ति' हुआ। 'अनित्यत्व' हेतु सभी यत्नज पदार्थों में रहता है, जैसे घट यत्नज है और अनित्य होता है। इस प्रकार प्रकृत हेतु विपक्षव्यापक हुआ। कुछ सपक्षों में रहने और कुछ में न रहने के कारण सन्देह होता है कि प्रकृत सपक्ष में हेतु रहने से उसमें साध्य की सिद्धि होगी अथवा न रहने के कारण साध्य की सिद्धि नहीं होगी, इसलिये यहाँ हेतु अनिश्चित है।

हेतुसंख्या—८. यह हेतु सपक्ष में अंशतः रहता है (सदसत्) और विपक्ष में बिल्कुल नहीं रहता है (असत्) अर्थात् हेतु 'सपक्षैकदेशवृत्ति-विपक्षावृत्ति' होता है। 'सपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षावृत्ति' होने के कारण हेतु 'सद्घेतु' होता है। इसका उदाहरण 'अनित्यः शब्दः यत्नजत्वात्' लिया जा सकता है। घट अदि अनित्य पदार्शों में 'यत्नजत्व' धर्म रहता है और मेघ आदि अनित्य पदार्थों में नहीं रहता, अतएव यहाँ हेतु 'सपक्षैकदेशवृत्ति' है। 'यत्नजत्व' हेतु आत्मा आदि किसी भी नित्य पदार्थ में न रहने के कारण 'विपक्षावृत्ति' होता है। हेतु का 'विपक्षावृत्ति' होना उसके सद्धेतु होने के लिये आवश्यक है। रही उसके 'पक्षैकदेशवृत्ति' की बात, तो यद्यपि 'यत्नजत्व' सभी अनित्य पदार्थों में नहीं रहता किंतु जिन पदार्थों में 'यत्नजत्व' रहता है वे अनित्य अवश्य होते हैं। हाँ, यह आवश्यक नहीं कि जो पदार्थ अनित्य हो उसमें 'यत्नजत्व' अवश्य रहे और इतना ही होना किसी के सद्धेतु होने में आवश्यक है। अतएव प्रकृत हेतु सद्धेतु हुआ।

हेतुसंख्या—९. प्रकृत हेतु सपक्ष में अंशतः रहता है (सदसत्) और विपक्ष में अंशतः रहता है (सदसत्) अर्थात् हेतु 'सपक्षविपक्षैकदेशवृत्ति' होता है। 'सपक्षविपक्षैकदेशवृत्ति' होने के कारण हेतु 'अनिश्चित' होता है। इसका उदाहरण 'नित्यः शब्दः अस्पर्शत्वात्' लिया जा सकता है। 'अस्पर्शत्व' हेतु कुछ अनित्य पदार्थों में पाया जाता है, जैसे 'कर्म' में और कुछ अनित्य पदार्थों में नहीं पाया जाता, जैसे 'घट' में। यही हेतु कुछ नित्य पदार्थों में पाया जाता है जैसे 'आत्मा' में और कुछ नित्य पदार्थों में नहीं पाया जाता है जैसे परमाणुओं में। इस प्रकार प्रकृत हेतु अनिश्चित सिद्ध होता है।

वार्तिककार दिङ्नाग के हेतुलक्षण को प्रामाणिक नहीं मानते क्योंकि बौद्ध दार्शनिक जिस प्रकार हेतुज्ञापक कारिका का अर्थ करते हैं वह अर्थ कारिका के शब्दों से नहीं निकलता। कारिका का यह भी अर्थ लिया जा सकता है कि 'अपक्षधर्मता की निवृत्ति' अर्थात् 'विपक्ष में न होना' यही हेतु का लक्षण है। परन्तु 'अपक्षधर्मता की निवृत्ति' से इतना ही निश्चित होता है कि अपक्षधर्म हेतु नहीं होता है न कि पक्ष में अस्तित्वसम्पन्न होना भी हेतु होने के लिए आवश्यक समझा जाता है। बौद्धों के उक्त कथन से हेतु में पक्षधर्मता की सम्भावनामात्र भले ही हो पाये किन्तु उस पक्षधर्मता का निश्चय उक्त वाक्य से नहीं होता, हेतु होने के लिए जिसकी नितान्त आवश्यकता होती है। अतएव 'तत्र यः सन् सजातीये द्वेधा चासंस्तदत्यये' यह हेतुलक्षण दोषयुक्त सिद्ध होता है[1]।

वार्तिककार ने बौद्धों के लक्षणगत शब्दों के साथ अवधारण के लिए 'एव' (ही) शब्द के प्रयोग की आलोचना की है।

बौद्धों के अन्य हेतुलक्षणों की आलोचना—बौद्धों की 'हेतुर्विपक्षाद् विशेषः' इस हेतुलक्षण की आलोचना वार्तिक में की गई है[2]। उनका कहना यह है कि सौत्रान्तिक मत में सभी पदार्थ अनित्य माने गये हैं अतएव 'शब्दः नित्यः, कृतकत्वात्' इस अनुमानप्रयोग-स्थल में सौत्रान्तिकों को कोई भी विपक्ष नहीं मिल सकता और विपक्ष न मिलने पर हेतु में किसकी व्यावृत्ति दिखलाकर उसे 'विपक्षाद् विशेषः' कहा जा सकेगा? अभिप्राय यह है कि सौत्रान्तिक सिद्धान्त में हेतु का यह लक्षण कभी संगत नहीं हो सकता[3]। बौद्ध उक्त हेतु के लक्षण को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए तीन लक्षणों वाली

---

१. न्यायवार्तिक-१।१।३५ पृष्ठ-१२९।
२. न्यायवार्तिक-१।१।३५ पृष्ठ-१२५।
३. न्यायवार्तिक-१।१।३५ पृष्ठ-१२८।

व्याप्ति को अपने हेतु का आधार मानते हैं तथा विभिन्न प्रकार की अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए अवधारणार्थक 'एव' (ही) शब्द का प्रयोग करते हैं। वार्तिककार ने बौद्धों की सप्तिका-सम्बन्धी व्याप्ति[1] के मत की आलोचना की है[2]।

बौद्धों का दूसरा हेतुलक्षण है—'तादृगविनाभाविधर्मोपदर्शनं हेतुः'[3]। बौद्ध इसी लक्षण से हेतु में विपक्षासत्व और पक्षसत्व की प्राप्ति मानते हैं किन्तु वार्तिककार 'अविनाभाव' शब्द से 'जिसके बिना न हो' अर्थ लेकर प्रकृत लक्षण में विपक्ष में हेतु के अभावमात्र का प्रतिपादन मानते हैं। विपक्ष में हेतु के अभाव होने पर यह आवश्यक नहीं कि हेतु सपक्ष में रहे भी, हेतु के सपक्ष में रहने की सम्भावनामात्र हो सकती है, निर्णय नहीं[4]। दूसरे हेतुलक्षण में प्रयुक्त 'दर्शन' शब्द के द्वारा भी सपक्ष में हेतु का होना निश्चित नहीं होता क्योंकि यहाँ 'दर्शन' शब्द का अर्थ केवल ज्ञान है न कि सपक्ष आदि में हेतु का ज्ञान। इस प्रकार बौद्धों के लक्षण वार्तिककार की दृष्टि में निर्दोष नहीं हैं।

उदाहरण

हेतु की भाँति उदाहरण के भी दो प्रभेद होते हैं—पहिला साधर्म्योदाहरण एवं दूसरा वैधर्म्योदाहरण। सूत्र के अनुसार 'साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्', 'तद्विपर्ययाद् विपरीतम्' यह उदाहरण का लक्षण है[5]। साधर्म्योदाहरणस्थल में साध्य और उदाहरण में समानधर्मता होनी चाहिए। वार्तिककार के अनुसार यहाँ साध्य का अर्थ पक्ष है, धर्मात्मक साध्य नहीं। कहने का सारांश यही है कि धर्म अंश में साध्य और उदाहरण में समानता होनी चाहिए। 'तद्धर्मभावी' पद के प्रयोग से ऐसे उदाहरणों का निवारण हो जाता है जिनमें साध्यधर्म का अभाव होता है जैसे[6]—

---

१. सप्तिका सम्बन्धी विवरण के लिए देखिए इसी अध्याय में दिङ्नाग के अनुमानलक्षण की 'आलोचना' शीर्षक के अन्तर्गत।

२. न्यायवार्तिक-१।१।३५ पृष्ठ-१२९

३. न्यायवार्तिक—१।१।३५ पृष्ठ १३१।

४. न्यायवार्तिक—१।१।३५ पृष्ठ १३२।

५. न्यायसूत्र—१।१।३६—३७।

६. न्यायवार्तिक—१।१।३६ पृष्ठ १३४।

'शब्द नित्य है
अमूर्त होने के कारण,
कर्म के समान', यहाँ कर्म-रूप उदाहरण की साध्य—शब्द के साथ समानधर्मता अमूर्तत्व अंश में अवश्य है किन्तु चूँकि अमूर्तत्व अंश में कर्म की समानता असाध्य—नित्य शब्द से भिन्न गुण आदि—से भी होती है अतएव कर्म को उदाहरण नहीं मान लेना चाहिए। सदुदाहरण निम्नलिखित रूप में होगा[1]—

'शब्द अनित्य है,
उत्पन्न होने के कारण,
स्थाली (घट) के समान'

क्या साधर्म्योदाहरण के लक्षण में आये हुए 'तद्धर्मभावी' शब्द के स्थान पर 'तद्धर्मी' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता है ? वार्तिककार 'तद्धर्मी' के प्रयोग को उचित नहीं समझते क्योंकि धर्म दो प्रकार के होते हैं—विधीयमान और प्रतिषिध्यमान। यहाँ सत्तावाचक 'भाव' शब्द का प्रयोग आवश्यक है क्योंकि धर्म और भाव का सामानाधिकरण्य होने से धर्म की सत्ता का स्पष्ट रूप से निश्चय होता है। यही स्थिति वैधर्म्योदाहरण के 'अतद्धर्मभावी' शब्द के सम्बन्ध में समझनी चाहिए[2]।

वैधर्म्योदाहरणस्थल में उदाहरण का साध्य के साथ वैधर्म्य होता है साधर्म्य नहीं। पक्ष-रूप साध्य में पाया जाने वाला साध्यरूप धर्म प्रकृत उदाहरण में नहीं रहा करता अतएव यह उदाहरण तद्धर्मभावी न होकर अतद्धर्मभावी होता है। वैधर्म्योदाहरण का स्वरूप इस प्रकार है—

'यह जीवित शरीर आत्मरहित नहीं है,
प्राणरहित होने की आपत्ति होने के कारण,
प्राणरहित सदैव आत्मरहित होता है, जैसे घट'।

जीवितशरीर-रूप पक्षात्मक साध्य में प्राण होते हैं, घट में प्राणों का अभाव रहता है। अतएव घट में जीवितशरीर-रूप पक्षात्मक साध्य के प्राण-रूप धर्म के अभाव होने के कारण घट को अतद्धर्मभावी कहा गया है। वार्तिककार ने इस प्रकार उदाहरण के दोनों प्रभेदों पर विचार किया है।

क्या दृष्टान्त ही उदाहरण है अथवा नहीं ? वार्तिककार के मत से उदाहरण केवल उसी दृष्टान्त को कहा जा सकता है जिसमें प्रासङ्गिक साध्य

१. न्यायवार्तिक—१।१।३६ पृष्ठ १३५।
२. न्यायवार्तिक—१।१।३७ पृष्ठ १३५–१३६।

की समानधर्मता एवं तद्गत साध्य—रूप धर्म का अस्तित्व पाया जाये। हर कोई दृष्टान्त स्वतंत्र रूप से किसी भी स्थल पर उदाहरण नहीं हो सकता[१]।

नागार्जुन के उदाहरण—लक्षण की आलोचना—'तथा सिद्धो दृष्टान्तः' यह नागार्जुन का उदाहरणलक्षण है[२]। साध्य प्रकृत पक्ष में असिद्ध रहता है इसलिए उसकी सिद्धि की जाती है और दृष्टान्त सिद्ध रहता है अतएव बौद्ध इसे साध्य का साधन मानते हैं। वार्तिककार बौद्धों के मत के अनुसार 'कृतकत्व' और 'अनित्यत्व' में साध्यसाधनभाव नहीं मानते क्योंकि बौद्धदर्शन में 'कृतकत्व' प्रागभाव है और 'अनित्यत्व' प्रध्वंसाभाव है। ये दोनों घट में न रह सकेंगे फिर उसे दृष्टान्त कैसे माना जा सकेगा?

यहाँ वार्तिककार के कथन का अभिप्राय यह है कि किसी भी कार्य का प्रागभाव या ध्वंस उस कार्य के समवायिकारण में ही रहता है, अन्यत्र नहीं। ऐसी परिस्थिति में 'शब्दः अनित्यः, कृतकत्वात्' इस स्थल में शब्द का प्रागभावात्मक कृतकत्व एवं ध्वंसात्मक अनित्यत्व शब्द के समवायिकारण आकाश में रहेगा, उस शब्द में नहीं जो प्रकृत अनुमानस्थल में पक्षात्मक साध्य रूप में निर्दिष्ट हुआ है। किसी भी अनुमान के सदनुमान होने के लिए पक्ष में साध्य एवं हेतु का रहना आवश्यक होता है। किन्तु प्रकृतस्थल में ऐसा नहीं है, इसलिए वार्तिककार नागार्जुन के उदाहरणलक्षण को दोषयुक्त मानते हैं[३]।

उपनय

उपनय भी दो प्रकार का होता है—अन्वयी और व्यतिरेकी। पंचावयव के अन्वयी और व्यतिरेकी प्रभेदों के दो समानान्तर रूपों का प्रारंभ हेतु से होता है। जो हेतु अन्वयी होता है उसका उदाहरण भी अन्वयी होता है और उपनय भी। इसी प्रकार जो हेतु व्यतिरेकी होता है उसका उदाहरण और उपनय भी व्यतिरेकी होता है। परन्तु यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि हेतु के अन्वयी या व्यतिरेकी होने पर भी पञ्चावयववाक्य-प्रयोग के अन्दर हेतु-वाक्य का स्वरूप एक ही प्रकार का रहता है, हेतु-वाक्य के स्वरूप में कोई भी अन्तर नहीं होता, यह इसलिए कि हेतु-वाक्य के द्वारा पक्षनिष्ठरूप में प्रति-

१. न्यायवार्तिक—१।१।३६ पृष्ठ १३४

२. न्यायवार्तिक—१।१।३७ पृष्ठ १३६–३७

Vidybhusana : A History of Indian Logic, P. 128.

३. तात्पर्यटीका—१।१।३७ पृष्ठ २९६

पादित होने वाला हेतु साधर्म्येण हेतु तब कहलाता है जब कि दृष्टान्तगत होते हुए पक्षगत होता हुआ देखा जाता है और वैधर्म्येण हेतु कहे जाने के स्थल में ऐसा न होकर विपक्षात्मक व्यतिरेक दृष्टान्त में अवर्तमान होते हुए हेतु जब कि पक्ष में वर्तमान बतलाया जाता है तब वह वैधर्म्येण हेतु कहलाता है। आशय यह है कि हेतु का 'साधर्म्येण' एवं 'वैधर्म्येण' विभाजन दृष्टान्त एवं उसके द्वारा प्रदर्शित होने वाली अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेकव्याप्ति के आधार पर ही होता है।

उपनय द्वारा उदाहरण और साध्य (पक्ष) की समानधर्मता को दृढ़ किया जाता है अर्थात् उदाहरण और साध्य (पक्ष) को उपनय द्वारा ही एक सूत्र में बाँधा जाता है। अन्वयी उपनय का स्वरूप होता है—'तथा चायम्' अर्थात् उदाहरण की तरह यह साध्य (पक्ष) भी हेतुमान् है। वैधर्म्य उपनय का स्वरूप होता है—'न तथा अयम्' अर्थात् यह साध्य (पक्ष) उदाहरण की तरह हेत्वभाववान् नहीं है। उक्त दोनों प्रभेदों के उदाहरण 'अवयव' पर विचार करते समय उल्लिखित हो चुके हैं।

वार्तिक में उपनय का प्रयोजन बताया गया है। उपनय प्रतिबिम्बन के लिए (प्रतिबिम्बनार्थ) होता है। व्याप्ति के आधार पर दृष्टान्त के धर्मभूत हेतु में धर्मात्मक साध्य का अव्यभिचार सिद्ध होने पर पक्षात्मक साध्य में दृष्टान्त की तुल्यधर्मता ही बिम्बन है[1]। अथवा यह कहा जा सकता है कि उदाहरण द्वारा सिद्ध व्याप्ति के आधार पर साध्य का उपसंहार उपनय होता है[2]।

निगमन

निगमन न्यायवाक्य का अन्तिम अवयव है। यह अन्य चार अवयवों—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय को एक सूत्र में बाँधता है[3] जिससे साध्य की सिद्धि होती है। न्यायसम्मत पांचों अवयवों में चारों प्रमाणों के परस्पर मिलने से साध्य की सिद्धि होती है। निगमन में चारों प्रमाण एकत्र सम्बद्ध रहते हैं[4]। हेतु, उदाहरण और उपनय चाहे अन्वयी हो अथवा व्यतिरेकी

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।३८ पृष्ठ—१३७।
   न्यायभाष्य—१।१।३८।
२. तात्पर्यटीका—१।१।३८ पृष्ठ—२९९
३. न्यायभाष्य—१।१।३९
४. न्यायभाष्य—१।१।३९

किन्तु निगमन अवयव दोनों स्थितियों में एक जैसा रहता है[1]। हेतु का निर्देश करके प्रतिज्ञा का पुनर्वचन–फिर से दुहराया जाना ही निगमन होता है[2]। प्रकृत पुनर्वचन की विशेषता वार्तिक में स्पष्ट की गई है। सभी प्रमाणों द्वारा प्रतिज्ञात अर्थ की सिद्धि हो जाने पर साध्य के विपरीत प्रसङ्गों का निवारण करने के लिए प्रतिज्ञा फिर से दुहराई जाती है[3]।

किन्तु निगमन को प्रतिज्ञा का पुनर्वचन कैसे माना जाये? प्रतिज्ञा में साध्य का निर्देश किया जाता है और निगमन तक पहुँचते-पहुँचते वह साध्य सिद्ध-रूप में आ जाता है, अतएव निगमन में सिद्ध का निर्देश होता है। यदि निगमन से साध्य का निर्देश किया जाता तब उसे प्रतिज्ञा का पुनर्वचन कह सकते थे। तात्पर्यटीकाकार ने इस शङ्का का समाधान किया है। प्रतिज्ञा और निगमन में विषय की समानता रहती है। प्रतिज्ञा में जिसे साध्य कहा जाता है वही निगमन में सिद्ध की स्थिति में रहता है। अतएव निगमन को प्रतिज्ञा का पुनर्वचन मानना उचित ही है। इस प्रकार प्रतिज्ञा और निगमन दोनों की आवश्यकता अनुमान में होती है[4]।

वार्तिककार के पूर्ववर्ती बौद्ध विद्वानों में दिङ्नाग न्यायवाक्य के तीन ही अवयव मानते थे[5]। वे उपनय और निगमन को न्यायवाक्य के अवयव नहीं मानते हैं। वार्तिककार ने बौद्धों के इस मत को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

'उपनयनिगमने नावयवान्तरे अर्थाविशेषात्'[6]।

किन्तु, जैसा कि विभिन्न अवयवों के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है, सभी अवयवों अर्थात् पाँचों की अनुमान में आवश्यकता रहती है।

काल और उसका अनुमान

न्यायसूत्रों में काल के अतीत, वर्तमान एवं अनागत तीन प्रभेद माने गये हैं[7]। सूत्रों में वर्तमानकाल के अस्तित्व में शङ्का की गई है जिसका समाधान

१. तात्पर्यटीका—१।१।३८ पृष्ठ ३००।
२. न्यायसूत्र—१।१।३९। ३. न्यायवार्तिक—१।१।३९ पृष्ठ १३७।
४. तात्पर्यटीका—१।१।३९ पृष्ठ ३०४।
५. (i) Tucci—Pre-Dinnaga Buddhist Texts on Logic from Chinese Sources. Introduction, p.1
(ii) 'एतान्येव त्रयोऽवयवा इत्युच्यन्ते' (न्यायप्रवेश, पृष्ठ २)
६. न्यायवार्तिक—१।१।३९ पृष्ठ १३७। ७. न्यायसूत्र—२।१।४०-४२।

भी वहीं मिलता है। किन्तु सूत्रकार ने यह नहीं स्पष्ट किया है कि काल का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों में से किस प्रमाण के आधार पर होता है। भाष्य में काल को व्यंग्य माना गया है। काल की व्यंजकता दो रूपों में प्रतिपादित करके एक का निराकरण करके दूसरे को ग्रहण किया गया है। एक मत में काल को अध्वव्यंग्य माना गया है और दूसरे मत में क्रिया-व्यंग्य। ऊपर से गिरती हुई कोई वस्तु जितना अध्व (मार्ग) तय कर चुकती है वह अध्व भूतकाल से सम्बद्ध होता है, जितना तय करना होता है उतना भविष्यत्काल से सम्बद्ध तथा जो भाग तय हो रहा होता है उससे सम्बद्ध वर्तमानकाल होता है। किन्तु यह मत सिद्धान्त पक्ष का नहीं है। सिद्धान्तपक्ष का मत क्रिया-व्यंग्य है[1]। 'वस्तु गिर रही थी', 'वस्तु गिर रही है', और 'वस्तु गिरेगी' ऐसे वाक्यों के व्यवहार और अनुभव द्वारा क्रिया से काल की अभिव्यक्ति मानी जाती है।

जैसा कि पूर्व बताया जा चुका है सूत्र एवं भाष्यकाल में कुछ पूर्वपक्षी लोग वर्तमान काल की सत्ता नहीं स्वीकार करते थे, किन्तु वार्तिक में स्पष्टतः उल्लेख है कि कुछ लोग वर्तमानकाल ही नहीं, काल नामक तत्त्व के अस्तित्व को ही अस्वीकार करते थे[2]। वार्तिक में काल के अनस्तित्व की आलोचना की गई है। यदि काल का अस्तित्व न माना जायेगा तो 'पर' एवं 'अपर' के प्रत्यक्ष का निमित्त कौन पदार्थ होगा? रूप आदि पदार्थ का प्रत्यक्ष जैसे बिना निमित्त नहीं होता उसी प्रकार यह 'पर' है एवं यह 'अपर' है इत्यादि प्रत्यय भी बिना निमित्त का नहीं होना चाहिए। किन्तु वैसा ज्ञान होता है, इसीलिए उन प्रत्ययों के निमित्त रूप में काल की सत्ता माननी चाहिए।

काल वस्तुतः एक ही है। वार्तिककार ने एक काल के ही 'पर' एवं 'अपर' आदि प्रभेदों का कारण सापेक्षता मानी है, जैसे एक ही व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा कभी पिता, कभी पुत्र और कभी भाई माना जाता है उसी प्रकार काल के भी प्रभेद माने जाते हैं[3]।

वार्तिककार के उक्त कथन के अभिप्राय को तात्पर्यटीकाकार ने अधिक स्पष्ट किया है, जिसका सारांश इस प्रकार है—युवक और वृद्ध व्यक्ति की

---

१. न्यायभाष्य—२।१।४१।

२. न्यायवार्तिक—२।१।३८ पृष्ठ २५२–५३

३. 'यथा........प्रत्यय हेतुरिति।'

(न्यायवार्तिक २।१।३९ की प्रस्तावना पृष्ठ २५३)

अवस्था में भेद होने का कारण सूर्य के उदय और अस्त से अवच्छिन्न क्रिया की इकाइयों की संख्या का कम या अधिक होना है, किन्तु सूर्यगत क्रिया का युवक अथवा वृद्ध के शरीर से साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि जो क्रिया सूर्य में समवाय-सम्बन्ध से रहती है वह पिण्ड (पुरुष शरीर) में नहीं रह सकती। कारण, क्रिया एक ही द्रव्य में समवेत रह सकती है। अतएव एक व्यापक द्रव्य—काल के अस्तित्व को मानना पड़ता है जिसके सहारे सूर्यगत चलन एवं शरीर-रूप पिण्ड दोनों का सम्बन्ध सम्भव है। यद्यपि आकाश और आत्मा जैसे द्रव्य भी व्यापक हैं किन्तु इन व्यापक द्रव्यों की अपनी-अपनी विशेषतायें (धर्म) हैं। ये उक्त सम्बन्ध के स्थिर कराने में समर्थ नहीं हैं अतएव काल-रूप द्रव्य के अस्तित्व को मानना पड़ता है[1]।

वार्तिककार ने काल को नित्य माना है किन्तु उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि काल का ज्ञान किस प्रमाण के द्वारा होता है, प्रत्यक्ष या अनुमान अथवा किसी दूसरे प्रमाण से। तात्पर्यटीकाकार काल को अनुमेय द्रव्य मानते हैं[2]। कारण, काल अरूप द्रव्य है। अरूप द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। काल अन्य किसी इन्द्रिय का भी विषय नहीं है। काल के अनुमान में 'अपरत्व' एवं 'परत्व' का ज्ञान साधन बनता है।

हेत्वाभास

हेत्वाभास का लक्षण—हेत्वाभास का लक्षण न्यायसूत्रों में नहीं मिलता। पाँच प्रकार के हेत्वाभासों को गिनाकर उन्हीं पाँचों के अलग-अलग लक्षण किये गये हैं[3]। भाष्यकार ने हेत्वाभास शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की है—

'हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः'[4] वार्तिककार का कथन है कि हेत्वाभास हेतु के समान प्रतीत होने पर भी हेतु नहीं होते। हेतु और हेत्वाभास में समानता यह होती है कि दोनों पञ्चम्यन्त हेतुवाक्य के द्वारा प्रतिज्ञा के बाद प्रयुक्त होते हैं। हेत्वाभास हेतु इसलिए नहीं होते कि हेत्वाभास व्यभिचार आदि दोषों में से किसी न किसी दोष से युक्त होने के कारण साध्य के असाधक होते हैं जब कि हेतु साधक होते हैं[5]।

---

१. तात्पर्यटीका—२।१।४० पृष्ठ ४०४–४०५।

२. तात्पर्यटीका—२।१।४० पृष्ठ ४०५।

३. न्यायसूत्र—१।२।४–९। ४. न्यायभाष्य—१।२।४।

५. न्यायवार्तिक—१।२।४ पृष्ठ १६२।

हेत्वाभासों की संख्या—सूत्रकार द्वारा निर्दिष्ट हेत्वाभास पाँच है— सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत वार्तिककार हेत्वाभासों की संख्या अगणित मानते हैं। यह काल, पुरुष, वस्तु आदि के भेद से विभिन्न प्रकार के होते हैं। इन्हीं को संक्षिप्त करके पाँच प्रकार से विभक्त किया गया है। वैसे वार्तिककार ने हेत्वाभासों की संख्या विभिन्न दृष्टिकोणों से २०३२ भी मानी है[१]।

सव्यभिचार—सूत्रकार का सव्यभिचार हेत्वाभास का लक्षण 'अनैकान्तिकः सव्यभिचारः' है। जब हेतु व्यवस्थित नहीं होता है, उसमें नियमात्मक व्यवस्था नहीं रहती तब उसे व्यभिचारी कहा जाता है। भाष्यकार ने व्यभिचारी हेतु की व्याख्या इस प्रकार की है—

'व्यभिचारः एकत्र व्यवस्थाभावः, सह व्यभिचारेण वर्तत इति सव्यभिचारः[२]।

वार्तिककार का लक्षण इस प्रकार है—'साध्यतज्जातीयान्यवृत्तित्वम्', अर्थात् साध्य (पक्ष) और साध्यजातीय (सपक्ष) में रहने पर भी जो हेतु (हेत्वाभास) अन्यत्र (विपक्ष में) भी रहे उसे सव्यभिचार कहते हैं[३]। अभिप्राय यह है कि साधक हेतु के लिए यह आवश्यक होता है कि वह साध्याभाव के साथ कभी न रहे अतः जहाँ साधक रूप से उपस्थापित हेतु इस नियम का उल्लंघन करता हो पक्ष एवं सपक्ष के अतिरिक्त विपक्ष में रह जाने के कारण साध्याभाव के साथ रह जाता हो वहाँ का हेतु सव्यभिचार या सव्यभिचारी कहा जाता है।

भाष्यकार ने सव्यभिचार का उदाहरण इस प्रकार दिया है—'नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वात्, स्पर्शवान् कुम्भोऽनित्यो दृष्टो न च तथा स्पर्शवान् शब्दस्तस्मादस्पर्शत्वान्नित्यः शब्दः[४]'। प्रकृतस्थल के हेतु में व्यभिचार इसलिए माना जाता है कि अस्पर्शत्व हेतु में नित्यत्व साध्य की व्याप्ति नहीं होती स्पर्शवान् अणु नित्य होता है और बुद्धि जिसका स्पर्श नहीं किया जा सकता अनित्य होती है। सव्यभिचार को अनैकान्तिक इसलिये कहा गया है कि यहाँ हेतु एक ओर जहाँ वह नित्यत्व के साथ रहता है जैसे आकाश आदि में, वह (अस्पर्शत्व) हेतु नित्यत्व के साथ रहता है उसी तरह वही हेतु जन्य-ज्ञान में अनित्यता के साथ भी रह जाता है अर्थात् नित्यत्वाभाव के साथ भी रह

१. न्यायवार्तिक—१।२।४ पृष्ठ १६९।
२. न्यायभाष्य—१।२।४।
३. न्यायवार्तिक—१।२।५ पृष्ठ १७०।
४. न्यायभाष्य—१।२।५।

जाता है अतएव उसे ऐकान्तिक अर्थात् व्यवस्थित-रूप में एक-साध्य के साथ में रहने वाला नहीं कहा जा सकता। अतः वह अनैकान्तिक हो जाता है।

सूत्रकार की दृष्टि में 'सव्यभिचार' शब्द लक्ष्य और 'अनैकान्तिक' शब्द लक्षण है। तात्पर्यटीकाकार ने अनैकान्तिक और सव्यभिचार दोनों शब्दों को पर्याय माना है। उनका कहना है कि पुरुष के ज्ञान और अज्ञान के आधार पर उक्त दोनों शब्दों में से कोई भी लक्ष्य और दूसरा लक्षण हो सकता है। जो व्यक्ति 'अनैकान्तिक' शब्द के अर्थ को नहीं समझता किन्तु सव्यभिचार शब्द के अर्थ को समझता है उसके लिए 'अनैकान्तिक' शब्द लक्ष्य होगा और सव्यभिचार शब्द लक्षण[1]। इसके विपरीत विरुद्ध स्थिति होगी। तात्पर्य-टीकाकार के अनैकान्तिक और सव्यभिचार को तुल्य स्थान देने का प्रभाव परवर्ती नैयायिकों पर पड़ा। परवर्ती न्यायसाहित्य में कहीं 'सव्यभिचार' शब्द को लक्ष्य और कहीं 'अनैकान्तिक' शब्द को लक्ष्य माना गया है। तर्कभाषा में लक्ष्यरूप में 'अनैकान्तिक' शब्द को लिया गया है[2] जब कि तर्कसंग्रह में सव्यभिचार को[3]।

बौद्धों के प्रतिषेध का उत्तर—बौद्धों ने 'अनैकान्तिक' शब्द को लेकर कुछ आक्षेप किया है[4]। अनैकान्तिक शब्द का अर्थ क्या हो सकता है? अनैकान्तिक पद में आये हुए नञ् से पर्युदास समझा जाना चाहिए अथवा प्रसज्यप्रतिषेध? निर्दिष्ट विषय के अतिरिक्त जो कुछ भी होता है उसे पर्युदास कहते हैं[5]। निर्दिष्ट के अभाव को प्रतिषेध कहा जाता है। यदि अनैकान्तिक को पर्युदास माना जाये तो ऐकान्तिक से अतिरिक्त जो भी कुछ बचता है सब अनैकान्तिक हो जाता है। इस प्रकार हेत्वाभास की संख्या केवल एक रह जाती है क्योंकि कोई भी हेत्वाभास ऐकान्तिक नहीं होता। 'प्रसज्यप्रतिषेध' को यदि हेत्वाभास माना जाये तो आपत्ति यह होती है कि प्रतिषेध अभाव-रूप है तथा व्यभिचार और अव्यभिचार भाव पदार्थ के ही धर्म हो सकते हैं, अभाव के नहीं। कारण, बौद्ध सिद्धान्त में अभाव निरुपाख्य अर्थात् निःस्वभाव है। निःस्वभाव होना और किसी धर्म का धर्मी होना इन

---

१. तात्पर्यटीका—१।२।५ पृष्ठ ३३६।
२. तर्कभाषा—अनुमान प्रकरण।
३. तर्कसंग्रह—अनुमान प्रकरण।
४. न्यायवार्तिक—१।२।५ पृष्ठ १७०।
५. अर्थसंग्रह—निषेधप्रकरण।

दोनों में परस्पर अत्यन्त विरोध है[१]। वार्तिककार ने इस समस्या का समाधान किया है। प्रकृतस्थल में पर्युदास न मानकर प्रसज्यप्रतिषेध मानना चाहिए। प्रसज्यप्रतिषेध को अभाव मानना भी भूल ही है। यह आवश्यक नहीं कि जहाँ नञ् का प्रयोग हो वहाँ अभाव को निरुपाख्य अर्थात् निःस्वभाव (निर्धर्मक) माना जाये। उदाहरण के लिए 'अब्राह्मण' शब्द को लिया जा सकता है। हम 'अब्राह्मणो जनो गच्छति' वाक्य का प्रयोग करते हैं। यदि 'अब्राह्मण' अभाव-रूप होता तो उसमें गमन क्रिया सम्पन्न न हो पाती।

विरुद्ध—हेतु जब स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध होता है, विरुद्ध माना जाता है[२]। जैसे—'त्रैलोक्य नित्य है, नित्यता का प्रतिषेध होने के कारण'। यहाँ पहिले प्रतिज्ञा में त्रैलोक्य की नित्यता को स्वीकार किया गया पुनः हेतु द्वारा उसी का विरोध किया गया है[३]।

वार्तिक में यह भी शंका उठाई गई है कि सभी हेत्वाभासों में स्वीकृत अर्थ का विरोध पाया जाता है फिर हेत्वाभास के पाँच प्रकार न होकर केवल एक विरुद्ध नामक हेत्वाभास होना चाहिए[४]। सव्यभिचार आदि हेत्वाभासों को भी विरुद्ध कहना चाहिए क्योंकि हेतु उनमें भी बाधित होता है। यदि हेतु बाधित न हो तो वे हेत्वाभास नहीं हो पायेंगे[५]। इस शंका का समाधान वार्तिक में इस प्रकार मिलता है—सामान्यरूप में सभी हेत्वाभास विरुद्ध कहे जा सकते हैं किन्तु अतिरिक्त विभिन्न विशेषताओं के कारण विभिन्न हेत्वाभास माने गये हैं। विरुद्ध हेत्वाभास में केवल स्वीकृत अर्थ का विरोध ही पाया जाता है जब कि अन्य हेत्वाभासों में विरोधांश के अतिरिक्त अन्य विशेषताएँ भी पाई जाती हैं, जैसे सव्यभिचार हेत्वाभास में विरोधांश के अतिरिक्त अनैकान्तिकता भी पाई जाती है।

वस्तुतः हेतु जब प्रतिज्ञा का विरोधी होता है विरुद्ध हेत्वाभास माना जाता है[६]। इस प्रकार प्रकृत हेत्वाभास प्रतिज्ञाविरोधी हुआ। फिर प्रकृत हेत्वाभास और प्रतिज्ञाविरोध नामक तृतीय निग्रहस्थान में क्या भेद है?

---

१. तात्पर्यटीका—१।१।५ पृष्ठ ३३७।
२. न्यायसूत्र—१।२।६।
३. न्यायवार्तिक—१।२।६ पृष्ठ १७२।
४. न्यायवार्तिक—१।२।६ पृष्ठ १७२।
५. तात्पर्यटीका—१।२।६ पृष्ठ ३३९।
६. न्यायवार्तिक—१।२।६ पृष्ठ १७२-७३।

वार्तिककार ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है, जिसका स्पष्टीकरण तात्पर्यटीकाकार ने किया है। जब विरोधिता प्रतिज्ञा के आश्रित होती है तब निग्रहस्थान और जब विरोधिता हेतु के आश्रित होती है तब विरुद्ध हेत्वाभास माना जाता है[१]।

प्रकरणसम—संशयकाल से लेकर निर्णय होने के पूर्व तक होनेवाली जिज्ञासा जिस हेतु के ज्ञान से उत्पन्न होती है उसे प्रकरणसम हेत्वाभास कहते हैं। इसी हेत्वाभास का नाम परवर्ती न्यायग्रंथों में 'सत्प्रतिपक्ष' मिलता है। भाष्य में 'प्रकरण' शब्द का अभिप्राय-'संदेहास्पद अनवसित पक्षप्रतिपक्ष' लिया गया है अर्थात् जिस हेतु से ऐसे पक्ष एवं प्रतिपक्ष की प्राप्ति हो जिनमें साध्य धर्म का निर्णय न हो पा रहा हो अपितु संदेह ही हो रहा हो प्रकरणसम हेत्वाभास होता है[२]। इसका अभिप्राय यही है कि जिस हेतु से समान बल वाले प्रतिपक्ष की प्राप्ति हो, प्रकरणसम हेत्वाभास कहलाता है। न्यायसाहित्य में प्रकरणसम के स्थान पर 'सत्प्रतिपक्ष' को लाने का श्रेय वाचस्पति मिश्र को ही है जो सत्प्रतिपक्षत्व को ही 'प्रकरणसम' पद का प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं[३]। 'प्रकरणसमपदस्यप्रवृत्तिनिमित्तं तु सत्प्रतिपक्षत्वम्'। प्रकरणसम हेत्वाभास का उदाहरण इस प्रकार है-'शब्द नित्य है, अनित्य धर्म की अनुपलब्धि होने के कारण'। प्रकृत पक्षवाक्य का प्रतिपक्षवाक्य इस प्रकार हो सकता है—'शब्द अनित्य है नित्यधर्म' की अनुपलब्धि होने के कारण[४]।

संशय उत्पन्न करने के कारण प्रकरणसम और अनैकान्तिक—सव्यभिचार में अभेद नहीं माना जा सकता क्योंकि संशय का कारण प्रत्यक्ष ज्ञान भी होता है किन्तु उसे प्रकरणसम नहीं माना जा सकता[५]। वाचस्पति मिश्र अनैकान्तिक को सत्प्रतिपक्षत्व-रूप धर्म के द्वारा अलग करते हैं। अनैकान्तिक अर्थात् सव्यभिचार में सत्प्रतिपक्षत्व नहीं होता क्योंकि वहाँ हेतु का प्रतिपक्ष हेतु न पाया जाकर हेतु का व्यभिचार दिखलाया जाता है। प्रकरणसम में एक पृथक् वाक्य द्वारा एक तुल्य बल वाले प्रतिपक्षभूत हेतु की प्राप्ति होती है। पुनश्च प्रकरणसम के प्रकृत उदाहरण में हेतुव्यभिचार नहीं माना जा सकता क्योंकि वादी और प्रतिवादी के द्वारा स्वीकृत नित्य पदार्थ में नित्य धर्म की अनुपलब्धि

---

१. तात्पर्यटीका—१।२।६ पृष्ठ ३४१।
२. न्यायभाष्य—१।२।७।
३. तात्पर्यटीका—१।२।७ पृष्ठ ३४२ पंक्ति-७।
४. न्यायवार्तिक—१।२।७ पृष्ठ १७३।
५. न्यायवार्तिक—१।२।७ पृष्ठ १७३-७४।

नहीं मानी जा सकती और न ही दोनों के द्वारा स्वीकृत अनित्य पदार्थ में अनित्यत्व धर्म की अनुपलब्धि मानी जा सकती है[1]।

साध्यसम—साध्य के समान ही जिस हेतु के भी सिद्ध करने की आवश्यकता पड़ जाये उसे साध्यसम कहा जाता है। यहाँ हेतु साध्य के ही समान सिद्ध किये जाने योग्य होता है न कि पहिले से ही सिद्ध रहता है इसीलिए प्रकृत हेत्वाभास को 'असिद्ध' भी कहते हैं। प्रकृत अर्थ में असिद्ध शब्द का प्रयोग न्यायसाहित्य में पहिलेपहल वार्तिककार ने किया है। यही नहीं उन्होंने असिद्ध के तीन प्रभेद भी माने हैं[2]—प्रज्ञापनीयसमानधर्म, आश्रयासिद्ध और अन्यथासिद्ध। किन्तु तीनों का भेद अलग-अलग स्पष्ट नहीं किया गया है और न उदाहरण ही दिये गये हैं।

साध्यसम हेत्वाभास का उदाहरण भाष्यकार के अनुसार, जिसका अनुमोदन वार्तिक में हुआ है, इस प्रकार[3]—

'छाया द्रव्य होती है,

गमनशील होने के कारण।', यहाँ छाया को द्रव्य सिद्ध करना है किंतु हेतु—गमनशीलता छाया-रूप पक्ष में असिद्ध है क्योंकि छाया में गति होती है या नहीं निर्णीत (सिद्ध) नहीं है, अपितु निर्णेय अर्थात् साध्य है। वस्तुतः छाया में गति नहीं होती। जब कोई द्रव्य प्रकाश को रोकता है तब प्रकाश से रहित स्थान अन्धकारयुक्त हो जाता है। इसी प्रकाशाभाव को छाया कहा जाता है। जैसे-जैसे आवरक द्रव्य चलता है वैसे-वैसे प्रकाशसमूह भी आधारभूत स्थान पर नहीं पड़ता, इसीलिए वहाँ प्रकाश का अभाव होता है जिसे लोग 'छाया' कहते हैं और उसे भ्रमवश गमनशील समझते हैं जब कि वस्तुतः आवरक द्रव्य ही गतिशील होता है। अतएव छाया में द्रव्यत्व के समान गतिशीलता भी साध्य ही रहती है, सिद्ध नहीं रहती। इसलिए इस हेत्वाभास को साध्यसम कहा जाता है।

कालातीत—जिस हेतु में समय (काल) का उल्लंघन पाया जाता है कालातीत हेत्वाभास कहा जाता है, जैसे[4]—

'शब्द नित्य है,
संयोग से अभिव्यक्त होने के कारण,
जैसे दीपक के प्रकाश से घट (प्रकाशित होता है)'।

---

१. तात्पर्यटीका—१।२।७ पृष्ठ ३४२।

२. न्यायवार्तिक—१।२।८ पृष्ठ १७५।

३. न्यायभाष्य—१।२।५। ४. न्यायभाष्य—१।२।९।

उदाहर्ता का अभिप्राय इस प्रकार है—यह अनुभव द्वारा सिद्ध है कि घने अन्धकार में जिस समय दीपक के प्रकाश का संयोग घट से होता है उस समय घट दिखाई देता है। प्रकाश के संयोग से घट उत्पन्न नहीं होता, घट पहिले से ही विद्यमान रहता है। इसी प्रकार भेरी और दण्ड का जैसे ही संयोग होता है, पहिले से विद्यमान शब्द अभिव्यक्त हो पड़ता है। संयोग से शब्द की उत्पत्ति नहीं होती।

उदाहर्ता का उक्त कथन तर्कसंगत नहीं क्योंकि प्रकाशक (दीपक का प्रकाश) और प्रकाश्य (घट) में एककालता रहती है जैसा कि अनुभवसिद्ध है, किन्तु भेरीदण्डसंयोग और शब्द की प्रकाश्यता के बारे में एककालता न होकर कालिक अन्तर आता है। संयोग हो चुकने पर अर्थात् संयोग हो चुकने के बाद शब्द सुना जाता है इसलिए इसे कालातीत हेत्वाभास कहते हैं।

क्या कालातीत हेत्वाभास का उक्त उदाहरण अनैकान्तिक नहीं ? क्योंकि घट आदि अनित्य पदार्थ भी संयोग के द्वारा प्रकाश्य—अभिव्यज्यमान होते हैं और नित्य के व्यज्यमान होने की प्रतिज्ञा की गई है, इसलिए वार्तिककार ने नित्य का अर्थ 'पूर्वावस्थित—संयोग से पूर्व विद्यमान होना' लिया है। पहिले से विद्यमान पदार्थ ही अभिव्यक्त हो सकता है।

कालातीत हेत्वाभास के एक विशेष अर्थ के संबन्ध में भाष्य से ही एक विवाद प्रारंभ होता है। अवयवों के बीच प्रतिज्ञा के बाद हेतु के प्रयोग का अवसर आता है किन्तु वहाँ हेतुवाक्य का प्रयोग न करके किसी अन्य अवयव-वाक्य का प्रयोग करना और तदनुसार हेतुवाक्य का प्रयोग करना 'अवयव-विपर्यास' कहा जाता है[1]। इस अवयवविपर्यास को कुछ लोग कालातीत हेत्वाभास मानते रहे हैं। भाष्य और वार्तिक में कालातीत की उक्त व्याख्या का खण्डन किया गया है किन्तु व्याख्याता का परिचय नहीं दिया गया है[2]। तात्पर्यटीकाकार ने इसे 'भदन्त'—बौद्धों की व्याख्या माना है[3]।

'उपायहृदय' (पृष्ठ १६) नामक दिङ्नागपूर्व बौद्धन्याय-ग्रन्थ में कालातीत के दूसरे प्रभेद की ऐसी ही व्याख्या पाई जाती है। डॉ० टुची का मत है कि न्यायभाष्यकार ने इसी व्याख्या की आलोचना 'अवयवविपर्यास' शब्द से

१. न्यायभाष्य—१।२।९।

२. न्यायवार्तिक—१।२।९ पृष्ठ १७५–७६।

३. तात्पर्यटीका—१।२।९ पृष्ठ ३४८

निर्देश करके की है[1]। वार्तिककार बौद्धों की कालातीतविषयक उक्त व्याख्या को समीचीन नहीं मानते क्योंकि हेतु का अपने स्थान से अतिरिक्त स्थान पर प्रयोग कर देने से भी हेतु के अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता और यदि अवयव-विपर्यास को 'अप्राप्तकाल' संज्ञक निग्रहस्थान माना जाये तो भी इसे हेत्वाभास नहीं कह सकते क्योंकि निग्रहस्थान की प्राप्ति पुरुष के दोष से होती है, उसमें हेतु का कोई दोष नहीं होता।

तात्पर्यटीकाकार ने कालातीत हेत्वाभास की व्याख्या नये ढंग से करके उसे बाधित हेत्वाभास से अभिन्न सिद्ध किया है[2]।



१. Tucci—Pre-Dinnaga Buddhist Texts on Logic from Chinese Sources. Part II P. 19.

२. तात्पर्यटीका—१।२।९, पृष्ठ ३४७

अध्याय ५

न्यायवार्तिक में उपमान और शब्द-प्रमाण

उपमान

उपमान का लक्षण—न्यायसूत्र के अनुसार 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' उपमान प्रमाण का लक्षण है[1]। लक्षण के अनुसार प्रसिद्ध (ज्ञात) एवं अप्रसिद्ध (अज्ञात) दो वस्तुओं का वह साधर्म्य जिससे साध्य की सिद्धि—ज्ञातव्य का ज्ञान—हो सके उपमान प्रमाण माना जाता है। भाष्य में उपमान प्रमाण के स्वरूप का विवेचन इस प्रकार किया गया है—'गवय' पशु को न पहिचानने वाला व्यक्ति 'जैसी गाय होती है वैसा गवय पशु होता है' यह वाक्य सुनकर जंगल जाकर किसी पशुविशेष को, जिसमें गाय की सदृशता होती है, देखता है। उस पशु में वह व्यक्ति गाय की सदृशता का प्रत्यक्ष करता है। यही सादृश्यदर्शन उपमान प्रमाण है। गाय की सदृशता का दर्शन करने पर वह व्यक्ति यह निश्चय करता है कि 'गवय' शब्द का वाच्य दृश्यमान पशु है। इस प्रकार संज्ञा ('गवय' शब्द) और संज्ञी ('गवय' पशु) के सम्बन्ध का अर्थात् वाच्यवाचकभाव का निश्चयात्मक ज्ञान होता है। भाष्यकार के अनुसार यही ज्ञान उपमिति है। उक्त ज्ञान उपमान प्रमाण द्वारा ही उत्पन्न होता है[2]।

वार्तिककार ज्ञात पदार्थ की सदृशता से युक्त अज्ञातसंज्ञक पदार्थ के उस प्रत्यक्ष को, जिसे 'जैसी गाय है वैसा गवय होता है' इस आप्तवाक्य के स्मरण की अपेक्षा होती है, उपमान प्रमाण मानते हैं[3]। 'जैसी गाय है वैसा गवय होता है' इस अतिदेश वाक्य के सुनने के पश्चात् पशुविशेष के देखने पर निश्चय होता है कि इस पशुविशेष में गाय की सदृशता है। साथ ही उक्त अतिदेश वाक्य का स्मरण भी होता है। वार्तिककार के अनुसार उक्त अतिदेश वाक्य के स्मरण-सहित 'गाय की सदृशता से युक्त गवय का दर्शन' उपमान प्रमाण होता है। भाष्यकार 'गवय में गाय की सदृशता के प्रत्यक्ष' को उपमान प्रमाण मानते हैं, जब कि वार्तिककार 'गाय के साधर्म्य से युक्त गवय के प्रत्यक्ष' को।

---

१. न्यायसूत्र—१।१।६।   २. न्यायभाष्य—१।१।६।
३. न्यायवार्तिक—१।१।६, पृष्ठ ५७-५८।

उपमान के प्रभेद

सूत्रकार एवं भाष्यकार ने उपमान प्रमाण के प्रभेदों का उल्लेख नहीं किया है। उपमान के 'साधर्म्योपमान' एवं 'वैधर्म्योपमान' इन दो प्रभेदों का सर्वप्रथम उल्लेख वार्तिक में पाया जाता है—

'प्रसिद्धसाधर्म्यस्य चोपमानहेतुत्वादप्रतिषेधः।'[1]

विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य ने उपमान के उक्त दो प्रभेदों का सर्वप्रथम उल्लेख करने वाला वाचस्पति मिश्र को माना है[2] किन्तु जैसा पूर्व विवेचन किया जा चुका है, उपमान के द्विविध प्रभेदों के जन्मदाता वार्तिककार हैं, तात्पर्यटीकाकार नहीं।

उपमान के 'साधर्म्य' एवं 'वैधर्म्य' प्रभेदों की कल्पना का आधार हेतु[3] एवं उदाहरण[4] के 'साधर्म्य एवं 'वैधर्म्य' प्रभेद रहे होंगे।

साधर्म्योपमान—जहाँ समानधर्मतामूलक उपमिति होती है वहाँ साधर्म्योपमान प्रमाण होता है। इसका उदाहरण 'यथा गौस्तथा गवयः' इस वाक्य के स्मरण से सहकृत गवयत्व जाति से विशिष्ट गवय पिण्ड का प्रत्यक्ष ज्ञान है। उक्त प्रत्यक्षज्ञानरूप साधर्म्योपमान प्रमाण से 'गवय शब्द के वाच्य गवयत्व जाति से विशिष्ट पशु का ज्ञान' होता है। यहाँ साधर्म्योपमान इसलिये माना जाता है कि 'यथा गौस्तथा गवयः' एतादृश उपमान ज्ञान के सहकारी वाक्य में 'यथा' एवं 'तथा' इन साधर्म्य-निर्देशक अव्ययों का प्रयोग पाया जाता है। भाष्यकार द्वारा उल्लिखित अन्य दो उदाहरण साधर्म्योपमानपरक ही हैं[5]। वे इस प्रकार हैं:—

१—'यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी' अर्थात् जैसी मूंग होती है वैसी ही मुद्गपर्णी नामक औषधि होती है।

---

1. न्यायवार्तिक—२।१।४५, पृष्ठ २५७ पंक्ति १८
2. 'वैधर्म्योपमितिमपि मन्यन्ते टीकाकृतः'

(न्यायसूत्रवृत्ति—१।१।६)

3. 'उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः', 'तथा वैधर्म्यात्'

(न्यायसूत्र—१।१।३४-३५)

4. 'साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्', 'तद्विपर्ययाद् विपरीतम्'

(न्यायसूत्र—१।१।३६-३७)

5. न्यायभाष्य—१।१।६

२—'यथा माषस्तथा माषपर्णी' अर्थात् जैसा उरद होता है वैसी ही माषपर्णी नामक औषधि होती है।

प्रसिद्ध साधर्म्य के द्वारा ही साधर्म्योपमिति होती है। तात्पर्यटीकाकार ने दो प्रकार की साधर्म्यप्रसिद्धि मानी है—पहिली श्रुतिमयी प्रसिद्धि एवं दूसरी प्रत्यक्षमयी प्रसिद्धि[1]। 'गवय पशु गाय के समान होता है' इस प्रकार की अतिदेशवाक्यात्मक प्रसिद्धि 'श्रुतिमयी प्रसिद्धि' होती है। प्रकृत प्रसिद्धि साक्षात् संज्ञा एवं संज्ञी के वाच्यवाचकभाव-रूप (संबंधज्ञान) उपमिति को नहीं उत्पन्न करती अपितु स्मरणसहकृत होकर परम्परया ही उपमिति में सहायक हुआ करती है। प्रत्यक्षमयी श्रुति उस सादृश्यज्ञान को कहा जाता है जो अतिदेशवाक्य के स्मरण के अनन्तर 'गवयत्व'—जातिविशिष्ट गवय में गो-पशु का प्रत्यक्षात्मकरूप में होता है। इसी प्रत्यक्षमयी प्रसिद्धि से संज्ञा और संज्ञी के बीच होने वाले वाच्यवाचकभाव-रूप सम्बन्ध का निर्णयात्मक ज्ञान होता है, इसी को उपमिति कहा जाता है।

वैधर्म्योपमान—वैधर्म्योपमान का उल्लेख वार्तिक में पाया जाता है किन्तु उसके स्वरूप पर विशद विवेचन तात्पर्यटीका में ही उपलब्ध होता है। जिस प्रकार 'गाय के समान गवय होता है' इस साधर्म्यमूलक अतिदेश वाक्य से साधर्म्योपमिति होती है उसी प्रकार वैधर्म्यमूलक वाक्यों के श्रवण से वैधर्म्योपमिति भी होती है। वैधर्म्योपमिति का कारण वैधर्म्योपमान होता है। तात्पर्यटीकाकार ने वैधर्म्योपमान के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए अन्य पशुओं के वैधर्म्य से युक्त रूप में ऊँट का उल्लेख किया है[2]। 'ऊँट गाय एवं अन्य पशुओं से विलक्षण होता है, उसकी गर्दन लम्बी और टेढ़ी होती है, होठ लम्बे होते हैं, कठोर और नुकीले काँटों को वह चाव से खाता है, उसके शरीर के सभी अवयव बेढंगे होते हैं, ऊँट पशुओं में अत्यन्त अशुभ होता है, इत्यादि' वाक्य को जब ऐसा कोई व्यक्ति सुनता है जिसे ऊँट की पहिचान नहीं है, तो उसके मन में स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि जिसे 'ऊँट' कहा जाता है वह पशु कैसा होता है? तात्पर्यटीकाकार ने दक्षिण में ऊँटों का अभाव माना है, इसीलिए कहा है कि उत्तर भारत के किसी व्यक्ति से ऊँट के उक्त वर्णन को सुनकर दक्षिण भारत का कोई जिज्ञासु व्यक्ति उत्तर भारत जाकर उक्त विशेषणों से युक्त पशु को जब देखता है और ऊँट के वर्णन वाले उक्त वाक्य का स्मरण करता है,

१. तात्पर्यटीका—१।१।६, पृष्ठ १९७–९८।
२. तात्पर्यटीका—१।१।६, पृष्ठ १९८।

तब वह समझ लेता है कि जिसे ऊँट कहा जाता है वह यही पशु है अर्थात् एतज्जातीय पशु को ही ऊँट कहा जाता है। यहाँ वैधर्म्योपमिति इसलिए मानी जाती है कि गाय अथवा अन्य पशुओं के धर्मों के विपरीत धर्म ऊँट में पाये जाते हैं। शेष सब परिस्थितियाँ साधर्म्योपमान के ही समान होती हैं।

उपमान का प्रामाण्य

उपमान के प्रामाण्य पर आक्षेप—न्यायसूत्रों में ही पूर्वपक्षी (सांख्य, बौद्ध, वैशेषिक) की ओर से यह आक्षेप किया गया है कि उपमान का प्रामाण्य सम्भव नहीं[1]। आक्षेप की पुष्टि 'अत्यन्त', 'प्रायः' एवं 'एकदेश' इन तीन प्रकार के साधर्म्यों के द्वारा की गई है—भाष्यकार ने उदाहरण द्वारा इन तीनों को स्पष्ट किया है[2]—

१—'अत्यन्त' साधर्म्य द्वारा उपमान प्रमाण की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि एक गाय का दूसरी गाय से अत्यन्त सादृश्य होता है किन्तु उपमान के प्रसङ्ग में 'जैसी गाय होती है वैसी गाय होती है' ऐसे वाक्यों का व्यवहार नहीं होता।

२—'प्रायः'—बहुत कुछ सादृश्य होने पर भी उपमान की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि उपमान प्रमाण के सम्बन्ध में 'जैसा बैल होता है वैसा भैंसा होता है' ऐसे वाक्यों का व्यवहार नहीं होता है और न उससे प्रमिति ही होती है, जब कि बैल और भैंसे में बहुत कुछ समानता होती है।

३—'एकदेश'—किञ्चित्-साधर्म्य के आधार पर उपमिति मानने पर किसी वस्तु के साधर्म्य से ही उपमिति होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा क्योंकि किसी न किसी अंश में कोई भी दो वस्तुयें समान होती हैं। वार्तिककार का कथन है कि तब तो उपमान के प्रसङ्ग में 'जैसा मेरु है, वैसा सरसों है' ऐसे वाक्यों का व्यवहार होने लगेगा[3] और उससे उपमिति भी होती मानी जायेगी।

आक्षेपों का निवारण—उक्त आक्षेप अप्रासङ्गिक हैं क्योंकि सिद्धान्त के अनुसार प्रसिद्ध साधर्म्य से ही उपमान होता है न कि 'अत्यन्त', 'प्रायः' अथवा 'एकदेशीय' साधर्म्य के आधार पर। अतएव जहाँ कहीं प्रसिद्ध साधर्म्य होगा वहाँ उपमान प्रमाण की प्रवृत्ति एवं उससे उपमिति की निष्पत्ति अवश्य

१. न्यायसूत्र—२।१।४५। २. न्यायभाष्य—२।१।४५।
३. न्यायवार्तिक—२।१।४४-४५, पृष्ठ २५८

हो सकेगी। वार्तिककार ने तीन युक्तियों द्वारा प्रकृत आक्षेपों का उत्तर दिया है[1] :—

प्रथम युक्ति यह है कि उपमान प्रमाणस्थल में उक्त तीन प्रकार के साधर्म्य-मूलक उपमान के निराकरण से यह कभी नहीं सिद्ध होता है कि उपमान नामक प्रमाण का सर्वथा अभाव ही है। दूसरी युक्ति यह है कि अप्रसिद्ध वस्तु का अभाव कभी नहीं माना जा सकता अतएव जब तक किञ्चिन्मूलक उपमान को स्वीकार न किया जायेगा तब तक यह कहना भी सम्भव न होगा कि अत्यन्तप्रायैकदेश के साधर्म्य से उपमान नहीं हो सकता।

तीसरी युक्ति है कि प्रसङ्ग के अनुसार 'अत्यन्त', 'प्रायः' एवं 'एकदेशीय' साधर्म्य के द्वारा भी उपमान होता है, जैसे 'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' यहाँ अत्यन्त साधर्म्य होने पर भी एक क्रिया की उपमा उसी क्रिया से दी जाती है। यद्यपि आलंकारिक यहाँ अनन्वयालङ्कार मानते हैं परन्तु वार्तिककार की दृष्टि में उपमालङ्कार ही है। 'बैल कितना बलवान् पशु होता है' ? ऐसी जिज्ञासा होने पर ऐसे वाक्यों का व्यवहार होता है कि 'जैसे भैंसा बलवान् होता है वैसे बैल भी'। इस प्रकार प्रायः साधर्म्य से भी उपमिति होती है। मेरु की सत्ताविषयक जिज्ञासा होने पर 'जिस प्रकार सरसों सत्तावान् है उसी प्रकार मेरु भी सत्तावान् है' इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग होता है।

उक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि उपमान भी एक प्रमाण है।

उपमान—एक स्वतंत्र प्रमाण

जो दार्शनिक उपमान को प्रमाण नहीं मानते हैं वे उपमान को अनुमान, प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाण में अन्तर्भूत मानते हैं।

उपमान के विषय में दिङ्नाग का मत—प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग उपमान को स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते क्योंकि उनकी दृष्टि में उपमान प्रमाण प्रत्यक्ष और आगम इन दो प्रमाणों से भिन्न नहीं है। कारण, उपमान प्रमाण गाय और गवय के सादृश्य को सिद्ध करता है। जब यह सादृश्य गाय और गवय के देखने से प्रत्यक्ष होता है तब प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञात होता है और जब उसका ज्ञान 'यथा गौस्तथा गवयः' इस वाक्य से होता है तब आगम प्रमाण द्वारा होता है[2]।

---

१. न्यायवार्तिक—२।१।४४–४५, पृष्ठ २५७–५८

२. न्यायवार्तिक—१।१।६, पृष्ठ ५८।

आलोचना—वार्तिककार ने उक्त मत की आलोचना की है। वस्तुतः भदन्त-दिङ्नाग ने उपमान प्रमाण के स्वरूप को नही समझा क्योंकि दिङ्नाग उपमिति का अर्थ 'गाय और गवय के सादृश्य' का ज्ञान अथवा 'गवय की सत्ता' का ज्ञान समझते हैं किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। प्रकृतस्थल में 'गवय' संज्ञा और 'गवय' संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान ही उपमिति है। फिर 'यथा गौस्तथा गवयः' केवल इस वाक्य की सहायता से इतना भर ज्ञात हो जाता है कि गाय के समान गवय है। परन्तु इस ज्ञान का आधार शब्द प्रमाण है, न कि प्रत्यक्ष। किन्तु 'गवय शब्द का वाच्य गवयत्वविशिष्ट पिण्ड होता है' यह ज्ञान नहीं हो पाता, क्योंकि गवय के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के पश्चात् सादृश्यज्ञापक अतिदेशवाक्य का स्मरण करके ही उक्त संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध अर्थात् वाच्यवाचकभाव का ज्ञान होता है। इसी प्रकार सादृश्यज्ञापक अति-देशवाक्य के बिना केवल गवय के प्रत्यक्ष से भी उक्त संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध का ज्ञान सम्भव नहीं है। अतएव उपमान प्रमाण अवश्य ही प्रत्यक्ष एवं आगम से विलक्षण है[1]।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि क्या उपमान को प्रत्यक्ष और आगम इन दो प्रमाणों का मिलित रूप नहीं मान सकते? उत्तर नकारात्मक ही होगा क्योंकि दो प्रसिद्ध प्रमाणों के मिलने से भी कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना जा सकता।

उपमान और अनुमान प्रमाण—वैशेषिक और बौद्धदार्शनिक उपमान को स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते। न्यायसूत्रों में ही पूर्वपक्षी की ओर से उपमान को अनुमान में अन्तर्भूत मान लेने की युक्ति उपस्थित की गई है[2]। किन्तु भाष्य, वार्तिक अथवा तात्पर्यटीका में यह नहीं बतलाया गया है कि उपमान को बौद्ध या वैशेषिक में से कौन से दार्शनिक अनुमान में अन्तर्भूत मानते हैं। उपमानलक्षण के प्रतिपादक सूत्र की व्याख्या में उपमान की आलोचनाविषयक बौद्धों के मत का वार्तिककार ने स्पष्टतः उल्लेख किया है। तात्पर्यटीकाकार ने उसे दिङ्नाग का मत कहा है[3]। किन्तु जिस स्थल पर उपमान के अनुमान में अन्तर्भाव की परीक्षा की गई है किसी भी आचार्य ने बौद्ध या दिङ्नाग का उल्लेख नही किया और न ही वैशेषिकों का। यदि बौद्धों का प्रसंग होता तो उसका उल्लेख करना कोई भी आचार्य न भूलता। डॉ० विद्याभूषण ने दिङ्नाग

१. न्यायवार्तिक—२।१।४७ पृष्ठ २५८, २. न्यायसूत्र—२।१।४७,
३. तात्पर्यटीका—१।१।६ पृष्ठ २०० पंक्ति १५,

के उपमान को प्रत्यक्ष प्रमाण में अन्तभूर्त मानने का उल्लेख किया है[१]। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रासङ्गिक मत वैशेषिकों का है किन्तु उसे समानतंत्रीय समझकर उसका स्पष्ट उल्लेख न्याय का कोई भी आचार्य न कर सका। यहाँ तक कि अस्पष्टनिर्देशवाची 'केचित्' आदि शब्दों का प्रयोग भी प्रकृतस्थल में नहीं हुआ है।

उपमान को अनुमान प्रमाण मानने वालों की युक्ति है कि जिस प्रकार अनुमानस्थल में धूम के प्रत्यक्ष ज्ञान से अप्रत्यक्षभूत अग्नि का ज्ञान होता है, उसी प्रकार उपमानस्थल में भी गाय के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्षभूत गवय का ज्ञान होता है अतः अनुमान और उपमान अभिन्न हैं[२]। तात्पर्यटीकाकार ने इस कथन का स्पष्टीकरण किया है—'यथा गौरेवं गवयः' यह वाक्य ही 'गाय के प्रत्यक्ष'-रूप लिङ्गज्ञान से गवय (लिङ्गी) का गवयसंज्ञाविशिष्ट रूप में अप्रत्यक्ष ज्ञान कराता है, किंतु यहाँ यदि प्रश्न किया जाये कि उपमित पदार्थ के ज्ञानस्थल में गवय का प्रत्यक्ष होता है जब कि अनुमित पदार्थस्थल में अग्नि का प्रत्यक्ष नहीं होता तो इसका उत्तर यह है कि 'यथा गौरेव गवयः' वाक्य द्वारा जो कुछ मालूम होता है गवय के प्रत्यक्ष होने के उपरान्त भी वैसा ही ज्ञान होता है। वाक्य की सहायता लेकर अनुमान भी गाय और गवय के साहश्य का ज्ञान कराता है और प्रत्यक्ष भी। अतएव अनुमान प्रमाण उपमान से विलक्षण नहीं है[३]।

आलोचना—वार्तिक में उपमान के अनुमान में अन्तर्भाव की मान्यता की आलोचना इस प्रकार है—अनुमानस्थल में अनुमेय पदार्थ अप्रत्यक्ष रहता है जब कि उपमानस्थल में उपमेय पदार्थ प्रत्यक्ष होता है। दूसरा अन्तर यह है कि 'यथा गौरेवं गवयः' इस वाक्य के श्रवणमात्र से ही संज्ञी के रूप में गवय की प्रतीति नहीं होती है[४] इसलिए उपमान को आगम भी नहीं कहा जा सकता और जिसने 'यथा गौरेवं गवयः' इस आप्त वाक्य को न सुना हो उसे गवय व्यक्ति के साथ चक्षु का संयोग होने पर भी संज्ञी-रूप में अर्थात् गवय पद के वाच्य रूप में उसका ज्ञान नहीं होता इसलिए उपमान को प्रत्यक्ष भी नहीं कहा जा सकता। अनुमानस्थल में पंचावयव वाक्य से ही

१. Vidyabhusana: A History of Indian Logic, p. 287.
२. न्यायवार्तिक—२।१।४६ पृष्ठ २५८,
३. तात्पर्यटीका—२।१।४६ पृष्ठ ४१०,
४. न्यायवार्तिक—२।१।४७ पृष्ठ २५८,

अनुमेय—अग्नि का ज्ञान हो जाता है जब कि उपमान में ऐसी स्थिति नहीं होती। उपमान के अनुमान से विलक्षण सिद्ध होने का कारण यह भी है कि अनुमानस्थल में व्याप्तिस्मरणसहकृत लिङ्गपरामर्श प्रमाण होता है किन्तु उपमानस्थल में व्याप्तिस्मरण और लिङ्गपरामर्श का सर्वथा अभाव रहता है। उपमानस्थल में अतिदेशवाक्यजनित अनुभव से निष्पादित संस्कारजन्य स्मृति से सहकृत सारूप्यविशिष्ट पिण्ड के प्रत्यक्ष को उपमान प्रमाण माना जाता है[1]।

इसके अतिरिक्त अनुभव के आधार पर भी उपमान को अनुमान प्रमाण नहीं माना जा सकता। यदि उपमान और अनुमान में किंचित् भेद न होता तो 'यथा गौरेवं गवयः' की भाँति 'यथा धूमस्तथाग्निः' इत्यादि वाक्य का प्रयोग अपेक्षित होता, किन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव प्रतीति के आधार पर भी अनुमान एवं उपमान प्रमाण सर्वथा पृथक् सिद्ध होते हैं[2]।

शब्द प्रमाण

न्यायदर्शन का चतुर्थ एवं अन्तिम प्रमाण शब्द है। शब्द के द्वारा भी विलक्षण ज्ञान उत्पन्न होता है जो प्रत्यक्ष, अनुमान एवं उपमान इन प्रमाणों से उत्पन्न होने वाले प्रमात्मक ज्ञानों से भिन्न होता है। सूत्रकार ने आप्त व्यक्ति के उपदेश को शब्दप्रमाण माना है[3]।

आप्तपुरुष का लक्षण—भाष्यकार ने उस व्यक्ति को आप्त माना है जिसे यथार्थरूप में ज्ञात पदार्थ को उसी रूप में व्यक्त करने की इच्छा हो। ऐसा प्रतीत होता है कि अदृष्ट विषयों के अनुमाता को भी भाष्यकार आप्त मानते हैं क्योंकि उन्होंने अनुमानप्रमाण के बल पर अदृष्ट अर्थ के वाचक शब्द के प्रामाण्य को स्वीकार किया है[4]। वार्तिककार के अनुसार प्रकृतस्थल में अदृष्ट वस्तु का प्रमात्मक ज्ञान श्रोता के लिये अनुमान प्रमाण द्वारा नहीं हो सकता क्योंकि उसके लिये वह शब्दप्रमाण द्वारा ही सिद्ध होगा[5]। हाँ, श्रोता को जिस अदृष्ट पदार्थ का ज्ञान शब्दप्रमाण द्वारा होता है आप्त वक्ता को उसी पदार्थ का ज्ञान अनुमान द्वारा हुआ भी माना जा सकता है।

वार्तिककार स्वर्ग, अपूर्व एवं देवता आदि विषयों को साधारण व्यक्तियों के लिये अतीन्द्रिय स्वीकार करते हैं किन्तु किसी व्यक्ति के लिये उनका प्रत्यक्ष

१. न्यायवार्तिक—२।१।४८, पृष्ठ २५८-५९
२. तात्पर्यटीका—१।१।६ पृष्ठ २०१,
३. न्यायसूत्र—१।१।७,
४. 'अदृष्टार्थोऽपि प्रमाणमर्थस्यानुमानादिति' (न्यायभाष्य—१।१।८)
५. न्यायवार्तिक—१।१।८ पृष्ठ ६१,

होना आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार स्वर्ग आदि विषयों के सम्बन्ध में आप्त पुरुष स्वर्ग आदि विषयों के दर्शक हो सकते हैं[१]। भाष्यकार एवं वार्तिककार ने ऋषि, आर्य एवं म्लेच्छ सभी को आप्त की परिभाषा के लक्षणों से युक्त यथा-सम्भव आप्त माना है। तात्पर्यटीकाकार के मत से ऋषि ऐसा आप्त पुरुष माना गया है जिसके लिये कोई भी विषय अदृष्ट नहीं रहता। उसे प्रत्येक विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान सदैव हुआ करता है। वह करतलस्थ आमलक की भाँति तीनों कालों के विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान करता है[२]। आर्य एवं म्लेच्छ की श्रेणी में आने वाले आप्त व्यक्तियों को कुछ विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा होता है[३] और कुछ विषयों का अनुमान प्रमाण द्वारा।

भाष्य, वार्तिक एवं तात्पर्यटीका में आप्तपुरुष के समुदितरूप में प्रायः निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं[४]।

१—जिसे सम्बद्ध पदार्थ का सम्यक् ज्ञान हो।

२—जिसे मनुष्यों का हित करने और उनके दुःखों के विनाश करने की इच्छा हो।

३—जिसमें आलस्य न हो अर्थात् उपदेश करने की इच्छा हो।

४—जिसमें मत्सर न हो अतएव जो विपरीत उपदेश न करे।

५—जिस व्यक्ति के स्थान और करण जिनसे शब्द उत्पन्न होता है, सशक्त हों।

शब्द के प्रभेद

शब्द दो प्रकार का माना गया है[५]—

१—वर्णात्मक　　　　२—ध्वन्यात्मक

वर्णात्मक शब्द उन्हें कहा जाता है जो कण्ठ तालु आदि करण एवं प्रयत्न रूप निमित्त कारणों से उत्पन्न होते हैं और समय (संकेत) के अनुसार अर्थ के बोधक होते हैं। अर्थ के अवबोधन के लिये शब्दों का उपयोग आप्त एवं अनाप्त दोनों करते हैं जिनमें आप्त के उपदेश को ही प्रमाण माना जा सकता है। आप्तोपदेश रूप शब्द प्रमाण के दो भेद होते हैं—(१) दृष्टार्थक एवं

१. न्यायवार्तिक—१।१।७ पृष्ठ ५८,

२. तात्पर्यटीका—१।१।७ पृष्ठ २०२, ३. तात्पर्यटीका—१।१।८ पृष्ठ २०७,

४. तात्पर्यटीका—१।१।७ पृष्ठ २०२,

५. न्यायभाष्य—२।२।४०,

(२) अदृष्टार्थक[1]। वर्णात्मक शब्दों के अतिरिक्त घंटे आदि बजने से जो शब्द उत्पन्न होते हैं उन्हें ध्वन्यात्मक शब्द माना जाता है।

शब्द के प्रामाण्य पर आक्षेप—किसी भी प्रकार के वर्णात्मक (वाक्यात्मक) शब्द को बिल्कुल प्रमाण न मानने वाले व्यक्तियों की निम्नलिखित युक्तियाँ वार्तिक में मिलती हैं[2]—

१—प्रमाण उसे कहते हैं जिसकी उपस्थिति होने पर प्रमा हो और उपस्थिति के अभाव में प्रमा न हो। किंतु शब्द के विषय में ऐसी परिस्थिति नहीं है क्योंकि शब्द के विद्यमान (उपस्थित) होने पर भी यदि उसे सुना न जाये शब्द प्रमा नहीं होती।

२—ज्ञान दो प्रकार के होते हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष। शब्द से अर्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं उत्पन्न होता क्योंकि किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान एवं शाब्द-ज्ञान एक जैसा नहीं होता, इसलिये शब्द प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत नहीं आता। परोक्ष ज्ञान अनुमिति को कहते हैं। इस स्थल में अविनाभावसम्पन्न लिङ्ग से लिङ्गी का ज्ञान होता है। शब्द के विषय में ऐसी व्यवस्था नहीं है, अतएव शब्द से परोक्ष ज्ञान भी उत्पन्न हुआ नहीं माना जा सकता[3]। इसलिए शब्द न तो प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है और न परोक्ष ज्ञान को ही तथा इन दो ज्ञानों के अतिरिक्त तीसरे प्रकार की प्रमा का अस्तित्व नहीं है। अतएव शब्द को प्रमाण नहीं माना जा सकता।

३—शब्द विषय है, विषयी (ज्ञान) नहीं। विषयी ही प्रमाण हुआ करता है। घट विषय है अतएव प्रमाण नहीं है और प्रत्यक्ष इसलिए प्रमाण है कि वह विषयी है। इससे सिद्ध होता है कि शब्द प्रमाण नहीं है।

४—घ्राण आदि बाह्य इन्द्रियों के विषय कभी प्रमाण नहीं माने जाते। उदाहरण के लिए घट बाह्येन्द्रिय चक्षु का विषय है अतएव प्रमाण नहीं माना जाता है। इसी प्रकार श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा ज्ञेय शब्द भी प्रमाण नहीं हो सकता।

५—प्रत्यक्ष आदि ज्ञान केवल आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं इसीलिए प्रमाण माने जाते हैं। इसके विपरीत घट आत्मा में समवाय रूप से नहीं वर्तमान रहता है अपितु कपाल अथवा अपने समवायिकारण परमाणुओं में रहता है, इसलिए उसे प्रमाण नहीं माना जाता। शब्द भी आत्मा में समवाय सम्बन्ध से नहीं उत्पन्न होता है अतएव उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

---

१. न्यायसूत्र—१।१।८,
२. न्यायवार्तिक—२।१।४९ (प्रस्तावना) पृष्ठ २५९,
३. तात्पर्यटीका—२।१।४९ पृष्ठ ४१२

६—शब्द आकाश का गुण माना जाता है। आकाश में जितने भी गुण हैं उनमें से कोई भी प्रमाण नहीं है। उदाहरण के लिए संख्या आकाश का गुण है और प्रमाण नहीं है। अतएव आकाश का गुण होने के कारण शब्द को भी प्रमाण नहीं मानना चाहिए।

उत्तर—वार्तिककार ने उक्त छः युक्तियों को, उत्तर देते हुए, सारहीन सिद्ध किया है[१]—

१—शब्द के सुनने से अवश्य ही शाब्दप्रमा उत्पन्न होती है किंतु शब्द को प्रमाण होने के लिए उसका सुना जाना आवश्यक है। यहाँ शब्द एवं उसके अर्थ के सम्बन्ध का पूर्ण ज्ञान एवं उसका स्मरण अपेक्षित है[२]। यदि 'गाय' शब्द से निर्दिष्ट गोत्वजातिविशिष्ट पिण्ड-रूप उसका अर्थ पहिले न ज्ञात होगा और उस सम्बन्ध का स्मरण न होगा तो शब्द से शाब्द ज्ञान न उत्पन्न हो सकेगा।

२—प्रत्यक्ष और अनुमानज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के ज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार न करना समीचीन नहीं। शाब्दप्रमा के अस्तित्व का अपलाप नहीं किया जा सकता क्योंकि शब्द के सुनने से विशेष प्रकार का ज्ञान होता है।

३—५—तृतीय, चतुर्थ और पंचम आक्षेप की आलोचना में वार्तिककार ने शब्द को प्रमाण होने के लिए उसे विज्ञानात्मक, बाह्य इन्द्रिय का अविषय एवं आत्मा में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला होना आवश्यक नहीं माना है। उदाहरण के लिए दीपक यद्यपि ज्ञानात्मक नही है, बाह्य इन्द्रिय (चक्षु) का विषय है, आत्मा से पृथक् परमाणुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता है फिर भी प्रमाण रूप में स्वीकार किया गया है।

६—यह कहना कि आकाश में रहने वाला गुण प्रमाण नहीं हो सकता, समीचीन नहीं, क्योंकि आकाश में रहने वाला महत् परिमाण महत्त्व का प्रत्यक्ष कराने के कारण प्रमाण होता ही है। इसी प्रकार आकाश के गुण शब्द को भी प्रमाण मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

शब्दप्रमाण के अनुमान में अन्तर्भाव की आलोचना

शब्द को प्रमाण मानने पर भी कुछ दार्शनिक उसे अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानते। ये दार्शनिक शब्दप्रमाण को अनुमान में अन्तर्भूत मानते हैं। न्यायसूत्रों में पूर्वपक्ष के रूप में शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव किया गया है[३]।

---

१. न्यायवार्तिक—२।१।४९ (प्रस्तावना) पृष्ठ २५९–६०

२. तात्पर्यटीका—२।१। ४९ पृष्ठ ४१२, ३. न्यायसूत्र—२।१।५०—५२

दिङ्नाग ने शब्द के द्वारा अर्थ का निश्चय अनुमान प्रमाण माना है। उनके अनुसार शब्द सुनने के पश्चात् होने वाला यथार्थज्ञान अर्थ से प्रत्यक्ष होने के कारण प्रत्यक्ष माना जाना चाहिए। इस प्रकार दिङ्नाग शब्दप्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान एवं प्रत्यक्ष में करते हुए प्रतीत होते हैं[१]। डॉ. विद्याभूषण के अनुसार दिङ्नाग ने अपने 'प्रमाणसमुच्चय' नामक ग्रन्थ में शब्द का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण में किया है[२]।

शब्द के अनुमान में अन्तर्भाव का पूर्वपक्ष—शब्द प्रमाण के अनुमान में अन्तर्भूत मानने वाले पूर्वपक्ष की निम्नलिखित युक्तियाँ सूत्र एवं भाष्य में मिलती हैं—

१—जिस प्रकार अनुमान प्रमाण का विषय अप्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार शब्द प्रमाण का भी। अतएव शब्द प्रमाण अनुमान प्रमाण से अभिन्न है[३]।

२—भिन्न-भिन्न प्रमाणों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रकार के हुआ करते हैं[४]। उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न हुआ ज्ञान अन्य प्रकार का होता है और अनुमान प्रमाण से उत्पन्न हुआ ज्ञान अन्य प्रकार का होता है किन्तु अनुमान और शब्द इन दो प्रमाणों से उत्पन्न दो समानविषयक ज्ञान एक ही प्रकार के प्रतीत होते हैं। अतएव शब्द प्रमाण अनुमान ही है, अतिरिक्त प्रमाण नहीं[५]।

३—अनुमान स्थल में किसी विषय का ज्ञान उससे सम्बद्ध पदार्थ के ज्ञान से होता है[६]। जैसे अग्नि का ज्ञान धूमदर्शन द्वारा होता है। शब्दस्थल में भी शब्द के सुनने के बाद उससे सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान होता है अतएव अनुमान और शब्द प्रमाण में कोई भेद नहीं[७]।

सूत्र एवं भाष्य के अतिरिक्त उक्त मान्यता की पोषक कुछ युक्तियाँ वार्तिक में भी मिलती हैं, जिनका अभिप्राय इस प्रकार है[८]—

४—अनुमानस्थल में लिङ्ग एवं लिङ्गी के बीच होने वाले सम्बन्ध (अविनाभाव) के स्मरण की अपेक्षा होती है और यही स्थिति शाब्दज्ञान के

१. न्यायवार्तिक—१।१।७ पृष्ठ ६०

२. प्रमाणसमुच्चय—अध्याय ५

Vidyabhusana : A History of Indian Logic, pp. 287–88

३. न्यायसूत्र—२।१।५०, ४. न्यायसूत्र—२।१।५१,

५. न्यायभाष्य—२।१।५१, ६. न्यायसूत्र—२।१।५२,

७. न्यायभाष्य—२।१।५२,

८. न्यायवार्तिक—२।१। ४९ (प्रस्तावना) पृष्ठ २६०,

स्थल में भी होती है। शब्द एवं उसके वाच्य के सम्बन्ध के स्मरण के बिना शब्द के केवल सुनने से शाब्दज्ञान नहीं उत्पन्न होता, अतएव शब्द एवं अनुमान अभिन्न हैं।

५—अनुमान प्रमाण से भूत्, वर्तमान एवं भविष्यत् इन तीनों कालों से सम्बद्ध पदार्थों का ज्ञान होता है और यही स्थिति शब्दप्रमाण में भी होती है क्योंकि भूतकाल की वस्तुओं एवं घटनाओं का प्रत्यक्ष करने वाले आप्त पुरुषों के वाक्यों से उन भूतकालिक वस्तुओं के सम्बन्ध में ज्ञान होता है। वर्तमान के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है और भविष्यवक्ताओं के वाक्यों द्वारा भविष्य का ज्ञान होता है। इस प्रकार अनुमान और शब्द प्रमाण में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता है।

६—जिस प्रकार धूम के देखने से अग्नि की अनुमिति होती है और धूमदर्शन न होने से नहीं होती उसी प्रकार शब्द के सुनने से शाब्दज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। इस साम्य के होने के कारण अनुमान और शब्द प्रमाण परस्पर भिन्न नहीं हैं।

आलोचना—उक्त आक्षेप का उत्तर वार्तिककार ने सूत्र और भाष्य के आधार पर दिया है। साथ ही साथ उन्होंने अपनी मौलिक युक्तियाँ भी उपस्थित की हैं—

१—केवल विषय के अप्रत्यक्ष होने के कारण दोनों प्रमाणों को एक नहीं माना जा सकता है क्योंकि अनुमाता को अनुमेय विषय का भूतकाल में कभी न कभी प्रत्यक्ष हुआ रहता है जब कि शब्दप्रमाण के बहुत से विषय कम से कम श्रोता के लिए कभी प्रत्यक्ष नहीं रहा करते हैं। उदाहरण के लिए स्वर्ग, अपूर्व और देवता आदि ऐसे विषय हैं जिनका ज्ञान लौकिक व्यक्ति को न तो प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा हो सकता है और न अनुमान प्रमाण के द्वारा ही। ऐसे विषयों का ज्ञान केवल आप्त के उपदेश द्वारा हो सकता है[1]।

२—प्रथम युक्ति में प्रत्यक्ष एवं अनुमान से शब्द की विलक्षणता बतलाई गई है अतएव अनुमिति एवं शाब्दज्ञानों को एक जैसा अथवा अभिन्न नहीं माना जा सकता।

३—अनुमान और शब्दप्रमाण के द्वारा दो सम्बद्ध पदार्थों में से एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान होता है। किन्तु इस समानता के आधार पर शब्द को अनुमान नहीं मान लेना चाहिए। दोनों प्रमाणों में महान् अन्तर है। अनुमान-स्थल में हेतु और साध्य दोनों अविनाभाव सम्बन्ध से सम्बद्ध रहते हैं अर्थात्)

१. न्यायसूत्र, भाष्य २।१।५२, न्यायवार्तिक—२।१।५२ पृष्ठ २६१

दोनों के बीच एक स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) होता है किन्तु प्रकृतस्थल में ऐसी परिस्थिति नहीं होती है। यहाँ वाच्य और वाचक में सामयिक (सांकेतिक) सम्बन्ध रहता है[1]। सामयिक का अर्थ होता है—आपस में तय किया हुआ अर्थात् अमुक शब्द से अमुक अर्थ समझा जायेगा ऐसी मान्यता। कहने का सारांश यह है कि वाच्यवाचक—नियम मनुष्यकृत है जब कि व्याप्ति स्वाभाविक सम्बन्ध है जिसमें मनुष्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता। व्याप्ति का अर्थ होता है नियत साहचर्य, जैसे जहाँ-जहाँ धूम होगा वहाँ-वहाँ आग अवश्य होगी, किन्तु वाचक एवं वाच्य के बीच ऐसा व्याप्तिसम्बन्ध नहीं माना जा सकता। प्रकृत विषय का स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार निम्नलिखित तीन प्रकार के सम्भावित सम्बन्ध मानते हैं[2]—

(क) शब्द के पास अर्थ की उपस्थिति
(ख) अर्थ के पास शब्द की उपस्थिति
(ग) दोनों की सापेक्ष-भाव से उपस्थिति

वार्तिककार ने शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध में इन तीनों सम्बन्धों को असम्भव सिद्ध किया है। यदि शब्द के पास अर्थ की उपस्थिति होती तो 'मोदक' शब्द के उच्चारणमात्र से उच्चारणस्थान (मुख) में मोदक गाय की तरह दौड़कर चला आया करता। इसी प्रकार अग्नि कहने से मुख जलने लगता और तलवार कहने से कट जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता। दूसरे विकल्प को भी स्वीकार करना समुचित नहीं क्योंकि जो शब्द उत्पन्न होता है वह अर्थदेश तक नहीं पहुँच सकता। यदि कहा जाये कि सामान्य 'मोदक' शब्द 'मोदक' अर्थ तक पहुँच जाता है तो यह कहना भी उचित नही। यह आवश्यक नहीं कि अति-दूर स्थित मोदक पदार्थ तक 'मोदक' शब्द पहुँच ही सकेगा[3]।

वार्तिककार अन्तिम विकल्प को भी दोषयुक्त मानते हैं। अर्थ के पास शब्द की उपस्थिति अथवा व्यंजकता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अर्थ-देश में स्थान एवं करण नहीं होते कि जिनसे शब्द उत्पन्न हो सकें। शब्दो-त्पत्ति के अनुकूल स्थान और करण के बिना 'मोदक' शब्द वहाँ नहीं उत्पन्न हो सकता, क्योंकि स्थान एवं करण मुख में ही होते हैं। यह भी युक्ति उपस्थित की जा सकती है कि मुख में उच्चरित अकेला 'मोदक' शब्द सर्वव्यापक हो जाता है और इस प्रकार उसी शब्द के अर्थदेश से सम्बद्ध होने के कारण

१. न्यायसूत्र—२।१।५६, न्यायवार्तिक—२।१।५६ पृष्ठ २६४
२. न्यायभाष्य—२।१।५३
३. न्यायवार्तिक—२।१।५४, पृष्ठ २६२

वाच्य एवं वाचक का सामानाधिकरण्य प्राप्त हो जाता है। किन्तु ऐसा मानने पर फैला हुआ 'मोदक' शब्द मोदक के अतिरिक्त अन्य सभी अर्थों से सम्पृक्त होने के कारण सबका वाचक हो जायेगा किन्तु ऐसा नहीं होता। दूसरे, यह मत इसलिए भी दोषयुक्त है कि प्रत्येक समय अगणित शब्दों का उच्चारण हुआ करता है। इन सभी शब्दों का सम्पर्क किसी एक 'मोदक' पदार्थ से भी हो सकता है। इस प्रकार एक 'मोदक' अर्थ सभी शब्दों का वाच्य बन जायेगा। किन्तु ऐसा स्वीकार करना अनुभव विरुद्ध है[1]।

४—यह आवश्यक नियम नहीं है कि जिन-जिन ज्ञानों में स्मरण की अपेक्षा हो वे अनुमान की श्रेणी में ही आ जायें। स्थाणु-पुरुष आदि संशय और तर्क के स्थलों में भी स्थाणु एवं पुरुष आदि का स्मरण होता ही है किन्तु इससे संशय आदि को अनुमान प्रमाण नहीं मान लिया जाता[2]।

५—तीनों कालों से सम्बद्ध होने के कारण भी शब्द अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। तात्पर्यटीकाकार कहते हैं कि संशय आदि भी त्रिकालसम्बद्ध हुआ करते हैं किन्तु संशय को प्रमाण नहीं माना जाता[3]। अतएव प्रकृत आक्षेप समीचीन नहीं।

६—अन्वय-व्यतिरेकी उदाहरण द्वारा भी अनुमान और शब्द का ऐक्य नहीं सिद्ध किया जा सकता क्योंकि इससे प्रत्यक्ष प्रमाण में ही अतिव्याप्ति हो जाती है। घट के अस्तित्व में घट का प्रत्यक्षज्ञान और अस्तित्व के अभाव में घट के प्रत्यक्ष ज्ञान का अभाव होता है[4]।

समय का स्वरूप—भाष्यकार ने समय को 'अभिधानाभिधेयनियमनियोग' कहा है[5] अर्थात् वाच्यवाचक-नियम की व्यवस्था को समय माना जाता है। वार्तिककार ने समय के ज्ञान के दो साधन माने हैं—१—पदज्ञान २—लोकज्ञान। पदज्ञान का अर्थ है—व्याकरण आदि शास्त्रों का ज्ञान जिनका प्रणयन शब्दार्थव्यवस्था-रूप समय के नष्ट होने को रोकने के लिए किया गया है। यहाँ वार्तिककार समय के कर्तारूप में ईश्वर का नाम नहीं लेते, किन्तु तात्पर्यटीकाकार ने सर्ग के आदि में समय के व्यवस्थापक-रूप में ईश्वर को स्वीकार किया है। उसके पश्चात् मनुष्यों ने ईश्वरकृत समय के अनुसार ही शब्दार्थ

१. न्यायवार्तिक—२।१।५४ पृष्ठ २६१
२. न्यायवार्तिक—२।१।५२ पृष्ठ—२६० (प्रस्तावना)
३. तात्पर्यटीका—२।१।५२ (प्रस्तावना) पृष्ठ—४१२
४. न्यायवार्तिक—२।१।५२ (प्रस्तावना) पृष्ठ—२६१
५. न्यायभाष्य—२।१।५६

का ज्ञान प्राप्त किया[1]। वार्तिककार ने समय को गुरुशिष्यपरम्परा से प्रवाहित होने वाला माना है जो कि मौखिकशिक्षा द्वारा ही सम्भव माना गया है[2]।

समय के ज्ञान का दूसरा साधन है—लोकव्यवहार। शिक्षित व्यक्ति ही पदज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। साधारण व्यक्ति लोकव्यवहार द्वारा ही शब्दार्थ-विषयक नियम को समझ सकता है। तात्पर्यटीकाकार ने उस प्रक्रिया का, जिससे वृद्ध व्यक्ति के आचरण को देखकर शिशु शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध समझता है, विवेचन किया है[3]। समय व्यवस्थित होता है, स्वाभाविक नहीं। स्वाभाविक सम्बन्ध में मानवकृत व्यवस्था का कोई स्थान नहीं। 'जहाँ धुआँ होता है, वहाँ आग होती है' इस स्वाभाविक तथ्य का परिवर्तन मानव नहीं कर सकता। परन्तु वाच्यवाचकसम्बन्ध मानवप्रणीत ही है, नहीं तो एक ही अर्थ की अवद्योतना के लिए विभिन्न भाषा-भाषी विभिन्न शब्दों का प्रयोग क्यों करते[4] भाष्यकार का कथन है कि दीपक एक व्यक्ति के लिए उसी प्रकार प्रकाश देता है जैसे दूसरे को। यह नहीं कि वह एक व्यक्ति को अन्य प्रकार से प्रकाश दे और दूसरे को अन्य प्रकार से, क्योंकि दीपक और प्रकाश का सम्बन्ध स्वाभाविक है, ऐच्छिक नहीं। किन्तु तत्तत् अर्थों की अवबोधना कराने के लिए विभिन्न देशवासी विभिन्न शब्दों का इच्छानुसार प्रयोग करते हैं, अतएव समय स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है[5]।

भाष्यकार और वार्तिककार ने समय के ईश्वरकृत होने का उल्लेख नहीं किया है। तात्पर्यटीकाकार समय को ईश्वरकृत मानते हैं। इनके अनुसार सृष्टि के आदि में ऐसे महर्षियों और देवताओं ने—जिनमें परमेश्वर के अनुग्रह से उत्कृष्ट धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य उत्पन्न हो गया था—ईश्वर के सङ्केत को सर्वप्रथम समझा और तदनुसार लोगों को संकेतात्मक समय का उपदेश किया[6]।

श्रुति का प्रामाण्य

आप्त पुरुष के उपदेश को शब्दप्रमाण मान लेने पर वेद के प्रमाण्य के विषय में समस्या उत्पन्न होती है कि वेद को शब्दप्रमाण माना जाये अथवा

१. तात्पर्यटीका—२।१।५५ पृष्ठ—४१८

२. न्यायवार्तिक—२।१।५६ पृष्ठ—२६४

३. तात्पर्यटीका—२।१।५५ पृष्ठ—४१९

४. न्यायवार्तिक—२।१।५७, पृष्ठ २६४–६५

५. न्यायभाष्य—२।१।५७

६. तात्पर्यटीका—२।१।५५, पृष्ठ ४१९

न माना जाये। जो दार्शनिक वेद को प्रमाण नहीं मानते उनका आक्षेप है कि वेद में ऐसे दृष्ट एवं अदृष्ट विषयों का विवेचन है जिनके प्रामाण्य में संदेह होता है। उदाहरण के लिए श्रुति में कहा गया है कि पुत्रनिमित्तक यज्ञ के सम्पादन से पुत्र की उत्पत्ति होती है, किन्तु प्रत्यक्षतः ऐसा नहीं देखा जाता अर्थात् पुत्रनिमित्तक यज्ञ के सम्पादन से भी पुत्र की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। दूसरे, कुछ पस्पर विरोधी एवं पुनरुक्त वाक्य भी वेद में पाये जाते हैं। ये भी दोष हैं क्योंकि पुनरुक्ति दोष माना जाता है और दोषयुक्त वचन प्रमाण नहीं हो सकते[1]। यही स्थिति विरोधी वाक्यों की भी है।

उक्त आक्षेप समीचीन नहीं है। पुत्रेष्टि के सफल न होने का कारण यज्ञ प्रक्रिया में त्रुटि, अपेक्षित साधनों का अभाव, अनधिकारी पुरुष द्वारा उसका सम्पादन और यजमान एवं ऋत्विक् के दोष आदि हो सकते हैं[2]। विरोध एवं पुनरुक्ति जैसे दोष श्रुति में नहीं हैं, अतएव वेद में उन दोनों को मानना भूल है। श्रुति में जहाँ अनेक बार एक पद या वाक्य का उच्चारण होता है वह साभिप्राय ही होता है[3]।

अनेक विधिवाक्य आपातदृष्टि में विरुद्ध प्रतीत हो सकते हैं परन्तु गंभीरभाव से विचार करने पर वे विरोध तात्त्विक नहीं सिद्ध होते हैं। उदाहरण के लिये 'उदिते होतव्यम्, अनुदिते होतव्यम्, समयाध्युषिते होतव्यम्' इन विधिवाक्यों और 'श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति,' 'शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति,' 'श्यावशबलौ वास्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति'[4] इन निन्दा के द्वारा विहित हवन के निषेध करनेवाले वाक्यों में प्रतीत होने वाले विरोध इसलिये तात्त्विक नहीं हैं कि प्रतिज्ञात हवनकाल के विपरीतकाल में हवन करने पर ही निन्दा की गई है। सारांश यह है कि 'उदिते होतव्यम्' इस विधिवाक्य के अनुसार जिस होता ने यह प्रतिज्ञा की कि 'मैं सूर्य के उदय होने के बाद ही हवन करूँगा' वह यदि अपनी प्रतिज्ञा का उल्लङ्घन करके सूर्योदय से पूर्व ही या सूर्योदयकाल में हवन करेगा तो उसके लिये 'श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति' यह वाक्य निन्दा द्वारा वैसा करने का निषेध करता है। ऐसी स्थिति में उक्त दोनों वाक्यों में कोई विरोध नहीं रह जाता है। इसी प्रकार 'अनुदिते होतव्यम्' आदि स्थल में भी विरोध का

१. न्यायसूत्र—भाष्य–२।१।५८,
२. न्यायसूत्र—भाष्य २।१।५९, न्यायवार्तिक—२।१।५९ पृष्ठ २६६-६७
३. न्यायसूत्र—२।१।६१, ४. न्यायभाष्य—२।१।५८

परिहार अनायास किया जा सकता है। इसे ही सूत्रकार ने 'अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्'[1] इस सूत्र द्वारा बतलाया है।

वेद का उपदेशक आप्तपुरुष हो सकता है। मंत्र और आयुर्वेद आदि शास्त्रों के उपदेशक आप्तपुरुष हैं। इन्हें आप्त इसलिये माना जाता है कि इनके द्वारा प्रणीत शास्त्र में जिन-जिन उपायों का वर्णन पाया जाता है वे प्रत्यक्षतः सत्य देखे जाते हैं। आप्तोपदिष्ट होने के कारण आयुर्वेद एवं मन्त्रशास्त्र की ही श्रेणी में वेद भी आता है, अतएव वेद भी प्रमाण है[2]।

श्रुति का कर्ता—न्यायभाष्य और वार्तिक में श्रुति (वेद) के द्रष्टा और वक्ता को आप्तपुरुष माना गया है किन्तु वेद के कर्ता व्यक्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं है[3]। ऐसा प्रतीत होता है कि वार्तिककार वेद को पौरुषेय मानते हैं किन्तु वह पुरुष ईश्वर अथवा ईश्वरभिन्न है इसका निश्चय नहीं हो पाता[4]। तात्पर्यटीकाकार ने ईश्वर को वेद का कर्ता माना है[5]।

श्रुति का नित्यत्व—भाष्यकार और वार्तिककार ने वेद को अनादि नहीं माना है। उनका मत है कि यद्यपि वेद को नित्य कहा जाता है किन्तु यहाँ 'नित्य' शब्द का अर्थ वेदों के अध्ययन का गुरुपरम्परा से अविच्छिन्न रूप से चला आता रहना है[6]। वार्तिककार वेद को नदी और पर्वतों की भाँति चिर-कालस्थायी होने के कारण औपचारिक-रूप से नित्य कहते हैं[7]। भाष्य और वार्तिक में वेद को आप्तोक्त होने के कारण प्रमाण माना गया है, नित्य होने के कारण नहीं[8]।

शब्द का स्वरूप

शब्द के स्वरूप पर विचार करते समय वार्तिककार ने न्याय के अतिरिक्त विभिन्न चार मतों का, जो संक्षेप में भाष्य में भी पाये जाते हैं, उल्लेखकिया है–[9]:

१. मीमांसक मत—शब्द नित्य है। जिस प्रकार आकाश का महत्त्व आकाश का गुण है और केवल आकाश में ही रहता है इसलिये नित्य है उसी

१. न्यायसूत्र—२।१।६०, २. न्यायवार्तिक—२।१।६९–पृष्ठ २७१
३. न्यायभाष्य वार्तिक २।१।६९ (वार्तिक पृष्ठ २७१)
४. न्यायवार्तिक—२।१।६९ पृष्ठ २७२–७३,
५. तात्पर्यटीका—२।१।६८ पृष्ठ ४३१ ६. न्यायभाष्य—२।१।६९
७. न्यायवार्तिक—२।१।६९, पृष्ठ–२७३
८. न्यायभाष्य—२।१।६९ . न्यायवार्तिक—२।१।६९, पृष्ठ २७१–७२
९. न्यायवार्तिक–२।२।१३, पृष्ठ–२८०–८१

प्रकार केवल आकाश में रहनेवाला 'शब्द' नामक गुण भी नित्य है। संयोग, विभाग एवं नाद शब्द की अभिव्यक्ति के साधन हैं। शब्द अभिव्यक्त होता है, उत्पन्न नहीं होता[1]।

२. वैशेषिकमत—शब्द आकाश का गुण है। यह उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है।

३. सांख्यमत—शब्द, गंध आदि के साथ सन्निविष्ट रहता है। इसकी अभिव्यक्ति भी गंध आदि की ही भाँति इन्द्रियदेश तक जाकर होती है। इसकी उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि पहिले से ही शब्द विद्यमान रहता है। सांख्यमत में भूतों के परस्पर आघात से शब्द की अभिव्यक्ति मानी गई है।

४. बौद्धमत—महाभूतों के संक्षोभ से शब्द उत्पन्न होता है। यह किसी भी द्रव्य में आश्रित नहीं होता अपितु स्वतंत्र रहता है। इस मत में भी शब्द को उत्पन्न एवं विनष्ट होनेवाला माना जाता है, किन्तु इसे आकाश का गुण नहीं माना जाता।

न्यायमत—नैयायिक भी वैशेषिकों की भाँति शब्द को अनित्य एवं आकाश का गुण मानते हैं। यहाँ 'अनित्यता' से अभिप्राय क्या है और उसका लक्षण क्या है? इस प्रश्न पर भी वार्तिककार ने विचार किया है। वार्तिककार इस कथन से सहमत नहीं हैं कि जिस विषय का प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव हो उसे अनित्य कहा जाये। यह कथन इसलिये उचित नहीं कि प्रागभाव होने पर 'वस्तु का प्रागभाव' इस रूप में सम्बन्धबोधक षष्ठी विभक्ति का प्रयोग न हो सकेगा; क्योंकि अविद्यमान वस्तु का किसी (अभाव) पदार्थ से सम्बन्ध नहीं हो सकता है। प्रध्वंसाभाव के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। वार्तिककार के अनुसार किसी पदार्थ की सत्ता के दोनों अन्त परिच्छिन्न हों अनित्य कहा जाता है। जैसे घट की सत्ता पहिले परिच्छिन्न थी अर्थात् घट की विद्यमानता अनादिकाल से नहीं थी। इस प्रकार घट एक अन्त (छोर) में परिच्छिन्न हुआ। पुनः घट की सत्ता परिच्छिन्न रहेगी अर्थात् घट की सत्ता अनन्तकाल तक नहीं रहेगी। इसलिये घट अनित्य होगा[2]।

---

१. तात्पर्यटीकाकार ने इसे 'जरन्मीमांसकमत' कहा है:—
'जरन्मीमांसकमतमुत्थापयति एक एवेति' (तात्पर्यटीका—२।२।१४, पृष्ठ ४४५)

२. न्यावार्तिक—२।२।१३, पृष्ठ २८४।

शब्द की अनित्यता में प्रमाण

१. उत्पत्तिशील होना—शब्द उत्पन्न होता है और उत्पन्न होनेवाली वस्तु विनाशशील होती है। अतएव विनाशशील होने के कारण शब्द अनित्य है। निमित्त कारणों की भिन्नता के अनुरूप शब्द में भी भिन्नता का अनुभव होता है, अतएव शब्द उत्पन्न होते हैं, अभिव्यक्त नहीं होते[1]।

२. बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होना—जिस प्रकार आत्मा आदि अमूर्त द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान तक नहीं जाते हैं उसी प्रकार अमूर्त होने के कारण श्रोत्रेन्द्रिय शब्द-देश तक नहीं जाती। दूसरे, आत्मा की भाँति आकाश भी व्यापक है और व्यापक में क्रिया नहीं हो सकती। परन्तु यदि श्रोत्रेन्द्रिय शब्द-देश तक नहीं जाती तो शब्द का प्रत्यक्ष क्योंकर होता है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। फिर क्या शब्द ही इन्द्रिय-देश तक आता है? किन्तु शब्द भी अमूर्त है, उसमें गति नहीं होती। बिना इन्द्रिय से सन्निकृष्ट हुये शब्द का ज्ञान नहीं माना जा सकता. अन्यथा सभी शब्दों का समानरूप से ग्रहण होने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। फिर शब्द का इन्द्रिय से सन्निकर्ष कैसे होता है? वस्तुस्थिति ऐसी होती है कि प्रथम उत्पन्न हुये शब्द से अन्य शब्द उत्पन्न होते हैं और उनसे अन्य, इस प्रकार कदम्बगोलकन्याय से क्रमशः मन्द मन्दतर होते हुए शब्द चारों दिशाओं में फैलते हैं। इस प्रकार जो शब्द श्रोत्र में उत्पन्न होता है .उसी का प्रत्यक्ष होता है। उक्त विवरण से यही प्रतीत होता है कि जो शब्द पहिले उत्पन्न होता है वह नष्ट हो जाता है और उससे अन्य शब्द उत्पन्न होते हैं जो कालान्तर में नष्ट हो जाते हैं। प्रकृत विवेचन से शब्द की अनित्यता ही सिद्ध हुई[2]। वार्तिककार ने कहा है कि यद्यपि शब्द की उत्पत्ति में शब्दधारा का उल्लेख सूत्रों में निबद्ध नहीं पाया जाता किन्तु अनुमान द्वारा शब्दधारा का होना सिद्ध होता है[3]।

३. सभी को शब्द का न सुनाई पड़ना—कुछ मीमांसक आकाश का गुण होने के कारण शब्द को नित्य एवं व्यापक मानते हैं, किन्तु यदि शब्द व्यापक होता तो जो शब्द अभिव्यक्त होता; सभी लोगों को सुनाई देता। मीमांसक की दृष्टि से भी या तो एक ही शब्द व्यापक होगा या अनेक। एक व्यापक शब्द की अभिव्यक्ति होने पर उसे सब लोग सुनते किंतु ऐसा नहीं होता है। यह युक्ति कि शब्द एक ही है और व्यापक है, उस व्यापक शब्द

---

१. न्यायवार्तिक—२।२।१४, पृष्ठ २८४।

२. न्यायवार्तिक—२।२।१४, पृष्ठ २८५।

३. न्यायवार्तिक—२।२।१८, पृष्ठ २९७।

का जो अंश अभिव्यक्त होता है वही सुनाई पड़ता है और जो अनभिव्यक्त होता है वह नहीं सुनाई पड़ता है, भी नहीं स्वीकार की जा सकती। शब्द के अंश मानकर फिर उसे व्यापक नहीं माना जा सकता। शब्द को अवयवी मानकर उसके परमाणु भी मानने होंगे। एक शब्द के मानने पर एक के द्वारा दूसरे के अभिभव की उपपत्ति न हो सकेगी। व्यापक मानकर शब्दों को अनेक भी नहीं माना जा सकता क्योंकि जो आपत्तियाँ एक व्यापक शब्द को मानने में उठ खड़ी होती हैं वही अनेक शब्दों के मानने में भी होंगी[1]। विश्व में कहीं न कहीं अनेक शब्द उत्पन्न हुआ करते हैं। शब्द को व्यापक मानने पर सभी शब्द सर्वत्र हो पड़ेगे और पूरा विश्व कोलाहलमय हो जायेगा किन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव मीमांसा का उक्त मत निःसार सिद्ध होता है।

यदि यह युक्ति उपस्थित की जाये कि सभी शब्द व्यापक हैं किन्तु जिस शब्द का अभिव्यंजक उपयोग में लाया जाता है वही अभिव्यक्त हो पाता है सब नहीं, तो यह युक्ति भी उपयुक्त नहीं प्रतीत होती है क्योंकि सभी शब्द व्यापक और एक श्रोत्रेन्द्रिय से सुने जाने की दृष्टि से समान ही हैं इसलिए एक शब्द का अभिव्यंजक सभी का अभिव्यंजक हो जायेगा। जैसे–घट पट आदि चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य विषय यदि एक स्थान में स्थित होते हैं तो एक ही अभिव्यंजक–जैसे दीपक–से साथ ही साथ अभिव्यक्त हो जाते हैं तो फिर एक शब्द के अभिव्यञ्जक से सभी शब्द क्यों नहीं अभिव्यक्त हो जाते है ? इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। यह भी नहीं माना जा सकता कि जैसे गोत्व जाति व्यापक होने पर भी 'गो'-रूप परिच्छिन्न द्रव्य में ही अभिव्यक्त होती है, इसी प्रकार शब्द भी अभिव्यक्त होता है। वस्तुतः 'गोत्व' जाति के सम्बन्ध में सर्वव्यापक शब्द का अर्थ 'व्यापक' नहीं अपितु 'सभी गो द्रव्यों में पाये जाने वाला' ही है।

४. **शब्द की अभिव्यक्ति न होना**—शब्द अभिव्यक्त नहीं होता अपितु उत्पन्न होता है। अभिव्यंजक और अभिव्यंग्य में समकालिकता होनी चाहिए। उदाहरण के लिए दीपक अभिव्यंजक है और घट अभिव्यंग्य। जिस समय अंधेरे में दीपक जलता हैं उसी काल में घट प्रकाशित होता है। यह स्थिति नहीं हो सकती कि दीपक बुझ भी जाये और घट दिखाई देता रहे। परन्तु शब्द के विषय में यही होता है। जब संयोग हो चुकता है तब शब्द

१. न्यायवार्तिक—२।२।१४, पृष्ठ २९१।

सुनाई देता है क्योंकि संयोग हो चुकने पर पहिला शब्द उत्पन्न होता है फिर उससे दूसरे शब्द, फिर उनसे दूसरे शब्द, इस तरह एक शब्दधारा उत्पन्न होती है। जो शब्द श्रोत्र में उत्पन्न होता है उसी को सुना जाता है[1]।

५. **अनित्य पदार्थों के विशेषणों से युक्त होना**—सुख-दुःख आदि पदार्थ अनित्य हैं। सुख आदि अनित्य पदार्थों के सम्बन्ध में 'मन्द' सुख 'तीव्र' सुख आदि विशेषण पाये जाते हैं। इसी प्रकार शब्द के सम्बन्ध में भी 'धीमा' शब्द 'जोर' का शब्द आदि व्यवहार होता है। अतएव शब्द भी सुख आदि अनित्य पदार्थ की भाँति अनित्य है।

६. **शब्द का अभिभव न होना**—यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि तीव्र शब्द से मन्द शब्द दब जाता है जिससे मन्द शब्द नहीं सुनाई पड़ता। किंतु इसका कारण क्या है? शब्दनित्यत्ववादी दार्शनिकों की युक्ति है कि जैसे सूर्य के प्रकाश के कारण मध्याह्न में उल्का का प्रकाश नहीं दिखाई देता–अभिभूत हो जाता है, यद्यपि उल्का अभिभव एवं अनभिभव दोनों कालों में वर्तमान रहती है। उक्त युक्ति तर्कसंगत नहीं है। अभिव्यंजक का यह स्वभाव होता है कि वह अपने क्षेत्र में आनेवाले पदार्थ को ही तीव्रता और मन्दता के आधार पर प्रकाशित एवं अभिभूत करता है। किंतु यह नियम शब्द के विषय में लागू नहीं होता। भेरी और तन्त्री के शब्दों के अभिव्यंजकों का क्षेत्र एक–समान ही नहीं होता और समानदेशीय न होने पर अभिभव की उपपत्ति नहीं हो सकती। इसलिए यह मानना चाहिए कि भेरी और वीणा के शब्द पहिले अपने-अपने उत्पादकों द्वारा भिन्न-भिन्न स्थलों में उत्पन्न होते हैं जिन्हें कोई नहीं सुनता, फिर शब्द से शब्दान्तर की उत्पत्ति होते-होते दोनों धाराओं से एक साथ ही कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न श्रोत्र में दोनों शब्द उत्पन्न होते हैं। वहाँ समान देश होने से दोनों में से जो शब्द मन्द होता है वही अभिभूत हो जाता है। इस प्रकार एक शब्द से दूसरा शब्द उत्पन्न हुआ माना जाना चाहिए।

यदि मीमांसक समान देश को शब्दों के अभिभव में कारण न मानेगा तो कहीं का तीव्र शब्द कहीं के मन्दस्वर को दबायेगा, फिर वीणा आदि का मन्द शब्द कभी सुनने में न आ सकेगा।

शब्द के सम्बन्ध में दिशाओं का व्यवहार वार्तिककार को मान्य है किन्तु वे श्रोत्र को अप्राप्यकारी नहीं मानते[2]। जिस दिशा से उत्पन्न हुआ शब्द श्रोत्र को स्पर्श करता है उस दिशा का उस शब्द के साथ व्यवहार होता है। शब्द

१. न्यायभाष्य—२।२।१३।

२. न्यायवार्तिक—२।२।१४, पृष्ठ २९१–९२

की दिशा का ज्ञान श्रोत्र (कर्ण) के विभिन्न छोरों के साथ शब्द के सन्निकर्ष पर निर्भर है। तात्पर्यटीकाकार का मत है कि शब्दधारा जिधर से अभिमुख होती है उस दिशा का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा न होकर अनुमान द्वारा होता है[1]।

शब्द को अभिव्यक्त मानने में यह युक्ति दी जाती है—आकाश विभु है, शब्द उसका गुण है, अतएव शब्द भी व्यापक होगा। उँगली का रूप पूरी उँगली में रहता है। उँगली के जिस छोर का भाग आँख के सामने पड़ता है वह दिखाई देता है, दूसरी ओर का नहीं। इसी प्रकार शब्द है तो व्यापक किन्तु आकाश के जिस भाग में शब्द की अभिव्यक्ति होती है वहीं वह सुनाई देता है[2] और अनभिव्यक्त शब्द नहीं सुनाई देता। वार्तिककार उक्त युक्ति को दोषपूर्ण मानते हैं क्योंकि प्रकृतस्थल में आश्रयभूत उँगली के साथ आश्रितभूत रूप का प्रत्यक्ष होता है अर्थात् जहाँ उँगली देखी जाती है वहीं उसका रूप देखा जाता है। ऐसा नहीं हो सकता कि उँगली के रूप का तो प्रत्यक्ष होता हो और उँगली का प्रत्यक्ष न होता हो। किंतु दार्ष्टान्तिक स्थल में अर्थात् शब्दप्रत्यक्षस्थल में ऐसी परिस्थिति नहीं है। आश्रितभूत शब्द के प्रत्यक्ष के साथ आश्रयभूत आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः उक्त दृष्टान्त से शब्द की व्यापकता और तन्मूलक उसकी नित्यता नहीं सिद्ध हो पाती है।

७. उच्चारण के पूर्व शब्द का अभाव—उच्चारण के पूर्व शब्द का अभाव रहता है। यदि उच्चारण के पूर्व शब्द विद्यमान होता तो सुनाई पड़ता। यदि यह कहा जाये कि जैसे घट आदि पदार्थ विद्यमान होने पर भी दीवार आदि आवरण से ढक जाने पर नहीं दिखाई देता इसी प्रकार उच्चारण के पूर्व विद्यमान होने पर भी किन्हीं आवरणों से आच्छन्न होने के कारण शब्द नहीं सुनाई देता, तो यह कथन भी इसलिए समीचीन नहीं है कि दीवार आदि अवरोधक पदार्थों की उपलब्धि होती है किन्तु उच्चारण के पूर्व शब्द के प्रत्यक्ष होने में अवरोधक आवरण उपलब्ध नहीं होता[3]। यह प्रश्न स्वाभाविक है कि उच्चारण के पूर्व शब्द के प्रत्यक्ष होने में अवरोधक कौन है? यदि उच्चारणाभाव को अवरोधक मानकर उच्चारण से शब्द की अभिव्यक्ति मानी जाये तो यह मान्यता भी समीचीन नहीं है क्योंकि आखीर उच्चारण है क्या? तालु आदि से

१. तात्पर्यटीका—२।२।१४, पृष्ठ ४५२।
२. न्यायवार्तिक—२।२।१८, पृष्ठ २९६।
३. न्यायभाष्य—२।२।१९८

वायु का संयुक्त होना ही तो उच्चारण है और संयोग व्यञ्जक नहीं हो सकता जैसा कि पहिले ही विवेचन द्वारा स्पष्ट हो चुका है। इसलिए उत्पन्न होने के कारण शब्द अनित्य ही होता है।

आकाश आदि द्रव्यों की भांति स्पर्श का विषय न होने के कारण शब्द को नित्य नहीं मान लेना चाहिए[1] क्योंकि स्पर्श के विषय होने और न होने से ही कोई पदार्थ अनित्य अथवा नित्य नहीं हो जाता। स्पर्शवान् परमाणु नित्य होता है एवं स्पर्शहीन कर्म अनित्य होता है। इस प्रकार शब्द को नित्य नहीं सिद्ध किया जा सकता।

८. **शब्द की प्रत्यभिज्ञा का अभाव होना**—वार्तिक में 'शब्दप्रत्यभिज्ञा' जैसे मौलिक विषय पर विचार प्रारम्भ होता है। वार्तिककार ने उक्त मत की आलोचना की है। सूत्र और भाष्य में 'शब्द-प्रत्यभिज्ञावाद' नहीं मिलता। शब्द-प्रत्यभिज्ञा के पक्ष में यह युक्ति दी जाती है कि 'क'[2] वर्ण के सुनने पर ऐसा भान होता है कि यह वही 'क' वर्ण है जिसे मैंने पहिले सुना था, और प्रत्यभिज्ञा उसी वस्तु की होती है जो पहिले से अवस्थित रहती है, जैसे 'सोऽयं घटः' इस ज्ञान के पहिले भी घट का प्रत्यक्ष होने के कारण घट विद्यमान हुआ माना जाता है। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा का विषय होने से शब्द भी सुनने के पूर्व विद्यमान माना जाना चाहिए। दूसरा कारण यह भी है कि शब्द की प्रत्यभिज्ञा समानता के आधार पर नहीं होती। ऐसा भान नहीं होता कि जैसा पहिले का 'क' वर्ण था वैसा ही यह 'क' वर्ण है क्योंकि 'क' वर्ण में विशेष का प्रत्यक्ष करने पर समानता के आधार पर माने जानेवाली प्रत्यभिज्ञा का निवारण हो जाता है।

वार्तिककार शब्दप्रत्यभिज्ञावाद को दोषपूर्ण मानते हैं। कारण, सभी लोगों को शब्दविषयक प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। दूसरा कारण यह है कि समानता के आधार पर भी किन्हीं वस्तुओं को एक ही नाम से जाना जाता है, जैसे हजारों गायों को 'गोत्व' सामान्य के आधार पर 'गाय' कहा जाता है। किसी 'श्यामा' गाय को 'गाय' कहा जाता है। कुछ समय के बाद 'कपिला' गाय को देखकर उसे भी 'गाय' कहा जायेगा। परन्तु यह ज्ञान प्रत्यभिज्ञा नहीं हुआ अपितु सामान्य के आधार पर भिन्न-भिन्न पदार्थों की एक संज्ञा हुई। एक गाय दूसरी गाय से प्रत्येक दृष्टि से समान नहीं अथवा वही नहीं फिर भी भिन्न-भिन्न काल में गृहीत 'क' शब्द के ज्ञान में कुछ परस्पर भिन्नता अवश्य है यह प्रत्यक्षसिद्ध है।

१. न्यायभाष्य—२।२।२२।

२. 'क' से अभिप्राय 'क्' वर्ण है।

एक ही शब्द मानने में परस्पर भिन्नताओं की सिद्धि न हो सकेगी[1]। इस प्रकार शब्द नित्य न होकर अनित्य ही होता है।

९. शब्द का विनाशशील होना—शब्दनित्यत्ववाद की पुष्टि में युक्ति दी जाती है कि शब्द के विनाश का कोई कारण नहीं ज्ञात होता है। अतएव सुना हुआ शब्द नष्ट नहीं होता अपितु नित्य रहता है[2]। यह युक्ति इसलिए समीचीन नहीं कि शब्द के न सुने जाने का भी कारण उसी प्रकार नहीं प्राप्त होता है जैसे उसके विनाश होने का कारण, इसलिए उसे सदा सुनाई देना चाहिए[3]। वस्तुतः शब्द उत्पन्न होकर शनैः-शनैः मन्द पड़ता है और नष्ट हो जाता है, इसलिए शब्द अनित्य ही होता है नित्य नहीं।

दान और अनुकरण पहिले से विद्यमान (नित्य) पदार्थ का ही होता है। गुरु विद्यादान करता है, शिष्य उसका (शब्दोच्चारण का) अनुकरण करता है इसलिए शब्दनित्यत्ववादी शब्द को नित्य मानते हैं[4] परन्तु चूंकि देय शब्द को अन्य देय पदार्थ की भांति प्रत्यक्षतः नहीं देखा जाता और अनुकरण नृत्य जैसी अनित्य क्रिया का भी होता है अतएव उक्त युक्तियों के आधार पर शब्द की नित्यता नहीं सिद्ध होती[5]। अतएव पूरे विवेचन के अनुसार शब्द की अनित्यता ही सिद्ध होती है।

शब्द विषयक सांख्यमत की आलोचना

सांख्य का मत है कि जैसे किसी द्रव्य में पहिले वर्तमान रूप-रस आदि अभिव्यक्त होते हैं उसी तरह वेणु, वीणा और शंख आदि में शब्द पहिले से ही रहता है और अभिव्यंजक द्वारा अभिव्यक्त होता है,[6] वार्तिककार ने उक्त मत के अस्वीकार करने के अतिरिक्त कारण निम्नलिखित दिये हैं[7]।

१—किसी पदार्थ का रूप या रस निश्चित-एक जैसा रहता है किन्तु शब्द के विषय में ऐसी परिस्थिति नहीं है क्योंकि शब्द क्रमशः मन्द होता जाता है अर्थात् क्षण-क्षण में परिवर्तनशील रहता है अतएव उक्त सांख्य दृष्टान्त समीचीन नहीं।

---

१. न्यायवार्तिक—२।२।३३, पृष्ठ ३०२।

२. न्यायसूत्र—२।२।३३। ३. न्यायसूत्र—२।२।३४।

४. न्यायसूत्र—२।२।२५ एवं २९।

५. न्यायसूत्र—२।२।२६-२८। ६. तात्पर्यटीका—२।२।४०, पृष्ठ ४६३।

७. न्यायवार्तिक—२।२।४०, पृष्ठ ३०७।

२—घंटे को बजाकर उससे भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्द सुने जाते हैं किंतु रूप और रस आदि के अभिव्यंजनस्थल में ऐसी बात नहीं होती।

३—रूप रस आदि जिस द्रव्य में होते हैं उसी द्रव्य में स्थित रहते हुए गृहीत होते हैं किंतु घंटे में उत्पन्न हुआ शब्द घंटे में ही सुनाई देना चाहिए उसे कान में क्यों सुना जाता है? इससे अभिव्यंजन की सिद्धि होती है जब कि रूप और रस आदि के सम्बन्ध में तत्सम्बन्धी सन्तानों की सिद्धि नहीं होती।

पद और पदार्थ

सूत्रकार ने विभक्त्यन्त वर्णसमूह को पद कहा है[१]। भाष्यकार ने 'नामिकी' और 'आख्यातिकी' दो विभक्तियों का उल्लेख किया है, जिनके योग से क्रमशः 'ब्राह्मणः' एवं 'पचति' जैसे पद बनते हैं[२]। वार्तिककार ने वर्णसमूह-रूप पद से अर्थ के ज्ञान होने की प्रक्रिया का उल्लेख किया है। जिसे अपने से पूर्व वर्णों के स्मरणज्ञान की अपेक्षा रहती है उस पदान्तवर्ण के ज्ञान से अर्थ का ज्ञान होता है[३]।

न्यायदर्शन के अनुसार पद के अर्थ 'व्यक्ति' 'आकृति' एवं 'जाति' तीनों होते हैं[४]। प्रसंग के अनुसार तीनों में से कोई एक प्रधान अर्थ हो जाता है और शेष दो अर्थ अंग हो जाते हैं[५]। जहाँ क्रिया अथवा परस्पर भेद की विवक्षा होती है वहाँ पद का प्रधान अर्थ 'व्यक्ति' होता है और आकृति एवं जाति अर्थ गौण होते हैं। 'गाय खड़ी है, चलती है, बैठी है' यहाँ 'गाय' पद का अर्थ आकृति या जाति लेना असंभव होगा क्योंकि आकृति और जाति में उठने-चलने अथवा बैठने की क्रिया नहीं हो सकती अतएव यहाँ 'गाय' पद का अर्थ व्यक्ति ही होगा[६]। किन्तु जहाँ पर एक-एक की भिन्न रूप में विवक्षा न होकर सामान्य की विवक्षा हो वहाँ पद का अर्थ जाति होगा जैसे 'गाय को पैर से नहीं छूना चाहिये' यहाँ 'गाय' पद का प्रयोग किसी विशेष गाय के लिये ही न होकर गो-सामान्य के लिये ही हुआ है। जहाँ आकृति की प्रधानता जान पड़ती हो वहाँ पद का अर्थ आकृति लिया जायेगा, जैसे आटे की 'गाय बनाओ' यहाँ 'गाय' पद आकृतिपरक होगा।

---

१. न्यायसूत्र—२।२।६०।

२. न्यायभाष्य—२।२।६०।

३. न्यायवार्तिक—२।२।६०, पृष्ठ ३१०।

४. न्यायसूत्र—२।२।६८। ५. न्यायभाष्य—२।२।६८।

६. न्यायवार्तिक—२।२।६७, पृष्ठ ३१९।

बौद्धों का आक्षेप—बौद्ध न्याय के उक्त सिद्धान्त से असहमत हैं। उनका आक्षेप है कि एक व्यापक पद 'सत्' को लेकर निश्चय किया जा सकता है कि 'सत्' पद का उक्त तीनों में से कोई अर्थ नहीं हो सकता। यदि 'सत्' का अर्थ जाति होता तो 'सद् द्रव्यम्' जैसे पदों का प्रयोग न किया जा सकेगा क्योंकि 'सत्' एवं 'द्रव्यम्' में सामानाधिकरण्य है अर्थात् जिस वस्तु के लिये 'सत्' पद का प्रयोग हुआ है उसी के लिये 'द्रव्यम्' का। इस प्रकार 'सत्' का अर्थ जाति नहीं हो सकता। क्योंकि द्रव्य को जाति नहीं माना जा सकता। 'सत्' एवं 'द्रव्यम्' शब्दों में सामानाधिकरण्य है। भिन्नार्थवाची शब्दों में सामानाधिकरण्य नहीं होता। लक्षणा द्वारा 'सत्' शब्द का अर्थ 'सत्तावान्' लेकर 'सत्' एवं 'द्रव्य' में सामानाधिकरण्य मान लेना भी न्यायसंगत नहीं क्योंकि उस स्थिति में 'सत्ता' धर्म होगा और 'सत्तावान्' धर्मी किन्तु धर्म और धर्मी में सामानाधिकरण्य नहीं होता। 'शंख' का 'श्वेतत्व' कहना उचित होता है 'शंख श्वेतत्व' नहीं[1]।

'सत्' शब्द को व्यक्तिवाचक न मानने के भी दो कारण हैं—पहिला यह कि द्रव्य, गुण आदि व्यक्ति अनेक हैं और 'सत्' शब्द एक ही है। व्यक्तिवाची किसी एक शब्द का अनेक व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। दूसरा कारण वह है कि सत् शब्द के सुनने से यह निश्चय नहीं हो पाता कि 'सत्' पद का प्रयोग द्रव्य, गुण या कर्म किस अर्थ के लिए हुआ है। संदिग्ध अर्थ के बोधक होने के कारण 'सत्' शब्द को वाचक नहीं मानना चाहिए फिर उसे जातिवाचक कैसे माना जायेगा।

'सत्' शब्द का जातिमान् (सत्तावान्) अर्थ मानने में निम्नलिखित आपत्तियाँ हैं—

१—'सत्' शब्द से घट आदि सभी सत्तावान् पदार्थों का बोध नहीं होता।

२—लाक्षणिक प्रयोग में शब्द का मुख्य अर्थ नहीं लिया जाता। 'मंचाः क्रोशन्ति' वाक्य में 'मंच' शब्द का मुख्य अर्थ 'मंचस्थ पुरुष' नहीं हो सकता। फिर अमुख्य अर्थ के ज्ञान के लिए मुख्य अर्थ का ज्ञान होना आवश्यक होता है। 'सत्' शब्द का मुख्य अर्थ क्या होगा[2]? अतः 'सत्' शब्द को लाक्षणिक भी नहीं कहा जा सकता।

३—यद्यपि भृत्य के लिए 'स्वामी' शब्द का प्रयोग होता है किंतु इससे 'स्वामी' शब्द का वाच्य अर्थ भृत्य नहीं हो सकता। स्वामी के गुणों का आरोप भृत्य में करने पर ही भृत्य को स्वामी कहा जाता है जैसे नीली वस्तु

१. न्यायवार्तिक–२।२।६७, पृष्ठ ३२०। २. न्यायवार्तिक–२।२।६७, पृष्ठ ३२१।

के सन्निकर्ष से श्वेत स्फटिकमणि को नीली कहा जाता है किन्तु वस्तुतः वह नीली नहीं होती। इस तरह 'सत्' शब्द का वाच्य अर्थ 'सत्तावान्' नहीं हो सकता।

४—सत् शब्द का अर्थ असाधारण विशेषण या विशेष्य भी नहीं मान सकते क्योंकि ऐसी स्थिति में इस व्यापक शब्द 'सत्' के प्रयोग से बहुत विषयों का निराकरण हो जाने पर अव्याप्ति दोष आ जायेगा।

आलोचना एवं आक्षेपों का उत्तर—नैयायिक 'सत्ता' शब्द को 'सत्ता' (जाति) का वाचक मानते हैं। बौद्धों का यह कथन, कि सत्ता शब्द सत्ता अर्थ का वाचक नहीं होता, उचित नहीं प्रतीत होता। बौद्ध स्वयं सत्ता शब्द एवं सत्ता अर्थ का प्रयोग करते हैं। उनके इस कथन से कि वे नैयायिकों के अभिप्राय को लेकर सत्ता आदि शब्दों एवं अर्थों का व्यवहार करते हैं, भी नैयायिकसम्मत शब्दार्थवाचकत्व का खण्डन नहीं हो सकता। बौद्ध सत्ता आदि शब्दों को नैयायिकों की कल्पना मानते हैं। कल्पना का अर्थ है आरोप, जैसे स्थाणु में पुरुष का आरोप। आरोप के लिए प्रधान अर्थ की आवश्यकता होती है किन्तु बौद्ध 'सत्ता' आदि शब्दों का प्रधान अर्थ नहीं बता सकते अतएव प्रकृतस्थल में आरोप मानना उचित नहीं[1]।

नैयायिकों के द्वारा किये जानेवाले इस खण्डन का सारांश यह है 'यद् सत् तत् क्षणिकम्' इस प्रकार 'सत्ता' में 'क्षणिकत्व' की उस व्याप्ति के सूचक वाक्य का प्रयोग बौद्ध करते ही हैं जिसके बल पर 'सर्वं क्षणिकम्, सत्त्वात्' इस प्रकार का अनुमान उपस्थित करके वे सारे पदार्थों को क्षणिक सिद्ध करते हैं। इसलिए 'सत्' एवं 'सत्ता' शब्द का प्रयोग उन्हें भी करना ही पड़ता है। अतः 'सत्' अथवा 'सत्ता' शब्द को वे अवाचक कभी नहीं मान सकते। अतएव इन शब्दों को वाचकता का खण्डन उनके लिखे अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान रूप में ही परिणत हो उठता है। इसलिए उनके द्वारा किये गये उक्त खण्डन को किसी प्रकार समीचीन नहीं माना जा सकता।

'सत्ता द्रव्यम्' इस प्रकार समानाधिकरणप्रत्यय में वाक्यप्रयोग न होकर 'सद्द्रव्यम्' यह प्रत्यय या वाक्यप्रयोग इसलिए होता है कि 'सत्' शब्द सत्ता (जाति) के व्यञ्जकरूप में अर्थात् ज्ञापकरूप में प्रधानभाव से द्रव्य, गुण या कर्म का बोधक है अतः 'सत्ता' शब्द को द्रव्य, गुण और कर्म का ही वाचक माना जाता है। इसलिए 'सत्ताद्रव्यम्' इस प्रकार प्रत्यय या व्यवहार न होकर 'सद् द्रव्यम्' 'सन् गुणः' 'सत् कर्म' इत्यादि प्रत्यय एवं तदनुरूप वाक्यप्रयोग

---

१. न्यायवार्तिक—२।२।६७, पृष्ठ ३२२।

हुआ करते हैं। 'सत्ता' शब्द प्रधानरूप से सत्ता का ही वाचक है उसके अंगभूत अर्थात् आश्रयभूत द्रव्य, गुण या कर्म का अप्रधानरूप में ही वाचक है वहाँ सामानाधिकरण्य नहीं होता क्योंकि वहाँ 'द्रव्यस्य सत्ता' अर्थात् 'द्रव्य की सत्ता' यही प्रतीति एवं वाक्यप्रयोग होते हैं।

एक 'सत्' शब्द से अनन्त वस्तुओं का अभिधान होना भी संभव है क्योंकि अनन्त द्रव्य, गुण और कर्मों में सत्ता देखकर ही उन्हें सत् कहा जाता है। सत्ता एक है वह जहाँ-जहाँ होगी वह वस्तु सत् कही जायेगी[1]। बौद्ध किसी भी पदार्थ के अनन्त भेदों को 'जाति' शब्द का वाच्य नहीं मानते, फिर अनन्त गायों को एक 'गाय' शब्द के द्वारा कैसे समझा जा सकेगा? बौद्ध यहाँ अनुमान द्वारा एक 'गाय' शब्द से अनंत गो व्यक्तियों का ज्ञान मानने की युक्ति दे सकते हैं किंतु अनुमान के लिए उनको न तो अन्वयी उदाहरण मिल सकता है और न व्यतिरेकी। यदि उनके अन्वयी उदाहरण का स्वरूप निम्न-लिखित रूपमें हो—'जो-जो अनन्त हैं वे-वे शब्द के वाच्य नहीं हैं—' आदि, तो यही उदाहरण उन्हें न मिल सकेगा क्योंकि अनन्त के सभी भेद पक्ष में आ जायेंगे, किंतु उदाहरण पक्ष से भिन्न होना चाहिए। यदि उनका अनुमान इस प्रकार से हो—'जो जाति शब्द द्वारा वाच्य होती है वह अनंत नहीं होती, जैसे गोत्व' तो यह अनुमान बौद्धमत के प्रतिकूल होगा। बौद्ध जाति को नहीं स्वीकार करते फिर 'गोत्व' को उदाहरणरूप में कैसे स्वीकार कर सकते हैं[2]।

सत् शब्द व्यभिचारी भी नहीं है क्योंकि 'सत्' के द्वारा 'असत्' पदार्थों का अभिधान नहीं होता[3]। शब्द एवं अर्थ में लिंग एवं लिंगी का जैसा सम्बन्ध न होने के कारण तात्पर्यटीकाकार शब्द में अर्थ के व्यभिचार की शंका उचित नहीं मानते[4]। वार्तिककार का कथन है कि यदि सत्ता शब्द का अर्थ सत्ता न लिया जायेगा तो बौद्ध 'सत्' एवं 'द्रव्य' के सामानाधिकरण्य रूप दोष का आरोपण किस आधार पर करेंगे? 'सत्' शब्द का अर्थ प्रधानोप-सर्जनभाव से प्रसंगानुसार सत्ता एवं सत्तावान् पदार्थ होता है। भृत्य में स्वामी का उपचार स्वामी की अर्थक्रियाकारिता के कारण होती है अर्थात् स्वामी की

---

१. न्यायवार्तिक—२।२।६७, पृष्ठ ३२३।
२. तात्पर्यटीका—२।२।६७, पृष्ठ ४८१।
३. न्यायवार्तिक—२।२।६७, पृष्ठ ३२४।
४. तात्पर्यटीका—२।२।६७, पृष्ठ ४८१।

जैसी गुरुता एवं प्रियता देखकर भृत्य में स्वामी शब्द का गौण प्रयोग होता है। इस प्रकार गौण प्रयोग का आधार मुख्यार्थ होता है[1]।

वार्तिककार एक 'सत्' शब्द से सत्ता और द्रव्य का ज्ञान न तो एक साथ मानते हैं और न क्रमशः ही[2]। तात्पर्यटीकाकार के अनुसार शब्द सत्ताविशिष्ट द्रव्य का वाचक होता है अतएव द्रव्यों में सत्ता का ज्ञान भ्रान्त नहीं है। द्रव्य में सत्ता समवेत रहती है न कि स्फटिक में नीलेपन की भाँति आरोपित रहती है[3]।

बौद्ध ने जो यह कहा था कि 'सत्' शब्द को सत्ता जाति का वाचक मानने पर वह भेदों का अर्थात् प्रभेदों का फलतः द्रव्य, गुण एवं कर्म आदि का वाचक कैसे हो सकेगा उसका उत्तर यह है कि ऐसा हमारी ओर अर्थात् नैयायिकों की ओर से तो कहा नहीं गया है कि जातिवाची शब्द को भेदों का वाचक मानना चाहिए। अतः यह प्रतिषेध सचमुच नैयायिकों के कथन का प्रतिषेध नहीं हो सकता और 'जातिवाची शब्द भेदों का वाचक नहीं हो सकता'। बौद्धों के इस प्रतिषेध वाक्य के अन्दर 'जातिशब्द' यह जाति विशेषित रूप से शब्द का उल्लेख बौद्धों के लिए कोई अर्थ नहीं रखता क्योंकि उनके यहाँ 'जाति' की मान्यता न होने के कारण 'जाति' शब्द हो ही नहीं सकता क्योंकि सामान्य और विशेष दोनों की मान्यता होने पर ही किसी शब्द को भेदवाची अर्थात् विशेषवाची एवं जातिवाची अर्थात् सामान्यवाची कहा जा सकता है।

जाति की पुष्टि में प्रमाण—भिन्न अधिकरणों में भी समानता का ज्ञान जाति के द्वारा होता है[4]। बौद्ध जाति पदार्थ का अस्तित्व नहीं स्वीकार करते। 'लाना' एवं 'ले जाना' 'स्नान कराना' आदि क्रियाओं का उपयोग व्यक्ति एवं आकृति-रूप मिट्टी की गाय के प्रसङ्ग में नहीं हो पाता। अतएव सूत्रकार एवं भाष्यकार जातिपदार्थ को मानना आवश्यक समझते हैं[5]। वार्तिककार की जाति की सिद्धि में निम्नलिखित युक्तियाँ मुख्य हैं—

१—'यह गाय है' 'यह गाय है' इत्यादि विभिन्न पिण्डों में 'गाय' के अनुवृत्तिप्रत्यय का जो कारण है वही जाति है। गाय पिण्ड गोत्व जाति की अभिव्यक्ति का साधन होता है[6]।

१. न्यायवार्तिक—२।२।६७, पृष्ठ ३२५।
२. न्यायवार्तिक—२।२।६७, पृष्ठ ३२६।
३. तात्पर्यटीका—२।२।६७, पृष्ठ ४८२।
४. न्यायसूत्र-भाष्य—२।२।७१।
५. न्यायसूत्र-भाष्य—२।२।६६।
६. न्यायवार्तिक—२।२।६५, पृष्ठ ३१५।

२—पिण्ड की भाँति एक आकृति भी दूसरे पिण्ड में नहीं रह सकती अतएव विभिन्न पिण्डों को 'गाय' कहने का आधार पिण्ड या आकृति नहीं हो सकती। 'गोत्व' जाति ही सभी पिण्डों में समान रूप से रहती है जिसके आधार पर सभी प्रासंगिक पिण्डों को गाय कहा जाता है[1]।

३—पूर्वपक्षी का प्रश्न है कि यदि एक जाति आकृति की भाँति एक पिण्ड में सम्पूर्णरूप से रहती मानी जाये तो वह एक ही पिण्ड में समाप्त हो जाने के कारण दूसरे पिण्ड में न रह सकेगी और यदि विभिन्न पिण्डों में अंशतः रहे तो 'एक जाति अनेक पिण्डों में रहती है' इस मान्यता का खण्डन हो जायेगा क्योंकि अंश की अनेकता के द्वारा एक जाति की अनेकता स्वीकार्य होगी। वार्तिककार का उत्तर है कि 'अंश' अथवा 'सम्पूर्ण' का प्रसङ्ग 'समुदायी' एवं 'अवयवी' जैसे मूर्त पदार्थों के सम्बन्ध में उपस्थित होता है न कि जाति जैसे निरवयव एवं अमूर्त वस्तु के सम्बन्ध में। एक जाति समवाय सम्बन्ध से अनेक पदार्थों (पिण्डों) में रहती है[2]।

४—पूर्वपक्षी का प्रश्न है कि गाय में 'गोत्व' रहता है या गोभिन्न पिण्ड में। गाय स्वयं गाय है उसमें 'गोत्व' के रहने की आवश्यकता ही क्या है और गोभिन्न अश्व आदि 'पिण्डों' में 'गोत्व' नहीं माना जाता। इस प्रकार पूर्वपक्षी जाति के अस्तित्व की आलोचना करता है। वार्तिककार का उत्तर है कि जाति पिण्ड में समवाय सम्बन्ध से रहती है। जाति विशेषण है और पिण्ड विशेष्य। ये दोनों एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते। 'गोत्व' के योग के पहिले गाय विद्यमान ही न होगी जिसके आधार पर पूर्वपक्षी उक्त समस्या की उद्भावना कर सकेगा। इस प्रकार जाति की मान्यता निर्दोष सिद्ध होती है[3]।

अपोह का खण्डन—'अन्य अर्थ के अपोह' के द्वारा बौद्ध शब्दार्थ का प्रत्यायन मानते हैं। 'गौ' शब्द का अर्थ 'गोभिन्नापोह' अर्थात् गोभिन्न पदार्थों से भिन्न अर्थ होगा। दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय (अध्याय संख्या ५) में अपोह का प्रतिपादन किया है[4]। न्यायसाहित्य में अपोह का खण्डन वार्तिक से प्रारम्भ होता है। वार्तिककार ने अपोह के खण्डन में निम्नलिखित मुख्य युक्तियाँ दी हैं—

---

१. न्यायवार्तिक—२।२।६५, पृष्ठ ३१६।
२. न्यायवार्तिक—२।२।६५, पृष्ठ ३१७–१८।
३. न्यायवार्तिक–२।२।६५, पृष्ठ–३१७–१८।
४. Vidyabhusana : A History of Indian Logic. p. 287.

१—अपोह की मान्यता सर्वथा असंगत है। सिंह का अर्थ 'सिंहत्व' जाति न लेने पर माणवक को भी सिंह मानने का प्रसङ्ग उठ खड़ा होगा[1]।

२—बिना मुख्य को समझे अमुख्य का प्रतिषेध कैसे होगा? 'तत्' को बिना समझे 'तदन्यप्रतिषेध' का ज्ञान नहीं हो सकता। 'गौ' को बिना समझे 'अगौ' का ज्ञान नहीं हो सकता। फिर तद्भिन्नरूप में गायों को कैसे समझा जा सकता है?

३—'सर्व' पद का अर्थ 'अपोह' द्वारा कैसे व्यक्त होगा? 'असर्व' के अन्तर्गत कोई पदार्थ नहीं हो सकता जिसका प्रतिषेध किया जाये[2]।

४—अपोह का विषय गौ होता है या गोभिन्न? यदि अपोह गोविषयक है तो अपोह द्वारा गौ का अर्थ गोभिन्न नहीं समझा जा सकता। अपोह का विषय गोभिन्न मानने पर फिर उसका विषय गौ क्यों माना जाता है? गोभिन्न का वाचक गौ का वाचक कैसे होगा?

५—'अगौ' को समझने के लिए भी पहिले उत्तर पद 'गौ' का समझना आवश्यक है। जब तक सभी 'गौ' को एक 'गो'—पद के द्वारा नहीं समझा जायेगा 'अगौ' का ज्ञान नहीं हो सकता। जिसका निषेध करके अपोह की मान्यता को स्थिर किया जाये।

६—प्रत्येक वस्तु के लिए अलग-अलग अपोह माना जायेगा अथवा केवल एक। यदि अनेक गायों के लिए एक ही अपोह होगा तो अपोह 'जाति' का दूसरा नाम ही हुआ। यदि अनेक अपोह माने जायेंगे तो प्रत्येक पिण्ड के अपोहों के अनुसार अनन्त अपोह हो जायेंगे जिनसे अभिमत अर्थ की प्रतीति नहीं होगी अर्थात् फिर सभी 'गो' को 'गौ' पद से नहीं कहा जा सकेगा।

७—स्वयं 'अपोह' शब्द का अर्थ क्या अपोह द्वारा ज्ञात होता है अथवा सीधे-सीधे अनपोह के निषेध के बिना ही ज्ञात हो जाता है। पहिली स्थिति में अपोह पर अपोह और उस पर भी अपोह मानते जाने पर अनवस्था दोष होगा और दूसरी स्थिति में अपोह के बिना ही शब्द का ज्ञान मान लेने पर अपोह में अनैकान्तिकत्व दोष आ जायेगा क्योंकि कुछ शब्दों का ज्ञान अपोह द्वारा स्वीकार किया जायेगा और कुछ का बिना अपोह के। इस प्रकार अपोह की मान्यता दोषपूर्ण सिद्ध होती है[3]।

---

१ न्यायवार्तिक—२।२।६७; पृष्ठ ३२८।
२. न्यायवार्तिक—२।२।६७, पृष्ठ ३२९।
३. न्यायवार्तिक—२।२।६७, पृष्ठ ३३०।

अध्याय ६

न्यायवार्तिक में प्रमाणविषयक समस्यायें

प्रमाणों के अप्रामाण्य की आलोचना

माध्यमिक सिद्धान्त—न्यायसूत्रों में शून्यवादी माध्यमिक बौद्धों का प्रमाण के अप्रामाण्यविषयक सिद्धान्त पूर्वपक्ष के रूप में प्राप्त होता है[1]। इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण भाष्य-वार्तिक आदि परवर्ती व्याख्याओं में किया गया है।

माध्यमिक के अनुसार प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाण अप्रमाण हैं[2]। कारण प्रमाण एवं प्रमेय में पूर्वभाव, परभाव या सहभाव किसी की भी सिद्धि नहीं हो सकती। इस विषय का स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिए—

१—यदि यह माना जाये कि प्रमाण पहिले रहता है और प्रमेय बाद में, जैसे गन्ध का ज्ञान (प्रमाण) पहिले हुआ माना जाये और प्रमेय अर्थात् प्रमा के विषयभूत-रूप में गन्ध बाद में, तो इसका अर्थ यह हुआ कि प्रमेय के बिना ही वह प्रमाणभूत गन्ध का ज्ञान होता है और ऐसा होने पर उस गंध-ज्ञान-रूप प्रमाण को खपुष्पज्ञान जैसा कहना होगा फिर खपुष्पज्ञान और उससे जैसे खपुष्प की सिद्धि नहीं होती है इस प्रकार प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि नहीं होनी चाहिए। फलतः हानोपादानबुद्धि नहीं होनी चाहिए और ऐसी स्थिति में 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्' आदि सूत्र (न्यायसूत्र १।१।४) में जो यह प्रतिपादित हुआ है कि 'इन्द्रिय और अर्थ ('प्रमेय') के सन्निकर्ष से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसका खण्डन हो जाता है अर्थात् सूत्र में 'अर्थ' शब्द प्रमेयवाची है वह प्रमेय जबकि पहिले प्रमा न होने के कारण प्रमेयरूप में था ही नहीं तब प्रमेय के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होकर प्रमात्मक-ज्ञान कैसे हुआ, जैसा कि सूत्र में कहा गया है। इस प्रकार प्रमाण को पूर्ववर्ती और प्रमेय अर्थात् प्रमा के विषय को परवर्ती मानकर प्रमाण को प्रामाण्ययुक्त नहीं मान सकते[3]।

---

१. 'अयमत्र पूर्वपक्षिणो माध्यमिकस्याभिसन्धि'
(तात्पर्यटीका २।१। ८–९, पृष्ठ २६०)

२. न्यायसूत्र–२।१।८।

३. न्यायसूत्र–भाष्य-वार्तिक २।१।९ (वार्तिक पृष्ठ १८६)

२—तब क्या प्रमेय को पूर्ववर्ती और प्रमाण को तदपेक्षया परवर्ती माना जाये। प्रमेय को प्रमाण से पहिले मान लेने का अभिप्राय यह होगा कि प्रमाण के बिना ही वह अर्थ प्रमेय (प्रमा का विषय) हो गया अर्थात् उस अर्थ की प्रमा प्रमाण के बिना पहिले ही हो गई थी। ऐसा मानने पर प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि किसी वस्तु की प्रमा यदि प्रमाण से पहिले ही हो जाये और उस प्रमा को लेकर वह विषय प्रमाण के होने से पहिले ही प्रमेय बन जाये तो उस प्रमेय की प्रमा प्रमाण के बिना पहिले ही हो जाने के कारण 'प्रमेय की सिद्धि के लिए प्रमाण की आवश्यकता है' यह नहीं कहा जा सकता। कारण, जिसे जिसकी आवश्यकता होती है वह उसके पश्चात् ही हुआ करता है, जैसे कार्य कारण के पश्चात् ही हुआ करता है[१]।

३—अब एक विकल्प शेष रहा। वह यह कि प्रमाण एवं प्रमेय को युगपद्भावी—साथ-साथ होने वाला—मान लिया जाये। प्रकृत मान्यता भी समीचीन नहीं। कारण, इस पक्ष में प्रमाण की व्याख्या में आने वाली प्रमा और प्रमेय में आने वाली प्रमा दोनों का एक ही क्षण में अस्तित्व होने लगता है, किंतु ऐसा होना संभव नहीं। कारण, दो ज्ञान एक ही साथ नहीं हो सकते जैसा कि 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'[२] सूत्र द्वारा सिद्ध किया गया है। अतएव प्रमाण एवं प्रमेय समानकालभावी नहीं हो सकते[३]।

इस प्रकार जब प्रमाण एवं प्रमेय में पूर्वापरसहभाव सम्बन्ध नहीं बन सकता तब अगत्या प्रमाण के अप्रामाण्य की ही सिद्धि होगी।

आलोचना—यह आवश्यक नहीं कि प्रमाण एवं प्रमेय में पूर्वभाव, परभाव और सहभाव में से केवल कोई एक ही सम्बन्ध मान्य हो। वस्तुस्थिति यह है कि कभी प्रमाण पहिले रहता है, प्रमेय बाद में; कभी प्रमाण बाद में रहता है, प्रमेय पहिले और कभी प्रमाण एवं प्रमेय साथ-साथ ही रहते हैं[४]। प्रमाण एवं प्रमेय के पूर्वापरभाव का उदाहरण भाष्यकार ने इस प्रकार दिया है—सूर्य के प्रकाश में उत्पन्न होने वाले पदार्थों को सूर्य के प्रकाश में देखा जाता है। सूर्य का प्रकाश प्रमाण हुआ जो कि पहिले से ही विद्यमान रहता है और उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ प्रमेय होती हैं जो कि प्रमाणभूत सूर्य के प्रकाश के आने के पश्चात् उत्पन्न होकर अपने अस्तित्व को प्राप्त करती हैं।

---

१. न्यायसूत्र-भाष्य-वार्तिक—२।१।१० (वार्तिक पृष्ठ १८६)
२. न्यायसूत्र—१।१।१६।
३. न्यायसूत्र-भाष्य-वार्तिक—२।१।११ (वार्तिक पृष्ठ १८६)
४. न्यायभाष्य—२।१।११।

यहाँ प्रमाण एवं प्रमेय में पूर्वापरभाव है। कभी-कभी प्रमाण बाद में और प्रमेय पहिले रहता है। अन्धकारावृत्त स्थान में दीपक ले जाकर जब हम घट, पट आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष करते हैं तो घटादि पदार्थ पूर्व से ही विद्यमान रहते हैं और प्रमाणभूत दीपक तदपेक्षया पश्चाद्भावी होता है। अतएव निश्चित है कि इस स्थल में प्रमेय पहिले रहता है और प्रमाण बाद में। इसी प्रकार प्रमाणभूत शब्द को सुनकर पूर्वविद्यमान वीणा आदि वाद्य का अनुमान होता है। यहाँ प्रमेय-वाद्य पहिले रहता है और प्रमाण-शब्द बाद में[1]। बहुत से स्थलों पर प्रमाण एवं प्रमेय साथ-साथ ही रहते हैं, जैसे धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान होने पर प्रमाणभूत धूम एवं प्रमेयभूत अग्नि दोनों एक ही काल में विद्यमान रहते हैं। अतएव माध्यमिक प्रमाणों के प्रामाण्य का अपलाप अपनी उक्त युक्त्याभासों द्वारा नहीं कर सकता।

पुनश्च प्रमेय आदि संज्ञाओं के नामकरण का आधार कालत्रय में सम्पन्न होने वाले व्यापारों से है। जिसने भोजन पकाया हो या जो पका रहा हो अथवा जो भविष्य में पकायेगा उसे पाचक कहा जाता है, न कि केवल उसी को पाचक कहा जाता है जो भोजन पका चुका हो। इसी प्रकार प्रमाण के द्वारा प्रमिति अथवा प्रमाण के द्वारा प्रमीयमाण अथवा प्रमाण के द्वारा प्रमास्य-मान पदार्थ को प्रमेय कहा जा सकता है।

यह भी विचारणीय विषय है कि प्रमाणों के प्रामाण्य का खण्डन करने वाला माध्यमिक क्या प्रमाणों का प्रामाण्य सम्भव होने पर भी उनके प्रामाण्य का निराकरण करता है अथवा प्रमाणों के प्रामाण्य के असंभव होने पर उनके प्रामाण्य का खण्डन करता है। प्रथम विकल्प के अनुसार प्रमाणों का प्रामाण्य संभव होने पर उसका निराकरण हो ही नहीं सकता और दूसरे विकल्प को मान लेने पर माध्यमिक द्वारा किया गया प्रमाणों के प्रामाण्य का 'खण्डन' ही प्रमाण हो जायेगा। जब 'खण्डन'—रूप प्रमाण ही प्रामाण्ययुक्त हो जायेगा तो माध्यामिक किस आधार पर सभी प्रमाणों का अप्रामाण्य मान सकेगा।

प्रकृत स्थल में वार्तिककार ने माध्यमिकों की आलोचना करते हुए कहा है कि 'प्रत्यक्षादि अर्थ के साधक नहीं होते हैं' यह कथन विरुद्ध है क्योंकि 'प्रत्यक्ष आदि (प्रमाण) भी हैं और अर्थ को सिद्ध भी नहीं करते' यह कथन उसी प्रकार संभव नहीं है जिस प्रकार यह कथन कि 'यह पदार्थ' ज्ञान का विषय नहीं है[2]।

---

१. न्यायसूत्र-भाष्य-वार्तिक—२।१।१५ (वार्तिक पृष्ठ १९१)
२. न्यायवार्तिक—२।१।११, पृष्ठ १८७।

माध्यमिक प्रमाण एवं प्रमेय के पूर्वापरसहभाव को असंभव कहकर प्रमाणों के प्रामाण्य का 'प्रतिषेध' करना चाहता है। किन्तु माध्यमिक की 'पूर्वापर-सहभाव का असंभव होना'—रूप युक्ति के आधार पर माध्यमिककृत 'प्रतिषेध' भी संभव न होगा। क्योंकि तब प्रश्न यह होगा कि 'प्रतिषेधक' 'प्रतिषेध्य' के पूर्व, पश्चात् अथवा साथ-साथ एक ही काल में रहता है? यदि माध्यमिक प्रमाण एवं प्रमेय के बीच पूर्वापरसहभाव को असंभव मानेगा तो उसे प्रतिषेधक एवं प्रतिषेध्य के बीच भी पूर्वापरसहभाव को असंभव मानना पड़ेगा। इस प्रकार माध्यमिककृत प्रमाणों के प्रामाण्य के 'प्रतिषेध' की सिद्धि न हो सकेगी[1]।

यदि माध्यमिक प्रमाणों की असत्ता का प्रतिपादन करना चाहे तो उसे यह भी बतलाना पड़ेगा कि प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन प्रतिपादयिता किस आधार पर करेगा[2]। यदि प्रतिपादयिता प्रतिपाद्यविषय का प्रतिपादन प्रमाण द्वारा करेगा तो माध्यमिक को प्रमाण की सत्ता माननी पड़ गई क्योंकि वह स्वयं भी प्रतिपादन करता है और प्रमाण के बिना प्रतिपादयिता प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन कर सके इसका कोई दृष्टान्त ही नहीं मिलता। पुनश्च प्रतिपाद्य और प्रतिपादयिता में कुछ भेद है या नहीं? माध्यमिक को भी इन दोनों के भेद को स्वीकार करना पड़ेगा और यदि माध्यमिक दोनों के भेद का प्रतिपादन करता है तो भेद के प्रतिपादक प्रमाण को भी उसे मानना ही पड़ेगा। यदि माध्यमिक हठात् प्रमाण की सत्ता स्वीकार ही न करे तो उसे यह बताना पड़ेगा कि वह प्रमाण की सत्ता को क्यों नहीं मानता[3]। यदि अपनी मान्यता को सिद्ध करने के लिए वह प्रमाण प्रस्तुत करता है तब तो प्रमाण की सिद्धि हो ही गई और यदि वह प्रमाण को प्रस्तुत नहीं करता तो उसकी मान्यता की सिद्धि किस आधार पर हो सकेगी? इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि माध्यमिक को प्रमाण की सत्ता और उसका प्रामाण्य मानना पड़ेगा।

आक्षेप—माध्यमिक का आक्षेप है कि यदि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की सत्ता मान भी ली जाये तो दो प्रकार की समस्यायें उठ खड़ी होती हैं—

(१) क्या प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की सिद्धि अन्य प्रमाणों से मानी जाये? ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों से अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की सत्ता माननी पड़ेगी और इस प्रकार चार से अधिक प्रमाण मानने होंगे, किंतु नैयायिक चार से अधिक प्रमाण नहीं स्वीकार करता[4]। पुनश्च जिन अतिरिक्त

१. न्यायभाष्य—२।१।१२।

२. न्यायवार्तिक—२।१।१२, पृष्ठ १९०—९१।

३. न्यायवार्तिक—२।१।१२, पृष्ठ१९१। ४. न्यायसूत्र-भाष्य २।१।१७।

प्रमाणों से प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि मानी जायेगी उन अतिरिक्त प्रमाणों की सिद्धि अन्य अतिरिक्त प्रमाणों से होगी और उनकी भी अन्य प्रमाणों से। इस प्रकार अनवस्था नामक दोष आपन्न होगा एवं प्रमाणों की संख्या का निर्धारण न हो सकेगा और इस प्रकार किसी भी प्रमाण का प्रामाण्य स्थिर न हो सकेगा[१]।

(२) अथवा क्या प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि के लिए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता न मानी जाये? यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि बिना प्रमाणों के ही हुई मानी जायेगी तो आत्मा आदि प्रमेयों के ज्ञान के लिए भी किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं मानी जानी चाहिए[२]। प्रमाण के बिना ही पदार्थ की सिद्धि का नियम प्रमाणों के लिए ही क्योंकर सीमित माना जाये, उसे व्यापक क्यों न मान लिया जाये?

उत्तर—न्याय का सिद्धान्त यह है कि प्रमाणों की सिद्धि बिना प्रमाण के नहीं होती अपितु प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की सिद्धि जिन प्रमाणों से होती है वे प्रमाण प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के ही अन्तर्गत होते हैं न कि प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों से अतिरिक्त कोई पाँचवे छठे आदि प्रमाण। उदाहरण यों समझें—जिस प्रकार घट आदि प्रमेयों का ज्ञान दीपक के सहारे होता है। दीपक प्रत्यक्ष प्रमाण का अंग होने के कारण प्रमाण माना जाता है किन्तु इसी प्रमाणभूत दीपक का ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण (चक्षुः सन्निकर्ष) द्वारा होता है न कि प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों से अतिरिक्त किसी प्रमाण से[३]। इसी प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की सिद्धि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा ही हो सकती है[४]।

किसी स्थल में प्रत्यक्ष प्रमाण की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा होने में यह आक्षेप करना उचित नहीं कि कोई प्रमाण स्वयं का साधक कैसे हो सकता है? कारण, प्रत्यक्ष प्रमाण के अनेक प्रभेद हैं। विभिन्न स्थितियों में विभिन्न पदार्थ विभिन्न प्रमाणों के कर्तव्य का निर्वाह करते हैं। जलाशय में स्थित सम्पूर्ण जल एक (समान) है, किन्तु थोड़ा जल निकालकर उसके अनुभव के आधार पर शेष जल के स्वरूप का अनुमान होता है। पुनश्च कहीं-कहीं प्रमाण एवं प्रमेय एक ही पदार्थ हो सकता है, जैसे आत्मज्ञानस्थल में प्रमाण (ज्ञाता) और

१. न्यायभाष्य-वार्तिक—२।१।१७, (वार्तिक पृष्ठ १९८)
२. न्यायसूत्र-भाष्य-वार्तिक—२।१।१८ (वार्तिक पृष्ठ १९८)
३. न्यायसूत्र-भाष्य-वार्तिक–२।१।१८ (वार्तिक पृष्ठ १९८)
४. न्यायभाष्य—२।१।१९,

प्रमेय (ज्ञेय) एक (आत्मा) ही रहता है[1]। यहाँ आत्मा को, जो कि प्रमाता है, प्रमाण इस दृष्टि से कहा गया है कि प्रमाण वही होता है जो प्रमा का कारण होता है। प्रमाता भी प्रमा का कारण होता ही है अथवा प्रमाता और प्रमेय यदि एक हो सकता है तो प्रमाण और प्रमेय एक क्यों न हों? इसी प्रकार 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्[2]' इस अनुमान-स्थल में मन के द्वारा मन का ज्ञान होता है। यहाँ भी प्रमाण एवं प्रमेय एक ही पदार्थ (मन) है।

प्रमा के साधन रूप में विद्यमान होने पर कोई भी पदार्थ प्रमाण एवं प्रमा के विषय-रूप में विद्यमान होने पर वही पदार्थ प्रमेय होता है। इसीलिये एक ही पदार्थ जब प्रमा का साधन होता है, प्रमाण माना जाता है और जब प्रमा का विषय होता है तब प्रमेय। प्रमा का साधन होने पर बुद्धि (ज्ञान) प्रमाण होती है और प्रमा का विषय होने पर वही बुद्धि प्रमेय मानी जाती है[3]। सूत्रकार ने उक्त विषय का स्पष्टीकरण तराजू के दृष्टान्त से किया है[4]। जब सुवर्ण को तराजू से तौला जाता है तब तराजू प्रमाण और सुवर्ण प्रमेय होता है किन्तु उसी तराजू को जब दूसरे तराजू में रखकर सुवर्ण को बाँट बनाकर तौला जाता है तब वही तराजू, जो पहिले प्रमाण था और अब तौला जा रहा है, प्रमेय बनता है और बाँट के स्थान पर आपन्न सुवर्ण प्रमाण बनता है[5]। निष्कर्ष यह है कि प्रमाण अथवा प्रमेय उक्त निमित्त से हुये माने जाते हैं। निमित्त के अनुसार संज्ञाभेद अन्यत्र भी देखा जाता है। एक ही वृक्ष कभी कर्ता, कभी कर्म, कभी करण आदि निमित्तवश ही होता है।

प्रमाणसंप्लव एवं प्रमाणव्यवस्था

एक प्रमेय का प्रत्यक्षादिक एकाधिक प्रमाणों के द्वारा ज्ञान होने का सिद्धान्त 'प्रमाणसंप्लव' कहा जाता है और एक प्रमेय का एक ही प्रमाण द्वारा ज्ञान होने के सिद्धान्त को 'प्रमाणव्यवस्था' कहा जाता है। न्याय दर्शन में प्रमाणसंप्लव एवं प्रमाणव्यवस्था पर विचार न्यायभाष्य से प्रारम्भ होता है। भाष्यकार का मत है कि कुछ प्रमेय अनेक प्रमाणों के द्वारा ज्ञात होते हैं (प्रमाणसंप्लव) और कुछ केवल एक ही प्रमाण द्वारा (प्रमाणव्यवस्था), जैसे

---

१. न्यायभाष्य-वार्तिक—२।१।१९ (वार्तिक पृष्ठ २००)

२. न्यायसूत्र—१।१।१६। ३. न्यायभाष्य—२।१।१६।

४. न्यायसूत्र—२।१।१६।

५. न्यायसूत्र-भाष्य—२।१।१६।

आत्मा का ज्ञान तीन पृथक् प्रमाणों से होता है[1]। आप्तोपदेश (शब्द प्रमाण) से आत्मज्ञान होता है। 'इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख एवं ज्ञान आत्मा के लिङ्ग हैं' इस प्रकार 'अनुमान' प्रमाण से भी आत्मा का ज्ञान होता है और युञ्जान योगी को आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से भी होता है। इसी प्रकार आप्तोपदेश (शब्द प्रमाण) द्वारा भी किसी स्थान पर अग्नि की सत्ता का ज्ञान होता है और धूमदर्शन द्वारा अनुमान से भी तथा प्रत्यासन्न व्यक्ति को प्रत्यक्ष द्वारा भी उसी अग्नि का ज्ञान होता है।

किंतु स्वर्ग का ज्ञान 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि आगम प्रमाण के द्वारा ही होता है (प्रमाणव्यवस्था)। स्वर्ग का ज्ञान न तो अनुमान प्रमाण द्वारा ही हो सकता है और न प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही। शब्द सुनकर दूरवर्ती अदृश्य मेघ की सत्ता का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है, प्रत्यक्ष अथवा शब्द प्रमाण से नहीं। प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले अपने हाथों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है अनुमान या शब्द प्रमाण से नहीं।

बौद्ध प्रत्यक्ष एवं अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं। उनके मत में दोनों के द्वारा ज्ञेय विषय सर्वथा भिन्न होते हैं। प्रत्यक्ष का विषय विशेष (स्वलक्षण[2]) ही होता है जब कि अनुमान का विषय सामान्यमात्र। प्रत्यक्ष का विषय सामान्य नहीं हो सकता और अनुमान का विषय विशेष नहीं हो सकता। वार्तिककार बौद्धों के उक्त मत का खण्डन करते हैं[3]। उनका कथन है कि प्रत्यक्ष एवं अनुमान केवल ये ही दो प्रमाण नहीं हैं अपितु चार (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द) हैं। विशेष और सामान्यभेद से विषय भी दो

---

१. 'किं पुनः प्रमाणानि प्रमेयमभिसंप्लवन्तेऽथ प्रतिप्रमेयं व्यवतिष्ठन्ते इति ?

उभयथा दर्शनम्—'अस्त्यात्मा' इत्याप्तोपदेशात्प्रतीयते। तत्रानुमानम्—'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्' (अ०१ आ०१ सू०१०) इति। प्रत्यक्षम्—युञ्जानस्य योगसमाधिजमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मा प्रत्यक्ष इति। अग्निराप्तोपदेशात्प्रतीयते 'अत्राग्निः' इति। प्रत्यासीदता धूमदर्शनेनानुमीयते, प्रत्यासन्नेन च प्रत्यक्षत उपलभ्यते। व्यवस्था पुनः—अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति। लौकिकस्य स्वर्गे न लिङ्गदर्शनन्न प्रत्यक्षम्। स्तनयित्नुशब्दे श्रूयमाणे शब्दहेतोरनुमानम्। तत्र न प्रत्यक्षन्नागमः। पाणौ प्रत्यक्षत उपलभ्यमाने नानुमानन्नागम इति' (न्यायभाष्य—१।१।३)

२. तात्पर्यटीका—१।१।१, पृष्ठ १७।

३. न्यायवार्तिक—१।१।१, पृष्ठ४-५।

ही प्रकार के नहीं होते अपितु सामान्य, विशेष एवं सामान्य-विशेष (तद्वत्) भेद से तीन प्रकार के होते हैं। किसी स्थल में प्रमाणव्यवस्था मान्य होती है और कहीं पर प्रमाणसंप्लव। अर्थज्ञान में साधन होने के कारण इन्द्रियों को प्रमाण माना जाता है। किसी विषय को ग्रहण करने में इन्द्रिय-रूप प्रमाण की व्यवस्था होती है जैसे गन्ध का ग्रहण केवल एक ही इंद्रिय-घ्राण से होता है किन्तु पृथ्वी का ग्रहण दो इन्द्रियों–(चक्षु एवं त्वक्) से होता है अतएव प्रकृतस्थल में प्रमाणसंप्लव है। इसी प्रकार सत्ता एवं गुणत्व का प्रत्यक्ष सभी इन्द्रियों द्वारा होने के कारण यहाँ प्रमाणसंप्लव माना जाता है।

बौद्ध प्रश्न कर सकता है कि यदि एक प्रमाण द्वारा किसी अर्थ का ज्ञान हो गया हो तो फिर दूसरे प्रमाण के द्वारा उसका ज्ञान मानने पर पिष्टपेषण होने के कारण प्रमाणसंप्लव से लाभ ही क्या है? वार्तिककार का उत्तर है कि एक प्रमाण के द्वारा एक प्रकार से ज्ञान होता है और दूसरे प्रमाण के द्वारा दूसरे प्रकार से। प्रत्यक्षप्रमाणस्थल में अर्थ का इंद्रिय से सम्बन्ध होकर ज्ञान होता है किन्तु अनुमानस्थल में प्रमेय अर्थ का इन्द्रिय से सम्बन्ध नहीं होता। उपमानस्थल में संज्ञा एवं संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। आगमप्रमाणस्थल में शब्द द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है।

प्रमाणों की संख्या और उनका अन्तर्भाव

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द इन चारों प्रमाणों को पृथक्-रूप में स्वीकार करते हुये प्रमाणद्वयवाद एवं प्रमाणत्रयवाद का खण्डन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। प्रकृतस्थल में यह विचार किया जा रहा है कि विभिन्न दर्शनसम्प्रदायों द्वारा पृथक्-रूप में मान्य 'ऐतिह्य', 'अर्थापत्ति', 'सम्भव' एवं 'अभाव' इन प्रमाणों का अन्तर्भाव उक्त न्यायाभिमत प्रमाणों में ही हो जाता है, अतएव ये अतिरिक्त प्रमाण नहीं, और न तो ऐसा ही है कि ऐतिह्य आदि चार प्रमाण प्रमाण ही नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि ऐतिह्य आदि चारों प्रमाणों की सत्ता है, वे प्रमाण भी हैं किन्तु पृथक् प्रमाण न होकर न्यायसम्मत प्रमाणों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। शब्द में 'ऐतिह्य' का अन्तर्भाव होता है और शेष तीनों का अनुमान में[1]।

किंतु यहाँ अनुमान में कहे गये अनुपलब्धि के अन्तर्भाव को यथासंभव समझना चाहिये, सर्वत्र नहीं क्योंकि चक्षुःसन्निकृष्ट भूतल आदि में घट आदि की अनुपलब्धि होने पर घटाभाव आदि का प्रत्यक्ष ही होता है, अनुपलब्धि-

१. न्यायसूत्र–२।२।२।

हेतुक अनुमान नहीं। वहाँ अनुपलब्धि प्रत्यक्ष प्रमाण की सहायिका मात्र होती है, अनुमापक हेतुरूप में प्रमाण नहीं।

सूत्र एवं भाष्य में यह निर्देश नहीं मिलता कि अनुमान के किस प्रभेद में अर्थापत्ति, संभव एवं अभाव का अन्तर्भाव होता है। वार्तिक में इस विषय का स्पष्टीकरण मिलता है जिसके अनुसार इन तीनों प्रमाणों का अन्तर्भाव 'सामान्यतो दृष्ट' नामक अनुमान में हुआ माना गया है[1]। उक्त प्रमाणत्रयस्थल में कार्य एवं कारण में से एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान नहीं होता अतएव तात्पर्यटीकाकार उक्ततीनों प्रमाणों को 'सामान्यतो दृष्ट' प्रमाण में अन्तर्भूत मानते हैं क्योंकि सामान्तोदृष्ट प्रमाणस्थल में कार्यकारण में गम्यगमकभाव सम्बन्ध नहीं होता[2]।

ऐतिह्य प्रमाण—'इति होचुः' अर्थात् 'प्राचीन लोग ऐसा कहते हैं' इस प्रकार किसी विशेष आप्तव्यक्ति का नामनिर्देश न करके केवल परम्परा से चले आ रहे कथन को ऐतिह्य कहा जाता है[3]।

ऐतिह्य का शब्दप्रमाण में अन्तर्भाव—ऐतिह्य एवं शब्दप्रमाण का लक्षण समान है अतएव दोनों अभिन्न हैं। इसीलिये ऐतिह्य प्रमाण को शब्द प्रमाण ही समझना चाहिये[4]।

अर्थापत्ति प्रमाण—भाष्यकार के अनुसार जहाँ अभिहित अर्थ से किसी अन्य अर्थ की प्राप्ति होती है वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण होता है[5]। उदाहरण के लिये 'मेघों के न होने पर वृष्टि नहीं होती है' इस अर्थ के ज्ञान से हमें ज्ञान होता है कि 'मेघों के होने पर वृष्टि होती है'। यह ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाणजन्य हुआ। उक्त उदाहरण के अतिरिक्त वार्तिककार ने अर्थापत्ति का एक दूसरा उदाहरण भी दिया है—'दिन में भोजन नहीं करता है' के अर्थ-ज्ञान के द्वारा आपन्न होता है कि 'रात्रि में भोजन करता है'[6]।

अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव—भाष्यकार की युक्ति है कि वाक्यार्थसम्प्रत्ययेनानभिहितस्यार्थस्य प्रत्यनीकभावाद् ग्रहणमर्थापत्तिरनुमानमेव' अर्थात् किसी वाक्य के अर्थ के ज्ञान से उसके विरोधी होने के कारण अकथित अर्थ का ज्ञान अर्थापत्ति होता है जो कि अनुमान ही है[7]। 'मेघों के न होने पर वृष्टि नहीं होती है' इस वाक्य के अर्थज्ञान होने पर इससे अपने विरोधी 'मेघ होने पर वृष्टि होती है' का ज्ञान होता है। इस ज्ञान को अर्थापत्ति माना

१. न्यायवार्तिक—२।२।२, पृष्ठ २७६।
२. तात्पर्यटीका—२।२।२, पृष्ठ ४३७। ३. न्यायभाष्य—२।२।१।
४. न्यायवार्तिक—२।२।२, पृष्ठ २७५। ५. न्यायभाष्य—२।२।१।
६. न्यायवार्तिक—२।२।२, पृष्ठ २७६। ७. न्यायभाष्य—२।२।२।

जाता है। किन्तु इसे अनुमान ही मानना चाहिये क्योंकि ज्ञातार्थ से तद्विरोधी अर्थ का ज्ञान अनुमान ही हुआ।

वार्तिककार ने उक्त विषय को अधिक स्पष्ट किया है। दो में से एक के प्रतिषेध से दूसरे का ज्ञान अर्थापत्ति होता है जो कि अनुमान ही है। 'दिन में भोजन नहीं करता है' यहाँ 'दिन में भोजन करने के निषेध' से 'रात्रि में भोजन करने' का ज्ञान अर्थापत्ति (प्रमा) है।

अर्थापत्ति का प्रामाण्य—मेघों के होने पर भी कभी-कभी वर्षा न होने के कारण अनुमान में अन्तर्भूत अर्थापत्ति को अप्रमाण नहीं मान लेना चाहिए। कारण, ऐसी स्थिति में वर्षा होने के किसी प्रतिबंधक कारण के विद्यमान होने से वर्षा नहीं होती। अतएव प्रतिबन्धक से रहित प्रकृत प्रमाण को अर्थापत्ति मानना चाहिए। जो अर्थापत्ति नहीं है उसे अर्थापत्ति मानकर अर्थापत्ति की सत्ता या उसके प्रामाण्य का खण्डन नहीं हो सकता[1]। पुनश्च अर्थापत्ति के प्रामाण्य पर आघात करने वाला व्यक्ति अर्थापत्ति को तो स्वीकार करता है, भले ही वह उसके प्रामाण्य को न स्वीकार करता हो[2]। जैसा कि पूर्व बतलाया जा चुका है कि अर्थापत्ति प्रतिबन्धकरहित होने पर अपने विषय का सही ज्ञान कराती है अतएव अनुमान में अन्तर्भूत अर्थापत्ति प्रमाण ऐकान्तिक होने के कारण अप्रमाण नहीं है[3]।

संभव प्रमाण—अविनाभावी अर्थ की सत्ता के ज्ञान से दूसरे की सत्ता का ज्ञान संभव प्रमाण होता है। उदाहरण के लिये 'द्रोण', 'आढक' एवं 'प्रस्थ' ये तीन मान (वजन) हैं। द्रोण सबसे अधिक वजन होता है, उससे कम आढक और आढक से कम प्रस्थ। अतएव निश्चित है कि कोई पदार्थ बिना आढक भर वज़न हुये द्रोणभर वज़न नहीं हो सकता है क्योंकि द्रोण आढक से भारी होता है। इसी प्रकार आढक भर वज़न न होने वाला पदार्थ प्रस्थ भर वज़न नहीं हो सकता अर्थात् बड़े वज़न में छोटा वज़न अवश्य समाया हुआ रहेगा। इस प्रकार द्रोण की सत्ता के ज्ञान से आढक की सत्ता का ज्ञान 'संभव' प्रमाण है। तथैव आढक की सत्ता के ज्ञान से प्रस्थ की सत्ता का ज्ञान भी संभव प्रमाण है। बड़े वज़न में छोटा वज़न संभव है, छोटे वज़न के बिना बड़ा वज़न संभव ही नहीं है। इसी प्रकार 'संभव के उदाहरण अन्य स्थल में भी समझ लेना चाहिये[4]।

---

१. न्यायसूत्र-भाष्य-वार्तिक—२।२।३-४ (वार्तिक पृष्ठ २७७)
२. न्यायवार्तिक—२।२।५, पृष्ठ २७८।
३. न्यायवार्तिक—२।२।६, पृष्ठ २७८। ४. न्यायभाष्य—२।२।१।

संभव का अनुमान में अन्तर्भाव—द्रोण में आढक के सम्भव होने के कारण 'द्रोण' के ज्ञान से उसमें आढक का ज्ञान होता है। यहाँ द्रोण 'समुदाय' है और आढक 'समुदायी'। इस प्रकार प्रकृतस्थल में अविनाभावरूप से सम्बद्ध समुदाय एवं समुदायी में से समुदाय के ज्ञान से समुदायी का ज्ञान होता है और ऐसा ज्ञान अनुमान से भिन्न नहीं है[1]। इसलिये 'संभव' प्रमाण भी अनुमान में ही अन्तर्भूत है।

अभाव प्रमाण—किसी विपरीत (प्रत्यनीक) अर्थ के ज्ञान से उसके विरोधी के ज्ञानस्थल में 'अभाव' प्रमाण माना जाता है[2]। उदाहरण—मेघों के होने पर भी 'वर्षा न होने' के ज्ञान से वर्षा के प्रतिबन्धक (विरोधी)—'वायु एवं मेघ के संयोग' का ज्ञान अभाव प्रमाण द्वारा होता है, अर्थात् प्रतीयमान वर्षा का अभाव यह बतलाता है कि वर्षा का प्रतिबन्धक 'वायुमेघ-संयोग' हो गया है।

अभाव का अनुमान में अन्तर्भाव—कार्य की अनुत्पत्ति (वर्षा का न होना) से कार्य (वर्षा का होना) के कारण के प्रतिबंधक (वायुमेघसंयोग) का ज्ञान अनुमान प्रमाण के द्वारा होता है।

अभाव प्रमाण का प्रमेय—पूर्वपक्षी का आक्षेप है कि 'अभाव' प्रमाण नहीं है क्यों कि 'अभाव' का कोई प्रमेय ही नहीं होता है। लोक में 'अभाव' का व्यवहार केवल काल्पनिक है, यथार्थ नहीं[3]। कोई भी प्रमाण प्रमाण इस-लिये होता है कि वह अपने प्रमेय का बोध कराता है। जिसका प्रमेय ही नहीं है, वह प्रमेय का ज्ञान कैसे करा सकेगा, अतः अभाव को प्रमाण नहीं कहा जा सकता।

वार्तिककार के अनुसार उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि[4] विषयभूत अभाव को भले ही निर्विषय होने के कारण प्रमाण न माना जाये किन्तु अभावानुभव-रूप विषयी को तो प्रमाण मानना ही होगा क्योंकि वह तो निर्विषय नहीं, अभाव ही उसका विषय है। सूत्रकार तथा भाष्यकार के अनुसार उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि ज्ञानसाधन ही जब प्रमाण कहलाता है और अभाव के द्वारा भी अभावयुक्त वस्तु का ज्ञान कराया जाता है तो अभाव को प्रमाण कैसे नहीं माना जायेगा ? जहाँ बहुत से रँगे वस्त्रों में से बिना रँगे वस्त्र को लाने के लिये

---

१. न्यायभाष्य—२।२।२। २. न्यायवार्तिक—२।२।२, पृष्ठ २७५।
३. तात्पर्यटीका—२।२।७, पृष्ठ ४३९।
४. न्यायवार्तिक—२।२।७, पृष्ठ २७८।

कहा जाये तो लाने वाला जो उसी वस्त्र को ले आता है वह उस वस्त्र में विद्यमान 'रंग के अभाव' को देखकर ही लाता है। रंग के अभाव से ही उस बिना रँगे वस्त्र को ग्रहीतव्य समझता है इसलिये रंग के अभाव से बिना रँगे, वस्त्र को समझा जाता है। वह रंग का अभाव अपने आश्रयभूत वस्त्र का बोध कराने में साधन बनता है, इसलिये ज्ञानसाधन होने के कारण 'अभाव' को प्रमाण मानना चाहिये[1]।



१. न्यायसूत्र-भाष्य-वार्तिक—२।२।८ (वार्तिक पृष्ठ २७८)

अध्याय ७

प्रमा में सहायक अन्य पदार्थ

इस अध्याय में न्यायसम्मत १६ पदार्थों में से ८ का विवेचन किया जा रहा है, 'जाति' एवं निग्रहस्थान' का विवेचन अगले अध्याय में किया जायेगा। शेष पदार्थ प्रकरण के अनुसार दूसरे अध्यायों में आ गये हैं। इन सभी पदार्थों का ज्ञान प्रमा में सहायक होता है।

प्रयोजन

जिस वस्तु को उद्देश्य बनाकर व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत होता है सूत्रकार के अनुसार उसे प्रयोजन कहा जाता है[1]। भाष्यकार के अनुसार प्रयोजन की परिभाषा इस प्रकार है—जिस वस्तु को प्राप्य या त्याज्य समझकर उसकी प्राप्तिं एवं उसके त्याग के लिये व्यक्ति प्रयास करता है वह प्रयोजन होती है,[2] किन्तु भाष्यकार ने यह नहीं बतलाया है कि कौन से पदार्थ प्राप्तव्य (ग्राह्य) एवं कौन से त्याज्य हो सकते हैं जिनकी प्राप्ति एवं त्याग को प्रयोजन माना जाये। इस कमी को वार्तिककार ने पूरा किया है। 'सुख' ग्राह्य है और 'दुःख' त्याज्य है क्योंकि सुख की प्राप्ति और दुःख के निवारण को ही दृष्टि में रखकर कोई व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त देखा जाता है, अतएव 'सुख की प्राप्ति' और 'दुःख का विनाश' ही प्रयोजन है[3]।

तात्पर्यटीकाकार ने वार्तिककार के 'सुख की प्राप्ति' और 'दुःख के निवारण'-रूप प्रयोजन को 'मुख्य प्रयोजन' माना है। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रयोजन का एक नया प्रभेद—'गौण प्रयोजन' भी माना है। इसके अन्तर्गत 'सुख की प्राप्ति एवं दुःख के निवारण के साधन' आते हैं[4]। गौण प्रयोजन के मानने का कारण यह बताया गया है कि सुख की प्राप्ति एवं दुःख के निवारण को मुख्य

---

१. न्यायसूत्र—१।१।२४। २. न्यायभाष्य—१।१।२४।

३. 'सुखदुःखयोरवाप्तिहानाभ्यामयं लोकः प्रयुज्यत इति सुखदुःखाप्तिहानि प्रयोजनमिति'। (न्यायवार्तिक—१।१।२४, पृष्ठ १०२)

४. मुख्यं सुखदुःखप्राप्तिपरिहारौ, गौणं तु तत्साधनम्'
(तात्पर्यटीका--१।१।२४, पृष्ठ २६०)

प्रयोजन मानना ठीक ही है किंतु इन दोनों में स्वरूपतः किसी व्यक्ति की न तो प्रवृत्ति ही होती है और न निवृत्ति ही, क्योंकि सुखप्राप्ति और दुःखपरिहार प्रतीति के विषय हैं, स्वरूपतः प्रवृत्ति के नहीं। हाँ सुखप्राप्ति एवं दुःखनिवारण के साधनों में व्यक्ति प्रवृत्त होता है, अतएव गौणरूपेण इन साधनों को भी प्रयोजन माना गया है[१]।

वार्तिककार ने 'सुख की प्राप्ति' और 'दुःख के निवारण' के साधनों को प्रयोजन के साधन ही माना है न कि प्रयोजन[२] अतएव वार्तिककार के प्रयोजन-विषयक विवेचन को अपूर्ण नहीं समझना चाहिए। तात्पर्यटीकाकार ने जिसे 'गौण प्रयोजन' कहा है वार्तिककार ने उसी को 'साधन' माना है। साधन सदैव गौण ही होता है और साध्य मुख्य।

प्रयोजन के प्रभेदों के सम्बन्ध में विभिन्न टीकाकार भले ही एकमत न हों किन्तु यह बात सर्वमान्य है कि प्रयोजन ही व्यक्ति को किसी कार्य में प्रवृत्त करता है। विभिन्न प्रमाणों और तर्क का सहारा लेकर व्यक्ति पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के निर्णय करने में तभी प्रवृत्त होता है जब कि उसका कुछ प्रयोजन हो[३]।

दृष्टान्त

जिस विषय में लौकिक (साधारण) एवं परीक्षक (विद्वान्) दोनों प्रकार के व्यक्ति एकमत हों उसे दृष्टान्त कहा जाता है[४]। प्रायः दृष्टान्त प्रत्यक्षज्ञान का विषय होता है। भाष्यकार ने केवल प्रत्यक्ष पदार्थों को ही दृष्टान्त रूप में लेने की स्वीकृति दी है[५] किन्तु वार्तिककार इस विचार को उचित नहीं मानते। वे प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों के द्वारा ज्ञात विषयों को भी दृष्टान्त मानते हैं[६], क्योंकि ऐसा न मानने से एक आपत्ति उठ खड़ी होती है। न्यायसूत्रों में

१. 'न च सुखदुःखप्राप्तिपरिहारौ स्वरूपेण प्रवृत्तिनिमित्तगोचराविति तदुपायप्रवृत्त्यैव चेतनप्रवृत्तिगोचराविति दर्शयति'।

(तात्पर्यटीका—१।१।२४, पृष्ठ २६०)

२. न्यायवार्तिक—१।१।२४, पृष्ठ १०१।

३. न्यायवार्तिक—१।१।१, पृष्ठ १२।

४. 'लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः'

(न्यायसूत्र—१।१।२५)

५. 'अथ दृष्टान्तः प्रत्यक्षविषयोऽर्थः'। (न्यायभाष्य—१।१।१)

६. न्यायवार्तिक—१।१।१, पृष्ठ १५।

आत्मा बुद्धि आदि विभिन्न विषय दृष्टान्त रूप में लिये गये हैं। ये विषय अतीन्द्रिय हैं अर्थात् सूत्रकार के द्वारा इन्द्रियरूप में मान्य—चक्षु आदि का विषय नहीं हैं। अतएव केवल प्रत्यक्ष विषयों को ही दृष्टान्त मानने से सूत्रकार के वचनों में परस्पर विरोध मानना होगा।

वाचस्पति मिश्र ने भी उक्त विषय की पुष्टि की है। स्वर्ग, अपूर्व एवं देवता आदि आगम के ऐसे विषय पाये जाते हैं जो प्रत्यक्ष के विषय नहीं होते किन्तु फिर भी दृष्टान्तरूप में लिये जाते हैं। दूसरे, प्रत्यक्ष का प्रत्येक विषय दृष्टान्त की कोटि में नहीं आता क्योंकि दृष्टान्तरूप में न गृहीत होने वाला पदार्थ भी प्रत्यक्ष का विषय होता है[1]। आगम एवं अन्य प्रमाणों द्वारा ज्ञात विषयों को दृष्टान्त के अन्तर्गत मानलेने पर भी इन्होंने भाष्यकार के दृष्टान्तविषयक विवेचन में दोष नहीं माना है क्योंकि भाष्यकार ने दृष्टान्त को 'प्रत्यक्षविषयोऽर्थः' इसलिये कहा है कि प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत होने वाली वस्तु का साधारणजन के लिये अधिक प्रामाण्य होता है, अतः प्रत्यक्ष वस्तु को दृष्टान्त बनाने पर उसके द्वारा की जाने वाली वस्तुसिद्धि में अधिक प्रामाण्य स्फुट होता है।

वार्तिक में दृष्टान्तविषयक एक प्रश्न—जिसका उल्लेख भाष्य में नहीं है—उठाया गया है। दृष्टान्त का उपमान प्रमाण, अनुमान प्रमाण और उदाहरण से क्या भेद है[2] ? यदि दृष्टान्त के द्वारा दो पदार्थों की समानता दिखाई जाती हो तो वह उपमान प्रमाण से भिन्न न हो पायेगा अथवा क्या दृष्टान्त अनुमान प्रमाण ही है ? यदि दृष्टान्त को उदाहरण माना जाता तो उसका विवेचन 'अवयव' के ही अन्तर्गत होता किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। उसे सूत्रकार ने १६ पदार्थों में से एक स्वतंत्र स्थान दिया है, इसे कैसे संगत कहा जा सकता है ?

वस्तुतः दृष्टान्त उक्त तीनों से भिन्न हैं। उपमान एवं अनुमान प्रमाण के लक्षण और परीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि दृष्टान्त इनसे भिन्न है। दृष्टान्त उदाहरण से भी भिन्न है। इस विषय का स्पष्टीकरण तात्पर्यटीकाकार ने किया है। उदाहरण के लक्षण 'साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्' से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि किन्हीं निश्चित विशेषणों से युक्त दृष्टान्त ही उदाहरण हो सकता है, प्रत्येक दृष्टान्त नहीं[3] यदि उदाहरणगत 'साध्य-

---

१. तात्पर्यटीका—१।१।१, पृष्ठ ५२।

२. न्यायवार्तिक—१।१।२५, पृष्ठ १०३।

३. तात्पर्यटीका—१।१।३६, पृष्ठ २९५।
   न्यायवार्तिक—१।१।३६, पृष्ठ १३४।

साधर्म्यात्तद्धर्मभावी' अंश को छोड़कर केवल दृष्टान्त को उदाहरण माना जाये तो—

'शब्द नित्य है,
अमूर्त होने के कारण,
कर्म के समान', इस वाक्य में कर्म उदाहरण होने लगेगा जो कि अभीष्ट नही है। इस प्रकार दृष्टान्त उदाहरण से भिन्न सिद्ध होता है।

वार्तिककार ने दृष्टान्त को प्रत्यक्ष प्रमाण से भी भिन्न माना है क्योंकि दृष्टान्त प्रत्यक्ष-ज्ञान का विषय होता है किन्तु प्रत्यक्षप्रमाण प्रत्यक्षज्ञान का साधन होता है[1]। एक प्रत्यक्षज्ञान का विषय है और दूसरा साधन, इसलिए इन दोनों की परस्पर भिन्नता ही सिद्ध होती है।

दृष्टान्त के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए भाष्यकार ने उसे अनुमान का मूल माना है। अनुमान का प्राण उदाहरण होता है जो एक प्रकार का दृष्टान्त ही होता है। समुचित उदाहरण पाकर नास्तिक भी आस्तिक बन जाता है[2]। वार्तिककार और तात्पर्यटीकाकार दोनों में से किसी ने नहीं समझाया है कि भाष्यगत 'नास्तिक' शब्द का प्रयोग 'वेदनिन्दक' अथवा 'ईश्वर की सत्ता में अविश्वास रखने वाला' इनमें से किस अर्थ में किया गया है। भाष्यकार के अनुसार दृष्टान्त की दूसरी विशेषता यह है कि प्रतिपक्ष के दृष्टान्त की त्रुटि को देखकर उसके मत का खण्डन किया जा सकता है और स्वयं दृष्टान्त का प्रयोग करके अपने मत को न्यायसंगत सिद्ध किया जा सकता है।

तात्पर्यटीकाकार ने दृष्टान्त को शब्द प्रमाण का भी आधार माना है। पहिलेपहल सुने हुए शब्द का अर्थ दृष्टान्त से सम्बद्ध होकर ही स्पष्ट हो सकता है[3], अन्यथा नहीं।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दृष्टान्त के बिना अनुमान प्रमाण से पदार्थों का यथार्थज्ञान प्राप्त करना असंभव है तथा तात्पर्यटीकाकार के अनुसार शब्दप्रमाण का आधार भी दृष्टान्त ही है क्योंकि शब्द और अर्थ में होने वाले वाच्यवाचकभाव का ज्ञान हुए बिना श्रोता को वाक्य से वाक्यार्थ-ज्ञान नहीं होता और शब्द एवं अर्थ इन दोनों के बीच होने वाले वाच्यवाचक-भाव का निर्णय आवापोद्वाप (ग्रहणत्याग) अन्वयव्यतिरेक के आधार पर होने वाले अनुमान के बिना नहीं हो पाता और अनुमान दृष्टान्त के बिना संभव नहीं होता। इस प्रकार गंभीरता से विचार करने पर यह मानना आवश्यक

१. न्यायवार्तिक—१।१।२८, पृष्ठ १०४-१०५।
२. न्यायभाष्य—१।१।१। ३. न्यायभाष्य—१।१।१, पृष्ठ—५३।

हो जाता है कि शब्द का भी प्रामाण्य दृष्टान्त पर आधारित है। इस प्रकार दृष्टान्त प्रमा में सहायक सिद्ध होता है।

सिद्धान्त

किसी पदार्थ के बारे में सामान्य अथवा विशेष रूप से जो कुछ कहा जाये उसे मान लेने को सिद्धान्त कहते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि वार्तिककार यहाँ (न्यायवार्तिक-१.१.२६-२७ पृष्ठ २०३) अभ्युपगम अर्थात् स्वीकार को सिद्धान्त मानते हैं। सूत्रकार तथा भाष्यकार अभ्युपगम्यमान अर्थात् स्वीक्रियमाण अर्थ को सिद्धान्त मानते हैं। अग्रिम पंक्तियों में तदनुरूप व्याख्या कर लेनी चाहिए। चूंकि संसार के सभी व्यक्तियों की पदार्थ के स्वरूप की मान्यता एक जैसी नहीं होती इसलिए विभिन्न सिद्धान्तों का जन्म होता हैं। न्यायभाष्य और वार्तिक में गौतमसम्मत चार प्रकार के सिद्धान्तों का समर्थन एवं विवेचन किया गया है, यद्यपि भाष्य और वार्तिक के विवेचन में कहीं-कहीं विरोध दिखलाई पड़ता है। ये चार सिद्धान्त निम्नलिखित हैं[1]—

१—सर्वतन्त्र सिद्धान्त,
२—प्रतितन्त्र सिद्धान्त,
३—अधिकरण सिद्धान्त,
४—अभ्युपगम सिद्धान्त।

१-सर्वतन्त्र सिद्धान्त—जिस सिद्धान्त को सभी दार्शनिक एक स्वर से स्वीकार करते हैं, उसे सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहते हैं। भाष्यकार ने घ्राण आदि पाँच इन्द्रियों का विषय मानना, पृथ्वी आदि पाँच भूतों की मान्यता एवं प्रमाण द्वारा विषय के ग्रहण को सर्वतन्त्र सिद्धान्त माना है[2]। किंतु भाष्यकार का सर्वतन्त्रसिद्धान्त सम्बन्धी 'भूतपञ्चत्व' उदाहरण तर्कसंगत नहीं क्योंकि सभी दार्शनिक पांच महाभूतों की सत्ता नहीं स्वीकार करते। संभवतः इसीलिए वार्तिककार ने उदाहरण में परिवर्तन कर दिया है। उनका उदाहरण है 'प्रमेय के ज्ञान का साधन प्रमाण है[3]', इस सिद्धान्त के बारे में किसी दार्शनिक का मत भिन्न नहीं हो सकता।

वार्तिक में सर्वतन्त्रसिद्धान्तविषयक एक मौलिक समस्या को उठाकर उसका समाधान किया गया है। समस्या यह है कि सर्वतन्त्रसिद्धान्त और

---

१. न्यायसूत्र—१।१।२७।
२. न्यायभाष्य—१।१।२८।
३. 'यथा प्रमाणानि प्रमेयसाधनानि'(न्यायवार्तिक-१।१।२८ पृष्ठ १०४)

दृष्टान्त को सभी व्यक्ति मानते हैं, फिर इन दोनों में भेद क्या है ? क्या ये दोनों एक ही नहीं हैं[१] ? दृष्टान्त और सर्वतन्त्रसिद्धान्त में भेद है। कारण, दृष्टान्त का निश्चय वादी और प्रतिवादी को ही होता है क्योंकि इसका उपयोग पक्ष एवं प्रतिपक्ष द्वारा शब्दार्थ में होता है और सर्वतन्त्रसिद्धान्त का निश्चय सभी दार्शनिकों को हुआ रहता है। भेद का दूसरा कारण यह है कि दृष्टान्त के सहारे अनुमान और आगम प्रमाण द्वारा साध्य की सिद्धि की जाती है, किन्तु यह विशेषता सर्वतन्त्रसिद्धान्त में नहीं होती।

२—प्रतितन्त्र सिद्धान्त—जिस सिद्धान्त को अपना समानतंत्र मानता हो और परतन्त्र न मानता हो, प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहा जाता है[२]। एक दार्शनिक सम्प्रदाय की समानता रखने वाले दूसरे दार्शनिक सम्प्रदाय को समानतन्त्र कहते हैं जैसे न्यायदर्शन का समानतन्त्र वैशेषिक और सांख्य का योग। इसके विपरीत विरोधी दर्शन को प्रतितन्त्र कहा जाता है।

वार्तिककार ने उदाहरण द्वारा प्रतितन्त्र सिद्धान्त के स्वरूप को स्पष्ट किया है। वैशेषिक दर्शन इन्द्रियों को भूतजन्य मानता है किन्तु न्याय का परतन्त्र सांख्य इन्द्रियों को अभौतिक मानता है, अतएव 'इन्द्रियाँ भौतिक' हैं, यह न्याय का मान्य सिद्धान्त सांख्य आदि की दृष्टि में प्रतितन्त्र सिद्धान्त हुआ[३]। इस सिद्धान्त के विषय में भाष्य-वार्तिक आदि में अन्य कोई उल्लेखनीय विचार नहीं हुआ है।

३–अधिकरण सिद्धान्त–जिस सिद्धान्त के सिद्ध होने पर ही अन्य प्रस्तुत सिद्धान्त की सिद्धि हो उसे अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं[४] जैसे न्याय का यह मत कि 'किसी विषय के देखने और छूने में कर्ता एक ही होता है अतएव आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है' इस प्रस्तुत निर्णयस्थल में इंद्रियनानात्व अधिकरण सिद्धान्त होता है। इसी प्रकार 'प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय को ही ग्रहण करती है', 'विषयग्रहण के प्रति इन्द्रियाँ करण होती हैं', 'गुणी द्रव्य नियमतः

१. न्यायवार्तिक—१।१।२८, पृष्ठ—१०४।
२. 'समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितंत्रसिद्धान्तः'।
(न्यायसूत्र—१।१।२९)
३. 'यथा भौतिकानीन्द्रियाणि योगानामभौतिकानीति'
(न्यायवार्तिक—१।१।२९, पृष्ठ १०५)
४. न्यायभाष्य–१।१।३०।

स्वगत गुणों से भिन्न ही होता है', 'आत्मा का विषय इन्द्रियों के विषयों के समान सीमित नहीं होता है' इत्यादि स्वीकृतियाँ अधिकरण सिद्धान्त-रूप होती हैं।

४—अभ्युपगम सिद्धान्त–इस सिद्धान्त के स्वरूप में भाष्य और वार्तिक में मतभेद है। भाष्यकार का मत है कि अपना बुद्धिकौशल प्रदर्शित करने के लिए प्रतिवादी के जिस सिद्धान्त को थोड़ी देर के लिए मान लिया जाता है उसे अभ्युपगम सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त को खण्डन करने के लिए ही स्वीकार किया जाता है। न्याय शब्द को द्रव्य नहीं मानता है किन्तु 'शब्द नित्य है अथवा अनित्य है' इस विषय की आलोचना करने के लिए खलतोष-न्यायेन यदि फिलहाल 'शब्द द्रव्य रहे' परंतु 'वह नित्य है या अनित्य'? इस प्रकार शब्द की द्रव्यता कुछ देर के लिए अर्थात् जबतक नित्यानित्य का विचार नहीं हो जाता हैं तब तक के लिए मान ली जाती है तो उस मान्यता को अभ्युपगम सिद्धान्त कहा जाता है।

वार्तिककार का मत इससे भिन्न है। उनका कथन है कि जिस सिद्धान्त का उल्लेख सूत्रों में न पाया जाता हो किन्तु शास्त्र में उसकी मान्यता स्वीकृत अथवा अपेक्षित हो तो उसे अभ्युपगम सिद्धान्त माना जायेगा। नैयायिकों का यह सिद्धान्त कि 'मन इन्द्रिय है' अभ्युपगम सिद्धान्त के अन्तर्गत आता है क्योंकि सूत्रों में जहाँ इन्द्रियों के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है मन को स्पष्टतः इन्द्रिय नहीं कहा गया है, तो भी नैयायिक मन को आन्तर इन्द्रिय मानते हैं। इसी प्रकार न्याय और वैशेषिक दर्शन में श्रोत्र को आकाश स्वरूप माना जाता है किन्तु सूत्र कहीं भी इस मान्यता का उल्लेख नहीं करते। इस प्रकार प्रकृत सिद्धान्त अभ्युपगम सिद्धान्त हुए[1]।

वार्तिककार ने भाष्यकार से अपनी असहमति के कारण का उल्लेख किया है—यदि प्रतिपक्षी बुद्धिहीन है तो उसके मत को मानकर खण्डन करना किसी बुद्धिमान् का लक्षण नहीं है और यदि प्रतिपक्षी ही बुद्धिमान् है तो उसके मत का खण्डन संभव नहीं है[2]। यहाँ वार्तिककार की युक्ति संतोषजनक नहीं है।

---

१. 'योऽथसूत्रेषु······श्रोत्रमाकाशमिति'
(न्यायवार्तिक—१।१।३१ पृष्ठ–१०५)
'एवं स्वमतेन सूत्रं व्याख्याय भाष्यकारव्याख्यानं दूषयति'
(तात्पर्यटीका—१।१।३१ पृष्ठ–२६४)

२. न्यायवार्तिक—१।१।३२ पृष्ठ–१०५–१०६

सूत्रों के देखने से भाष्यकार का मत अधिक सूत्रसंगत प्रतीत होता है। वार्तिककार ने जानबूझकर प्रकृत सिद्धान्त का विवेचन अपने अनुकूल किया है, क्योंकि इस विवेचन से सूत्रों में अवर्णित अन्य विषयों का शास्त्र में समावेश सरलता से हो सकेगा और अभ्युपगम सिद्धान्त की आड़ में स्वतंत्र चिन्तन पर सूत्रकार की मुहर लगी मान ली जायेगी। इस प्रकार मौलिक चिन्तन के 'अशास्त्रीय तत्त्व' की कोटि में आने का भय न रहेगा।

वार्तिक में सिद्धान्त-सम्बन्धी बौद्धों की आलोचनाओं का भी उत्तर मिलता है। बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्त और सर्वतन्त्र सिद्धान्त को पक्ष का पर्याय मानते हैं और अर्थापत्ति को अधिकरण सिद्धान्त का पर्याय। किन्तु जैसा कि उक्त विषयों के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है सिद्धान्त एवं उनके अवान्तर विशेष किसी दूसरे के पर्याय नहीं हो सकते[१]।

सिद्धान्त शास्त्रार्थ एवं वाद आदि कथाओं की प्रेरणा का मूल है। यदि सिद्धान्तों में परस्पर विरोध न हो तो वाद आदि कथाएं, जिनसे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है, भी न सम्पन्न हो सकें। इस प्रकार सिद्धान्त की तत्त्वज्ञान में अत्यधिक अपेक्षा सिद्ध होती है[२]।

निर्णय

किसी विषय को लेकर पक्ष और प्रतिपक्ष के परस्पर विरुद्ध कथन को सुनने से संदेह उत्पन्न होता है। संदेह के पश्चात् विचार और विचार करने के पश्चात् दोनों मतों में से एक प्रामाणिक (सत्य) सिद्ध होता है और दूसरा अप्रामाणिक (असत्य)। इसी को निर्णय कहते हैं। चूंकि विभिन्न प्रमाणों द्वारा विवादास्पद विषय का निर्णय किया जाता है इसीलिए भाष्यकार ने निर्णय को 'प्रमाणों का फल' कहा है[3]।

किन्तु वार्तिककार भाष्यकार के इस कथन से पूर्णतया सहमत नहीं है, क्योंकि निर्णय प्रत्येक स्थल पर प्रमाण का फल नहीं हुआ करता। जहाँ निर्णय के द्वारा किसी पदार्थ के स्वरूप का विवेचन होता है वहाँ निर्णय को प्रमाण का फल नहीं अपितु प्रमाण ही मानना चाहिए, इससे भिन्न स्थितियों में उसे प्रमाण का फल मानना उचित होगा।[४] वार्तिककार ने सर्वसम्मति से मान्य होने के कारण ही निर्णय को प्रमाण माना है न कि चार प्रमाणों की

१. न्यायवार्तिक—१।१।४१ पृष्ठ—१०६—१०७
२. न्यायवार्तिक—१।१।१ पृष्ठ—१५, ३. न्यायभाष्य—१।१।१,
४. न्यायवार्तिक—पृष्ठ १८।

भाँति एक पृथक् प्रमाण के रूप में। निर्णय को अनुमान प्रमाण ही के अन्तर्गत मानने के मत का खण्डन किया गया है। वार्तिककार ने युक्ति दी है कि अनुमान में व्याप्ति का स्मरण आवश्यक होता है। किन्तु सर्वत्र निर्णय में व्याप्तिज्ञान अपेक्षित नहीं रहता है[1]। दूसरे, जहाँ अनुमान से निर्णय होता है वहाँ अनुमान कारण होता है और निर्णय कार्य। फिर निर्णय का क्षेत्र स्वविषय होता है और अनुमान का स्वविषय तथा अन्य भी, धूमदर्शन-स्थल में 'धूम की सत्ता' का निश्चय निर्णय होता है और 'जिससे अनुमिति की जाये वह अनुमान होता है' अनुमान शब्द की इस व्याख्या के अनुसार तो वह धूम-दर्शन अनुमान होता है क्योंकि उससे अग्नि की अनुमिति होती है और 'अनुमितिः अनुमानम्' अनुमान की इस व्याख्या के अनुसार 'अग्नि की अनुमिति' अनुमान होती है। 'धूमदर्शन' और अग्नि का ज्ञान करना भी अनुमान होगा।

वार्तिककार यहाँ निर्णय को प्रमाण मानकर भी उसे न तो किसी एक प्रमाण में अन्तर्भूत करते हैं और न अतिरिक्त प्रमाण ही मानते हैं, अतएव वार्तिककार का प्रकृत विवेचन इस समस्या को हल नहीं कर पाता कि प्रमाण-रूप से वार्तिककार के द्वारा मान्यता प्राप्त निर्णय मान्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अन्दर ही किसी में अन्तर्भूत होता है या वह स्वीकृत ४ प्रमाणों से अतिरिक्त प्रमाण होता है।

यद्यपि निर्णय होने के पहिले पक्ष और प्रतिपक्ष प्रायः विद्यमान रहते हैं किन्तु भाष्यकार इसे प्रत्येक स्थल पर आवश्यक नहीं समझते, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमा भी निर्णय के अन्तर्गत आ जाती है किन्तु यहाँ पक्ष और प्रतिपक्ष का अभाव रहता है[2]।

इसी प्रकार भाष्यकार और वार्तिककार ने निर्णय के सन्देहपूर्वक होने में वाद कथा को अपवाद माना है। वाद कथा में गुरु एवं शिष्य के लिये शास्त्र-सम्मत सिद्धान्त पहिले से ही निश्चित रहा करते हैं[3]। यहाँ निर्णय होता है किन्तु सन्देहपूर्वक नहीं। वाचस्पति मिश्र वाद के अतिरिक्त आगम द्वारा प्रतिपादित ज्योतिष्टोम आदि क्रियाओं में तथा जल्प और वितण्डा में भी सन्देह का अभाव मानते हैं क्योंकि इन विषयों से सम्बद्ध व्यक्तियों का मत पहिले से ही निश्चित रहा करता है[4]।

---

१. न्याय-वार्तिक—१।१।४१ पृष्ठ १४५।

२. न्यायभाष्य—१।१।४१। ३. न्यायवार्तिक—१।१।४१ पृष्ठ १४३।

४. तात्पर्यटीका—१।१।४१, पृष्ठ ३१०।

निर्णयसम्बन्धी प्रकृत विवेचन से यही सिद्ध होता है कि विवादास्पद विषयों का पर्यवसित ज्ञान भी निर्णय होता है ।

वाद

किसी विषय के स्वरूप के निर्णय के लिये दो पक्षों के बीच प्रश्नोत्तररूप में जो बातचीत होती है उसे कथा कहा जाता है । कथायें तीन प्रकार की होती हैं—वाद, जल्प और वितण्डा । तत्त्वज्ञान मात्र के लिये होनेवाली कथा वाद होती है जो कि कहीं तो गुरु एवं शिष्य के बीच होनेवाली होती है और कहीं रागद्वेषरहित दो व्यक्तियों के बीच होनेवाली होती है । येन-केन प्रकारेण स्वमत की स्थापना तथा परमत का खण्डन करने के लिये जो शास्त्रार्थ होता है उसे जल्प कहा जाता है और जो केवल परमत-खण्डन के लिये शास्त्रार्थ होता है उसे वितण्डा कहा जाता है ।

ऐसी कथा जिसमें पाँचों अवयवों का प्रयोग किया गया हो, जो सिद्धान्त के विरुद्ध न हो, जिसमें पक्ष की प्रमाण और तर्क से सिद्धि की गई हो तथा प्रतिपक्ष का प्रमाण और तर्क से खण्डन किया गया हो, वाद कहलाती है[1] ।

भाष्यकार ने वाद के अन्तर्गत आनेवाले पक्ष और प्रतिपक्ष की दो विशेषताएँ मानी हैं । ये विशेषताएँ इस प्रकार हैं[2]—

(१) पक्ष और प्रतिपक्ष का अधिकरण एक ही होता है ।

(२) दोनों परस्पर विरुद्ध होते हैं ।

१—विरुद्ध होने पर भी पक्ष और प्रतिपक्ष का अधिकरण एक ही होना चाहिए । 'आत्मा की सत्ता है' और 'आत्मा की सत्ता नहीं है' यहाँ सत्त्व और असत्त्व इन दो विरुद्ध धर्मों का एक आत्मा ही अधिकरण है अर्थात् एक आत्मा के ही सम्बन्ध में उक्त परस्पर विरुद्ध धर्मों का प्रख्यापन किया गया है ।

यदि दोनों धर्म विरुद्ध हों किन्तु अधिकरण एक न हो तो इस स्थिति में इन्हें पक्ष और प्रतिपक्ष नहीं माना जायेगा । 'आत्मा नित्य है' और 'बुद्धि अनित्य है' यहाँ नित्यत्व और अनित्यत्व ये दोनों धर्म वास्तव में परस्पर विरुद्ध तो हैं किन्तु इन दोनों धर्मों का अधिकरण एकनिष्ठ नहीं लिया गया है क्योंकि नित्यत्व धर्म का अधिकरण आत्मा है और अनित्यत्व धर्म का बुद्धि । अतएव यहाँ पक्ष और प्रतिपक्ष का अभाव हुआ[3] ।

---

१. न्यायसूत्र—१।२।१ । २. न्यायभाष्य—१।२।१ ।

३. न्यायभाष्य—१।२।१ ।

२—दोनों धर्मों का एक अधिकरण होने पर भी जब तक उस अधिकरण में अस्तित्वशीलरूप में कथित होनेवाले धर्मों में परस्पर की प्रतीति नहीं होती है तो वहाँ भी पक्ष एवं प्रतिपक्ष नहीं माना जाता है। भाष्य में इस विषय का स्पष्टीकरण न देखकर वार्तिककार ने इसे उदाहरण देकर स्पष्ट किया है—'द्रव्य क्रियावान् होता है और 'द्रव्य गुणवान् होता है' इन दो कथनों को पक्ष एवं प्रतिपक्ष नहीं कहा जा सकता, यद्यपि दोनों में अधिकरणरूप में कथित द्रव्य ही है। कारण, 'क्रियावान् होना' और 'गुणवान् होना' परस्पर विरुद्ध नहीं है, अतएव यहाँ भी पक्ष और प्रतिपक्ष के होने की संभावना नहीं है[1]।

भाष्य के विवेचन को अपूर्ण समझकर वार्तिककार ने भाष्यप्रतिपादित उक्त दो विशेषताओं के अतिरिक्त दो और विशेषताओं को माना है, जिनके स्वीकार किये बिना पक्ष और प्रतिपक्ष का स्वरूप निश्चित नहीं हो सकता। ये दो विशेषताएं निम्नलिखित हैं[2]—

१—पक्ष और प्रतिपक्ष का एक ही समय होना।

२—दोनों का निश्चित न होना।

१—अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त पक्ष और प्रतिपक्ष को समकालीन भी होना चाहिए। समकालीन न होने पर उन्हें पक्ष और प्रतिपक्ष नहीं माना जा सकता, जैसे यदि एक पक्ष किसी समय 'द्रव्य क्रियावान् होता है' ऐसा माने और दूसरा दूसरे समय 'द्रव्य निष्क्रिय होता है' माने तो दोनों के अधिकरण में एकता की प्रतीति और धर्मों में विरोध की प्रतीति होने पर भी पक्ष और प्रतिपक्ष नहीं माने जा सकते क्योंकि किसी द्रव्य में एक समय क्रिया होती है और दूसरे समय नहीं भी होती है। यदि एक ही काल में किसी द्रव्य को क्रियाशील और निष्क्रिय माना जाये तभी पक्ष और प्रतिपक्ष हो सकते हैं[3]।

२—पक्ष या प्रतिपक्ष में से किसी एक सिद्धान्त के निर्णीत हो जाते ही वाद कथा का अन्त हो जाता है क्योंकि जब तक सिद्धान्त अनिश्चित होते हैं तभी तक उनको यथासाध्य निश्चित करने के लिये वाद कथा चलती रहती है।

भाष्यकार ने वादकथा में भाग लेने वाले व्यक्तियों का उदाहरण नहीं दिया है, इसका निर्देश वार्तिककार ने किया है। गुरु और शिष्य के बीच किसी

१. न्यायवार्तिक—१।२।१, पृष्ठ १४६। २. न्यायवार्तिक—१।२।१, पृष्ठ १४६।
३. न्यायवार्तिक—१।२।१, पृष्ठ १४६।

विषय की निर्णायक कथा वाद है[१]। शिष्य गुरु से तत्त्वज्ञान की इच्छा से प्रश्न करता है और उसका शास्त्रीय उत्तर पाता है। शिष्य और गुरु के बीच प्रतिद्वन्द्विता नहीं होती। वार्तिककार ने वादकथा से शिष्य को प्राप्त होने वाले तीन फलों का निर्देश किया है। तात्पर्यटीकाकार के मत से ये तीन फल 'अज्ञाततत्त्व का ज्ञान', 'संशय की निवृत्ति' और 'शिष्य के द्वारा समझे गये अर्थ के संबंध में गुरू की स्वीकृति' है[२]।

भाष्य में किसी दूसरे दार्शनिक के वादसंबंधी मत की आलोचना नहीं पाई जाती, किंतु वार्तिक में हमें प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु के वाद लक्षण का खण्डन मिलता है[३]। वसुबन्धु के मत से जो कथा स्वपक्ष की सिद्धि तथा परपक्ष के खण्डन करने के लिए होती है, वाद कही जाती है।

वसुबन्धु के वाद का लक्षण यह है—'स्वपरपक्षयोः सिद्ध्यसिद्ध्यर्थं वचनं वादः[४]'। वार्तिककार ने उक्त वाद के लक्षण में आये हुए प्रत्येक पद के सभी संभावित अर्थों की आलोचना करके लक्षण को अशुद्ध सिद्ध किया है। लक्षण-गत 'स्वपरपक्षयोः' पद को लेकर ही वैकल्पिकरूप में उपस्थापित ६ अर्थों की आलोचना की गई है। विकल्प के ६ रूप इस प्रकार हैं—

१—क्या 'स्व' और 'पर' शब्दों का अर्थ क्रमशः ग्रहण और त्याग है?

२—अथवा 'स्व' और 'पर' शब्दों का अर्थ साधनीय और दूषणीय है?

३—अथवा 'स्व' और 'पर' शब्द उत्तर एवं पूर्वपक्ष के पदार्थों के व्यवस्थापक हैं?

४—अथवा 'स्व' और 'पर' शब्द पक्ष एवं प्रतिपक्ष के सूचक हैं?

५—अथवा 'स्व' और 'पर' शब्द प्रथम और द्वितीय पक्ष की ओर संकेत करते हैं?

और ६—अथवा 'स्व' और 'पर' दोनों शब्द पक्ष-रूप एक विशेष्य के विशेषण हैं?

इन ६ विकल्पात्मक अर्थों में से कोई भी अर्थ ऐसा नहीं है जो वाद के लक्षण के लिए अनुकूल माना जा सके। उदाहरण के लिए पहिला विकल्प लिया जा सकता है। 'स्व' और 'पर' शब्दों का अर्थ ग्रहण और त्याग नहीं

१. न्यायवार्तिक—१।२।१ पृष्ठ १४९। २. तात्पर्यटीका—१।२।१ पृष्ठ ३१६।

३. 'वासुबन्धवं लक्षणं दूषयितुमुपन्यस्यति'

(तात्पर्यटीका—१।२।१ पृष्ठ ३१७)।

४. न्यायवार्तिक—१।२।१ पृष्ठ १५०, १।१।३४ पृष्ठ १२१।

लिया जा सकता क्योंकि ग्रहण शब्द से आकांक्षा उत्पन्न होती है कि किसका ग्रहण ? यह आकांक्षा तब तक शान्त नहीं होती जब तक कोई ऐसा समुचित पदार्थ न बताया जाये जिसका ग्रहण हो सके। बौद्ध यह भी कह सकते हैं कि जो स्वीकार कर लिया जाये वही गृहीत मान लिया जाये अर्थात् जिस विषय में ममता की भावना उत्पन्न हो वही 'स्व' अथवा 'गृहीत' माना जाना चाहिए, किन्तु उक्त कथन समीचीन नहीं। कारण, जो भी पदार्थ स्वकीय होता है उससे कुछ उपकार होता है किन्तु यहाँ किसी एक पक्ष को स्वकीय पक्ष मानकर शास्त्रकार का क्या उपकार हो सकता है ? शास्त्र में तो सभी पक्षों का सन्निवेश होता है। सभी पक्ष मिलकर शास्त्र को पूर्णता प्रदान करते हैं। शास्त्रकार के लिए जितना महत्त्वपूर्ण एक पदार्थ है उतना ही दूसरा। इस प्रकार उक्त 'स्व' और 'पर' शब्द के प्रकृत अर्थ मान्य नहीं हो सकते। इसी प्रकार वार्तिककार ने अन्य विकल्पों एवं पदों के अर्थों का भी ज़ोरदार खण्डन किया है।

वार्तिककार ने पक्ष और प्रतिपक्ष-संबंधी भाष्यकार के अपूर्ण विवेचन को पूरा किया है। इसके अतिरिक्त बौद्धों के वाद-विषयक मत की विस्तारपूर्वक आलोचना की है।

जल्प

भाष्य के विवेचन से ज्ञात होता है कि जल्प में छल, जाति और निग्रह-स्थान का प्रयोग करके अपने सिद्धान्त की पुष्टि और प्रतिपक्षी के सिद्धान्त का खण्डन किया जाता है, जब कि वाद में छल, जाति और निग्रहस्थान का प्रयोग नहीं किया जाता[1]। वाद के लक्षण के सभी अङ्ग जल्प में विद्यमान रहते हैं और साथ ही साथ छल, जाति और निग्रहस्थान का समावेश रहता है।

भाष्य में इस समस्या पर विचार नहीं किया गया है कि वाद की सभी विशेषताएँ जल्प में ले ली जानी चाहिएँ या नहीं। वार्तिककार ने वाद की सभी विशेषताएं जल्प में नहीं मानीं हैं[2]। वाद की केवल वही विशेषताएं जल्प में ली जानी चाहिएं जो जल्प के लिए उपयुक्त हो सकें, अन्यथा जल्प की

---

१. न्यायभाष्य—१।२।२।

तथा

'यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानोपालम्भो जल्पः'

(न्यायसूत्र—१।२।२)

२. न्यायवार्तिक—१।२.२ पृष्ठ १६१।

विशेषताओं में परस्पर विरोध होगा। वाद में पंचावयवों का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि यहाँ हेत्वाभास आदि की संभावना न रह जाये किन्तु जल्प में छल जाति जैसी असत् वस्तुओं के उपयोग का ही महत्त्व है। अतएव ये दो विरोधी विशेषताएं किसी एक ही कथा के अंग नहीं हो सकतीं। इसलिए जल्प के लिए उपयुक्त विशेषताओं को वाद से ले लिया जायेगा, औरों को छोड़ दिया जायेगा। जिस प्रकार एक सूत्र को दूसरे सूत्र में अनुवृत्ति के द्वारा उतना ही अंश मिलता है जितना उसके लिए आवश्यक होता है, वही स्थिति यहाँ भी है। इस स्थल पर वार्तिककार ने दो वैशेषिक सूत्रों को उद्धृत करके इस विषय का स्पष्टीकरण किया है।

भाष्यकार का मत है कि जल्प में छल, जाति और निग्रहस्थान का प्रमाणों के अंगरूप में उपयोग करके अपने मत की रक्षा विरोधी आलोचनाओं से की जाती है और स्वतंत्ररूप से इनका प्रयोग करके विपक्षी के सिद्धान्त का खण्डन किया जाता है[१]। किन्तु वार्तिककार का मत इससे भिन्न है। छल आदि सत्पदार्थ नहीं होते इसलिए इन्हें प्रमाण अथवा युक्तियों के अन्तर्गत नहीं माना जाता है। प्रमाण एवं युक्तियों के द्वारा ही किसी सिद्धान्त की पुष्टि या खण्डन हो सकता है। इसलिए न तो छल आदि अन्य प्रमाणों के अंग बनकर किसी सिद्धान्त को सिद्ध करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं और न तो स्वतंत्र-रूप से किसी सिद्धान्त का खण्डन करने में ही सहायक हो सकते हैं[२]।

वार्तिककार ने जल्प में छल, जाति और निग्रहस्थान के प्रयोग का प्रयोजन किसी प्रकार विजय प्राप्त करना माना है। प्रतिपक्षी की प्रबल युक्तियों के सामने अपनी पराजय होते देख छल आदि का प्रयोग किया जाता है ताकि प्रतिपक्षी घबराकर परास्त हो जाये[३]। तात्पर्यटीकाकार वार्तिककार के इस मत से पूर्ण सहमत नहीं हैं। जल्प में छल, जाति और निग्रहस्थान के प्रयोग का प्रयोजन न तो विजय प्राप्त करना है और न किसी प्रकार का लाभ अथवा सम्मान ही। इनके प्रयोग का प्रयोजन शास्त्र की रक्षा करना है[४]। शास्त्रकार झूठे लाभ, सम्मान और विजय पाने के लिए छल आदि के प्रयोग की अनुमति नहीं दे सकते। किन्तु शास्त्र की रक्षा करने में छल आदि का उपयोग बुरा नहीं है।

---

१. न्यायभाष्य—१।२।२।

२. न्यायवार्तिक—१।२।२ पृष्ठ १६१-१६२।

३. न्यायवार्तिक—१।२।२ पृष्ठ १६२।

४. तात्पर्यटीका—४।२।५१ पृष्ठ ६६९।

सिद्धान्त की रक्षा करने के लिए सूत्रकार ने भी जल्प, वितण्डा जैसी अनुचित कथाओं की अनुमति दी हैं। पशुओं से रक्षा करने के लिए खेत के चारों ओर कांटों को लगाया जाता है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा का उपयोग करना चाहिए[1]। इससे सिद्ध होता है कि जल्प का मुख्य प्रयोजन तत्त्व ज्ञान की रक्षा करना है।

वितण्डा

वितण्डा एक प्रकार की जल्पकथा ही है जिसमें प्रतिवादी अपने पक्ष की स्थापना नहीं करता है अपितु वादी के पक्ष का खण्डन मात्र करता है[2]।

वार्तिककार को भाष्यकार का यह मत कि वैतण्डिक अपने मत की स्थापना नहीं करता मान्य है[3]। वार्तिककार वितण्डा में दोनों पक्षों की स्थापना के अभाव को नहीं स्वीकार करते। वार्तिककार के इस मत का स्पष्टीकरण तात्पर्यटीकाकार ने किया है–वितण्डा को ऐसी कथा नहीं समझना चाहिए जिसमें पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों ही एक दूसरे के मत का खण्डन करते हों और अपने अपने मत की स्थापना न करते हों अर्थात् कोई एक भी अपने मत की स्थापना न करता हो, क्योंकि ऐसी स्थिति में दोनों एक दूसरे के आश्रित हो जायेंगे[4]। जब दोनों में से किसी एक पक्ष के मत की स्थापना ही नहीं होगी तब खण्डन किसका किया जायेगा? अतएव वितण्डा उस कथा को मानना चाहिए जिसमें पहिले एक पक्ष की स्थापना की जाये तदनन्तर प्रतिपक्षी उसका केवल खण्डन ही करे, किन्तु अपने मत की स्थापना कभी न करे।

भाष्यकार ने इस मान्यता का, कि वैतण्डिक का कोई अपना पक्ष ही नहीं होता है, खण्डन किया है[5]। यद्यपि वैतण्डिक अपने मत की स्थापना नहीं करता किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उसका अपना कोई पक्ष ही नहीं होता। वैतण्डिक प्रतिपक्ष का खण्डन करता है अतएव प्रतिपक्ष का विरोधी पक्ष ही वैतण्डिक का अपना पक्ष होता है, यद्यपि वह स्वयं उसका स्पष्ट शब्दों में अपने पक्ष के रूप में निर्देश नहीं करता। वार्तिककार ने भाष्यकार के

---

१. न्यायसूत्र—४।२।५० ।

२. 'स प्रतिपक्षहीनो वितण्डा'।

(न्यायसूत्र—१।२।३)

३. न्यायवार्तिक—१।२।३ पृष्ठ १६२-६३ ।

४. तात्पर्यटीका—१।२।३ पृष्ठ ३२९ ।

५. न्यायभाष्य—१।२।३ ।

मत का ही समर्थन किया है[१]। यदि वैतण्डिक किसी पक्ष अथवा सिद्धान्त को न अपनायेगा तो उसे पागल ही माना जायेगा। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन सबों का अपलाप वैतण्डिक कभी नहीं कर सकता। इससे यही सिद्ध होता है कि वैतण्डिक अपने पक्ष की स्थापना नहीं करता, यद्यपि पक्ष की मान्यता उसे स्वीकार होती है।

वितण्डा का प्रयोजन विजय प्राप्त करना होता है। इस विजय का प्रयोजन तत्त्वज्ञान की रक्षा करना होता है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान में वितण्डा की भी उपादेयता सिद्ध होती है।

छल

सूत्रकार वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध अर्थ की कल्पना करके किये जाने वाले वचनविघात को छल मानते हैं[२]।

भाष्यकार छलसामान्य का स्वरूप नहीं बतलाते,[३]। उन्होंने छल के प्रभेदों का ही विवेचन किया है। वार्तिककार ने छलसामान्य पर भी प्रकाश डाला है। सामान्य शब्द के अनेक विशेष अर्थ हुआ करते हैं। वक्ता सामान्य शब्द का प्रयोग किसी एक विशेष अर्थ को दृष्टि में रखकर ही करता है। चूँकि एक सामान्य शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, छली वक्ता के अभिप्रेत अर्थविशेष को छोड़कर मनमाना अर्थ लेकर वक्ता के कथन को अनुपयुक्त सिद्ध करने का प्रयास करता है[४]। छलसामान्य के विवेचन में तात्पर्यटीकाकार ने कोई उल्लेखनीय विचार नहीं प्रस्तुत किये[५]।

छल के निम्नलिखित ३ प्रभेद हैं। इनका उल्लेख सूत्रों में मिलता है—

१—वाक्छल

२—सामान्य छल

और ३—उपचार छल

वाक्छल—वक्ता प्रायः अनेकार्थवाची शब्दों का प्रयोग करता है किन्तु एक ही साथ एक शब्द के अनेक अर्थ व्यवहार में नहीं आते। इसलिये

१. न्यायवार्तिक—१।२।३, पृष्ठ १६३।

२. न्यायसूत्र—१।२।१०।

३. न्यायभाष्य—१।२।१०।

४. न्यायवार्तिक—१।२।१०, पृष्ठ १७६।

५. तात्पर्यटीका—१।२।१०, पृष्ठ ३४९।

अनेकार्थवाची शब्दों के प्रयोग में वक्ता को एक विशेष अर्थ ही अभिप्रेत रहता है न कि सभी अर्थों में से कोई एक। वक्ता के अभीप्सित अर्थ को छोड़कर अनभिप्रेत अर्थ को लेकर उनके कथन को अप्रामाणिक सिद्ध करना वाक्छल माना जाता है। भाष्यकार ने इसका उदाहरण 'नवकम्बलकोऽयं माणवकः' दिया है। किसी व्यक्ति के पास एक नया कम्बल है जिसे देखकर वक्ता उस व्यक्ति के लिये 'नवकम्बलक' शब्द का प्रयोग करता है। छली 'नव' शब्द का अर्थ नवीन' न लेकर 'नौ' (संख्या में नौ) लेता है। फिर वक्ता से पूछता है कि उसके पास एक ही कम्बल है नौ कहाँ हैं ? भाष्यकार के मत से वाक्छल का यही स्वरूप है[1] ।

वार्तिककार के अनुसार वाक्छल का सम्बन्ध पद और वाक्यगत छल से है। पद और वाक्य का प्रयोग सामान्य—अनेकार्थक–होता है। उदाहरण के लिये 'नवकम्बलकोऽयं माणवकः' एक सामान्य वाक्य है। वाक्यगत 'नव-कम्बलकः' पद का प्रयोग उस व्यक्ति के लिये भी हो सकता है जिसके पास संख्या में नौ कम्बल हों और उस व्यक्ति के लिये भी जिसके पास एक नया कम्बल हो, क्योंकि 'नव' एक सामान्य शब्द है जिसके दोनों अर्थ होते हैं। अतएव 'नवकम्बलक' शब्द के प्रयोग से दोनों अर्थों का समझा जाना सम्भव ही नहीं अपितु आवश्यक या स्वाभाविक है[2] । छल एवं अछल दोनों अवस्थाओं में अर्थ का निमित्त वाक् ही होती है, इसलिये तात्पर्यटीकाकार प्रकृत छल को वाक्छल मानते हैं[3] ।

वार्तिककार ने प्रकृत छल के दोष का निरूपण किया है। छल में शब्द का अर्थ प्रकरण-संगत नहीं होता जब कि शब्द के अर्थ का निर्णायक प्रकरण ही होता है। प्रकरण के द्वारा माणवक के पास एक नया कम्बल ही ठहरता है, फिर यह आपत्ति करना कि उसके पास एक नया कम्बल है, संख्या में नौ कहाँ ? उचित नहीं प्रतीत होता[4] । भाष्यकार ने भी शब्द के अर्थ में प्रकरण को प्रमाण माना है[5] ।

'अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्'[6] इस वाक्छल के लक्षणख्यापक सूत्र में प्रयुक्त 'अर्थे' पद के महत्त्व पर वार्तिककार ने प्रकाश

---

१. न्यायसूत्र १।२।१२। २. न्यायवार्तिक—१।२।१२, पृष्ठ १७७।
३. तात्पर्यटीका—१।२।१२, पृष्ठ ३४९-५०।
४. न्यायवार्तिक—१।२।१२, पृष्ठ १७७।
५. न्यायभाष्य—१।२।१२। ६. न्यायसूत्र—१।२।१२।

डाला है[१]। उनका कथन है कि छली व्यक्ति 'अर्थ' के संबंध में ही छल करता है, अर्थान्तर की कल्पना करके शब्द के सम्बन्ध में नहीं। कारण, छली व्यक्ति छल के द्वारा वक्ता के वचन का निषेध उसके वचन को सुनकर ही करता है और श्रूयमाण वक्ता का वह वचन ही वहाँ होता है साधारण शब्द। जब कि छल करने वाले व्यक्ति ने उस वचन को पहिले ही सुन लिया है तो वह शब्द तो पहिले ही हो चुका है अब उसका प्रतिषेध कियाही कैसे जा सकता है। और यदि यह कहा जाये कि छली ने पहिले उस वचन को सुना ही नहीं तो उसका निषेध ही नहीं हो सकता है। अतएव यह मानना होगा कि छली के द्वारा किया जाने वाला निषेध शब्द का नहीं, अर्थ का ही होता है। अतएव यह छल अर्थ से सम्बन्ध रखता है, शब्द से नहीं। इसी वस्तुस्थिति को समझाने के लिये उक्त सूत्र में सूत्रकार ने 'अर्थे' शब्द का प्रयोग किया है।

वाक्छल के प्रभेद—वार्तिककार ने वाक्छल के २ प्रभेद माने हैं[२]—

१—वाक्यविषयक
२—पदविषयक

वाक्यविषयक छल का उदाहरण 'नव'कम्बलकोऽयं माणवकः' है। पद-विषयक छल का उदाहरण 'अश्व' है। 'अश्व' जब नामपद होता है तब इसका अर्थ घोड़ा होता है किन्तु जब क्रियापद होता है तब इसका अर्थ 'तुमने उन्नति की' होता है।

सामान्य छल—किसी कथन के विपरीत अर्थ के अतिरिक्त अतिसामान्य अर्थ को लेकर असम्भव बतलाना सामान्य छल माना जाता है[३]। भाष्य वार्तिक और तात्पर्यटीका में सामान्य छल का एक ही उदाहरण मिलता है। 'यह ब्राह्मण विद्या और आचरण से सम्पन्न है' इस कथन पर छली का यह कथन कि यदि ब्राह्मण का यही लक्षण है कि वह विद्या और आचरण से सम्पन्न होता है तो व्रात्य को भी विद्या और आचरण से युक्त होना चाहिये, सामान्य छल है। विवक्षित अर्थ को स्वीकार करने के साथ-साथ अविवक्षित अर्थ को भी स्वीकार करने के कारण भाष्यकार ने प्रकृतछल को सामान्य छल माना है[४]।

---

१. न्यायवार्तिक—१।२।१२, पृष्ठ १७७।
२. न्यायवार्तिक—१।२।१२, पृष्ठ १७६।
तात्पर्यटीका—१।१।१२, पृष्ठ ३५१।
३. न्यायवार्तिक—१।२।१३, पृष्ठ १७७।
४. न्यायभाष्य—१।२।१३।

विद्या और आचरण की सम्पत्ति जो कि सभी ब्राह्मणों में नहीं होती, किसी ब्राह्मणविशेष में ही होती है उसका बोध कराने के लिये 'अहो ब्राह्मणोऽसौ विद्याचरणसम्पन्नः' ऐसे वाक्यप्रयोगस्थल में यदि छली वक्ता के अभिप्राय के विपरीत उक्त विद्याचरणसंपत्ति को ब्राह्मणत्व जाति के साथ जोड़कर इस प्रकार प्रतिषेध करता है कि 'सारे ब्राह्मण विद्याचरणसम्पन्न हुआ करते हैं यह कथन इसलिये संगत नहीं माना जा सकता कि ब्राह्मणत्वजातियुक्त तो वह ब्राह्मणकुलोत्पन्न वात्य भी होता ही है जिसमें कि विद्या एवं आचरण की सम्पत्ति संभव नहीं' तो इस प्रकार किया जाने वाला निषेध सामान्य छल होता है क्योंकि अभिप्रेत विशेष के अतिक्रमणकारी ब्राह्मणत्व सामान्य के साथ उसका सम्पर्क छली ने कर लिया[1]।

भाष्यकार के अनुसार विद्या और आचरण की सम्पन्नता का अर्थ विद्या और आचरण को प्राप्त करने की क्षमता है[2]। ब्राह्मणत्व विद्या और आचरण का हेतु नहीं है बल्कि उक्त दोनों गुणों का उपयुक्त क्षेत्र है। यदि किसी खेत में धान पैदा होने की बात कही जाये तो इसका अर्थ यही होगा कि उस खेत में धान उत्पन्न करने की अधिक क्षमता है न कि बिना बीज बोये ही धान पैदा होने लगेगा। खेत में धान बोने का उल्लेख न होने पर भी धान का बोना आक्षिप्त होता है। इसी तरह ब्राह्मण विद्या आदि गुणों का क्षेत्र अवश्य ही है किंतु गुणों के सम्पादन के लिये प्रयास एवं परिश्रम अपेक्षित है! इस विवेचन से प्रकृत छल का मिथ्या होना सिद्ध होता है। इस स्थल पर वार्तिक और तात्पर्यटीका में उल्लेखनीय विचार नहीं हुआ है।

उपचार छल—जिस अभिप्राय को लेकर शब्द का प्रयोग किया गया हो उस अभिप्राय को छोड़कर एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग किया जाना उपचार छल कहा जाता है[3]। भाष्यकार के अनुसार उपचार का लक्षण है—'उपचारो नीतोऽर्थः'। अभिप्राय यह है कि वक्ता के अभिप्राय को त्यागकर अपनी ओर से नीत–कल्पित अर्थ का प्रयोग ही उपचार होता है और जिस छल में नीतार्थ होता है वह उपचार छल कहा जाता है[4]। शब्द का प्रयोग दो प्रकार का होता है, मुख्य और भाक्त अर्थात् गौण। वक्ता के अभिप्राय के अनुसार ही शब्द का मुख्य अथवा गौण अर्थ लेना चाहिये। 'मञ्चाः क्रोशन्ति' का अभिधेय अर्थ होता है–'मचान चिल्लाते हैं', परन्तु यहाँ अभिधा अर्थ से

---

१. तात्पर्यटीका—१।२।१३, पृष्ठ ३५१ ।
२. न्यायभाष्य—१।२।१३ । ३. न्यायसूत्र—१।२।१४ ।
४. न्यायभाष्य—१।२।१४ ।

प्रयोजन नहीं अपितु गौण से है। 'मञ्चाः क्रोशन्ति' का गौण अर्थ है 'मचान पर बैठे लोग चिल्लाते हैं'। चूँकि वक्ता का अभिप्रेत यहाँ भाक्त प्रयोग है, अतएव भाक्त अर्थ ही ग्राह्य है।

उपर्युक्त भाक्तप्रयोगविषयक उपचार छल निम्नलिखित रूप में हो सकता है– 'मञ्चाः क्रोशन्ति' यह स्थिति कभी नहीं हो सकती क्योंकि मचान कभी चिल्ला नहीं सकता अतएव 'मञ्चाः क्रोशन्ति' यह प्रयोग समीचीन नहीं। यहाँ अभिप्रेत गौण अर्थ का खण्डन प्रधान अर्थ को लेकर किया गया है अतः उपचार छल हुआ। अभिप्रेत अर्थ के छोड़ने के कारण ही प्रकृतछल को मिथ्या माना जाता है। वार्तिक और तात्पर्यटीका में भाष्य के ही विवेचन को दोहराया गया है।

वाक्छल के प्रयोग 'नवकम्बलक' में भी अभिप्रेत अर्थ 'नवीन कम्बल वाला' को छोड़कर एक दूसरे अर्थ 'नौ कम्बल वाला' की कल्पना की गई है और उपचार छल के प्रयोग 'मञ्चाः क्रोशन्ति' में भी अभिप्रेत गौण अर्थ 'पुरुष के क्रोशन' के स्थान पर 'मचान के चिल्लाने' का अर्थ लिया गया है। इस प्रकार यहाँ शंका हो सकती है कि वाक्छल और उपचार छल में कुछ भी अन्तर प्रतीत नहीं होता है। क्या वे दोनों एकही नहीं हैं[१]?

दोनों छल प्रभेदों को अभिन्न मानना उचित नहीं क्योंकि वाक्छल एवं उपचार छल में बहुत बड़ा अन्तर है। उपचार छल के प्रयोग से वस्तु का प्रतिषेध होता है जैसे 'चिल्लाने वाले मचान नहीं हो सकते' यहाँ मचानरूप वस्तु का प्रतिषेध है किन्तु वाक्छल में 'देवदत्त नवकम्बलक' है यहाँ न तो देवदत्त का प्रतिषेध होता है और न कम्बल का ही, परन्तु कम्बल के एक देश–धर्म नवत्व अर्थात् नवीनता का प्रतिषेध होता है। अतएव उपचार छल में धर्मी का प्रतिषेध और वाक्छल में धर्म का प्रतिषेध होता है। इसलिये वार्तिककार दोनों में महान् अन्तर मानते हैं। वे दोनों एक नहीं हो सकते[२]।

तात्पर्यटीकाकार छल का उपयोग जल्प में अपनी पराजय की अवस्था आ जाने पर उचित मानते हैं[३]। भाष्यकार और वार्तिककार दोनों छल का ज्ञान इसलिये आवश्यक मानते हैं कि छल का ज्ञान होने पर ही कोई व्यक्ति अपने वाक्यों को छल से बचाकर दूसरे के वाक्यों में उसका प्रयोग कर सकता है[४]।

---

१. न्यायसूत्र—भाष्य–वार्तिक–१।२।१५ (वार्तिक पृष्ठ १७६-७७)
२. न्यायवार्तिक—१।२।१६, पृष्ठ १७८।
३. तात्पर्यटीका—१।२।१२, पृष्ठ ३५०।
४. न्यायभाष्य—१।१।१। न्यायवार्तिक—१।१।१, पृष्ठ २०।

अध्याय ८

न्यायवार्तिक में जाति एवं निग्रहस्थान

न्यायसूत्रों के अन्तिम अध्याय में केवल जाति और निग्रहस्थान का ही विवेचन प्राप्त होता है। प्रथम अध्याय के अन्तिमसूत्र में सामान्यतः जाति और निग्रहस्थान के अवान्तर प्रभेद 'बहुत' हैं इतना ही कहा गया है; उनके प्रभेदों का विवेचन नहीं किया गया है, किन्तु पञ्चम अध्याय में जाति एवं निग्रहस्थान के क्रमशः २४ और २२ प्रभेद गिनाये गये हैं, साथ ही उनका लक्षण भी किया गया है। उक्त सामान्य और विशेष संख्या के निर्देश करने का कारण वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है[1]। उनके अनुसार प्रथम अध्याय में सामान्यतः जाति और निग्रहस्थान के प्रभेदों को 'बहुत' कह दिया गया है और पञ्चम अध्याय में उनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। प्रथम अध्याय में इसलिये विस्तृत विवेचन नहीं किया गया है कि शिष्य, जब तक उन्हें प्रमेयों का सम्यक् ज्ञान नहीं हो पायेगा जाति अथवा निग्रहस्थान को जिनका सम्बन्ध शास्त्रार्थ की सूक्ष्मता से होता है, नहीं समझ सकते। इसीलिये प्रमेयों का ज्ञान पहिले कराया गया है और अन्त में जाति एवं निग्रहस्थान का।

जाति एवं निग्रहस्थान की संख्या को 'बहुत' विशेषण से निर्धारित करके फिर निश्चित संख्याओं के द्वारा उनके स्वरूप का विवेचन करते हुए देखकर तथा विवेचन के स्थानों की विभिन्नता को देखकर किसी व्यक्ति को यह शंका हो सकती है कि पञ्चम अध्याय प्रक्षिप्त है। किन्तु डॉ० रैंडिल ने पञ्चम अध्याय को मौलिक सिद्ध करते हुये उसकी तात्कालिक उपादेयता पर प्रकाश डाला है[2]। सत्य के निर्णय के लिये उपस्थित की गईं युक्तियों के गुण एवं दोषों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। रैंडिल का यह विचार है कि ज्यों-ज्यों तर्कशास्त्र का विकास होता गया जाति और निग्रहस्थानों का विषय अवान्तरविषयों में ही अन्तर्भूत हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि व्याप्ति आदि विषयों पर अधिक विचार हो जाने पर जाति आदि के विवेचन की आवश्यकता इसलिये नहीं रही होगी कि व्याप्ति एवं पक्षधर्मता के विस्तृत विवेचन हो जाने

१. तात्पर्यटीका—५।१।१, पृष्ठ ६७२।

२. Randle : Indian Logic in the Early schools, pp. 341-44

के कारण कथाओं में जात्युत्तरता और निग्रहस्थान की प्राप्ति बहुत कम हो गई होगी। कारण यह है कि नियमतः प्रत्येक जात्युत्तर व्याप्ति की ओर दृष्टि न जाने पर ही हो पाता है।

जाति और निग्रहस्थान का निरूपण अधिक कष्टसाध्य माना गया है। विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य ने गौतमसूत्रों पर वृत्ति लिखते समय पञ्चम अध्याय के मंगलाचरण में इस अध्याय को 'अतिगहन' कहा है—

'नत्वा शंकरच्चरणं शरणं दीनस्य दुर्गमे तरणम्।
सम्प्रति निरूपयामः पञ्चममध्यायमतिगहनम्' ॥

जाति और निग्रहस्थान पर वार्तिककार ने अधिक विचार नहीं प्रस्तुत किये। प्रायः भाष्य को पर्याप्त समझकर 'उदाहरणं भाष्ये' (न्यायवार्तिक—५।१।२३, ५।१।२५, ५।१।२९, ५।२।७, ५।२।९, ५।२।४४), 'शेषं भाष्ये' (५।२।१७), 'स्फुटं भाष्ये' (५।२।१८) आदि पदों का प्रयोग किया है। बहुत से सूत्रों का वार्तिक भी संक्षेप में है (सूत्र संख्या—५।१।१२, १५, १६, १७–२१, २३, २४, २६, २९–३२, ५।२।५–१०, १५, १९, २०, २३–२५) कहने का तात्पर्य इतना ही है कि प्रमाण एवं आत्मा आदि प्रमेयों के सम्बन्ध में जैसे मौलिक विचार वार्तिक में मिलते हैं वैसे जाति एवं निग्रहस्थान के बारे में नहीं मिलते। हो सकता है कि नैयायिकों और बौद्धों के विकराल वाग्युद्ध (शास्त्रार्थ) का स्थान धीरे-धीरे लेखनी लेनेलगी हो और जाति एवं निग्रहस्थान का साक्षात् सम्बन्ध व्यावहारिक शास्त्रार्थ से होने के कारण इनका महत्त्व कम हो गया हो।

जाति

जाति का लक्षण—वार्तिककार का कथन है[1] कि किसी अनुमान के खण्डन करने के लिये उदाहरण के साधर्म्य एवं वैधर्म्य मात्र के सहारे न कि व्याप्ति पर आधारित जो असमर्थ हेतु प्रयुक्त होता है उसे जाति कहा जाता है।

जब कोई व्यक्ति अपने सिद्धान्त की पुष्टि में किसी प्रकार के हेतु का प्रयोग करता है और प्रतिपक्षी उसके मत का खण्डन करने के लिये ऐसे हेतुओं का प्रयोग करता है जो व्याप्ति पर आश्रित न होकर केवल समानधर्मता एवं वैधर्म्य पर निर्भर रहते हैं, ऐसी स्थिति में उन्हें जाति कहा जाता है।

---

१. न्यायवार्तिक—५।१।१, पृष्ठ ५२९। 'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः'। (न्यायसूत्र—१।२।१८)

किन्तु इस जाति से वस्तुतः किसी सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती है और न तो किसी का खण्डन ही। जाति एक प्रकार का असद्धेतु ही है[1]।

पञ्चम अध्याय के प्रारम्भ में भाष्यकार ने जाति को 'प्रतिषेधहेतु' कहा है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि जाति एक प्रकार का हेतु है जिसके द्वारा पूर्ववक्ता के स्थापनावाक्य का खण्डन करने का प्रयास किया जाता है किन्तु उससे खण्डन नहीं हो पाता।

जाति के प्रभेद—जाति के निम्नलिखित २४ प्रभेद हैं[2]:—(१) साधर्म्यसम (२) वैधर्म्यसम (३) उत्कर्षसम (४) अपकर्षसम (५) वर्ण्यसम (६) अवर्ण्यसम (७) विकल्पसम (८) साध्यसम (९) प्राप्तिसम (१०) अप्राप्तिसम (११) प्रसंगसम (१२) प्रतिदृष्टान्तसम (१३) अनुत्पत्तिसम (१४) संशयसम (१५) प्रकरणसम (१६) हेतुसम (१७) अर्थापत्तिसम (१८) अविशेषसम (१९) उपपत्तिसम (२०) उपलब्धिसम (२१) अनुपलब्धिसम (२२) नित्यसम (२३) अनित्यसम और (२४) कार्यसम।

जाति एवं हेत्वाभास में अन्तर—जाति के अवान्तरविशेषों का विवेचन करने के पहिले यह विचार करना आवश्यक है कि जाति और हेत्वाभास में क्या अन्तर है, क्योंकि जाति में व्याप्ति का आश्रय नहीं लिया जाता और हेत्वाभास में भी यही स्थिति होती है। जाति और हेत्वाभास में निम्नलिखित अन्तर हैं:—

१—जाति एक प्रकार का प्रत्युत्तर है जिसके अव्यवहित पूर्व आलोच्य अनुमान का उपसंहार होना चाहिए ताकि उसका साधर्म्य अथवा वैधर्म्य दिखलाकर जाति का प्रयोग किया जा सके। हेत्वाभास में यह अङ्ग आवश्यक नहीं होता।

२—जाति का मुख्य आधार पूर्व उपसंहृत अनुमानस्थल के पक्ष में तत्स्थलीय दृष्टान्त से साधर्म्य तथा वैधर्म्य मात्र ही हुआ करता है किन्तु हेत्वाभास के लिए यह अंश उतना आवश्यक नहीं।

३—जाति के द्वारा प्रतिपादित विषय स्वयं जाति की प्रतिपादित प्रणाली से ही खण्डित हो जाता है, हेत्वाभासस्थल में ऐसा नहीं होता। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक जात्युत्तर इसलिए असदुत्तर होता है कि वह स्वव्याघातक होता है, जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस अनुमानस्थल में यदि इस प्रकार

---

१. 'तत्र जातिर्नाम स्थापनाहेतौ प्रयुक्ते यः प्रतिरोधासमर्थो हेतुः'। (न्यायवार्तिक—५।१।१, पृष्ठ ५२९)

२. न्यायसूत्र—५।१।१।

जात्युत्तर उपस्थित किया जाये कि 'महानस की तरह यदि पर्वत धूमवान् होने के कारण वह्निमान् होता है तो धूमवान् होने के कारण महानसत्ववान् भी क्यों न हुआ माना जाये' तो यह उत्तर स्वव्याघातक होता है क्योंकि पर्वत में वह्नि की सत्ता के खण्डन करने के लिए उपस्थापित प्रकृत उत्तर रूपान्तर में वह्नि के अस्तित्व को मान लेता है जबकि उसका प्रयोजन वह्नि के अस्तित्व का खण्डन था। हेत्वाभासस्थल में ऐसी स्थिति नहीं होती क्योंकि हेत्वाभास के द्वारा खण्डनीय अनुमान का ही खण्डन हो पाता है न कि स्वयं हेत्वाभास का।

४—हेत्वाभास एक निग्रह स्थान है जब कि जाति निग्रह-स्थान नहीं है।

१. साधर्म्यसम जाति—जिस जाति से पूर्वप्रयुक्त अनुमान को, पक्ष में किसी की समानता दिखलाकर दूषित किया जाता है उसे साधर्म्यसम जाति कहा जाता है। अनुमान चाहे अन्वयी हो अथवा व्यतिरेकी उसके पक्ष में किसी की समानता दिखलाकर उसमें दोष निकालने (आरोपण करने) का प्रयास किया जाता है। चूँकि अनुमान का प्रयोग दो प्रकार से होता है, इसलिए जाति का प्रयोग भी दो प्रकार से होता है[1]। दोष निकालने का प्रयास 'समानधर्मता' पर निर्भर करता है, इसलिए इस जाति को साधर्म्यसम जाति कहते हैं।

(क) यदि वादी का अन्वयी अनुमान इस प्रकार माना जाये—

'शब्द अनित्य है,
उत्पन्न होने के कारण,

घट के समान', तो जातिवादी के साधर्म्यसम जाति का रूप इस प्रकार होगा—

'शब्द नित्य है,
अमूर्त होने के कारण,
आकाश के समान'

जातिवादी के कथन का अभिप्राय यह है कि जब उत्पत्तिशील द्रव्य (घट) की समानता दिखलाकर शब्द को अनित्य सिद्ध किया जा सकता है तो अमूर्त एवं अनुत्पत्तिशील द्रव्य की समानता दिखलाकर शब्द को नित्य क्यों नहीं माना जा सकता? अथवा 'शब्द की नित्यता' न मानने का कोई कारण बतलाना चाहिए।

---

१. न्यायवार्तिक—५।१।२, पृष्ठ ५३१

(ख) यदि व्यतिरेकी अनुमान निम्नलिखित प्रकार से हो—

'शब्द अनित्य है,

उत्पन्न होने के कारण,

जो उत्पन्न नहीं होता, वह अनित्य भी नहीं होता, जैसे आकाश', तो साधर्म्यसम जाति का प्रयोग निम्नलिखित प्रकार से होगा—

'शब्द नित्य है,

अमूर्त होने के कारण,

जैसे आकाश'

यदि नित्य आकाश की असमानता के कारण शब्द को अनित्य स्वीकार किया जा रहा हो तो जातिवादी उसी आकाश के साथ शब्द की समानता (अमूर्तता) दिखलाकर उसे आकाश की भाँति नित्य सिद्ध करके अनुमाता के अनुमान में दोष निकालना चाहेगा।

जाति को असदुत्तर कहा जाता है। जाति का आधार व्याप्ति नहीं होती। उक्त अन्वयी और व्यतिरेकी अनुमानवाक्यों में साध्य की सिद्धि व्याप्ति के आधार पर की गई है। जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह अनित्य भी होता है, किन्तु जातिवादी के वाक्य व्याप्ति पर आधारित नहीं। प्रत्येक अमूर्त पदार्थ नित्य नहीं होता। कर्म एवं बुद्धि अमूर्त हैं, किन्तु नित्य नहीं।

वार्तिककार ने प्रायः भाष्यकार के उदाहरणों को स्वीकार करके 'शेषं भाष्ये' अथवा 'उदाहरणं भाष्ये' कह दिया है किन्तु प्रकृतस्थल में उन्होंने भाष्यकार के उदाहरणों को छोड़कर नये उदाहरण उपस्थित किये हैं। ऊपर की पंक्तियों में साधर्म्यसम जाति के उदाहरण वार्तिकसम्मत ही हैं[1]। यद्यपि वार्तिककार भाष्यकार के उदाहरणों के सम्बन्ध में मौन हैं किन्तु तात्पर्यटीकाकार ने स्पष्ट शब्दों में भाष्यकार के उदाहरण के दोष का निर्देश एवं वार्तिककार की उसके प्रति उपेक्षा एवं नवीन उदाहरण उपस्थित करने के कारण का उल्लेख किया है[2]। भाष्यगत अनुमान एवं जाति के प्रयोग का स्वरूप इस प्रकार है—

अन्वयी अनुमान का उदाहरण—

'आत्मा क्रियावान् है,

क्रिया उत्पन्न करनेवाले गुणों (अदृष्ट एवं प्रयत्न आदि)[3] से युक्त होने के कारण,

---

१. न्यायवार्तिक—५।१।२, पृष्ठ ५३१। २. तात्पर्यटीका—५।१।२, पृष्ठ ६७३।

३. तात्पर्यटीका—५।१।२, पृष्ठ ६७३।

Randle : Indian Logic in the Early Schools p. 349

जैसे मिट्टी का ढेला'

जाति का प्रयोग—

'आत्मा क्रियाहीन है,
व्यापक होने के कारण,
जैसे आकाश'

तात्पर्यटीकाकार ने भाष्य के उक्त अनुमान को साध्य का साधन न मानकर साधनाभास माना है[1]—आत्मा व्यापक है अतएव उसमें क्रिया नहीं होती। इस स्थल में जाति का उदाहरण भी समुचित नहीं है क्योंकि व्यापक और क्रियाहीन होने में व्याप्ति है जब कि इस जाति का आधार व्याप्ति न होकर केवल समानता रहा करती है। डॉ० विद्याभूषण ने साधर्म्यसम जाति एवं वैधर्म्यसम जाति के उदाहरण भाष्य से न लेकर वार्तिक से लिए हैं, यद्यपि उन्होंने ऐसा करने के कारण का उल्लेख नहीं किया है[2]। रैंडिल ने भाष्य से ही उदाहरण लिए हैं, किन्तु भाष्य और वार्तिक के उदाहरणों के विरोध पर प्रकाश नहीं डाला है[3]।

२. वैधर्म्यसम जाति—जहाँ साधर्म्यसम जाति द्वारा अनुमान के पक्ष में किसी की समानता दिखलाकर अनुमान में दोष निकाला जाता था वहाँ वैधर्म्यसम जाति के द्वारा अनुमान के पक्ष में किसी की विषमता को दिखलाकर अनुमान को दूषित किया जाता है।

(क) यदि वादी का अन्वयी अनुमान इस प्रकार हो —

'शब्द अनित्य है,
उत्पन्न होने के कारण,

घट के समान', तो जातिवादी का उत्तर निम्न प्रकार से होगा —
'शब्द नित्य है'
अमूर्त होने के कारण

जो अमूर्त नहीं होता वह नित्य भी नहीं होता, जैसे घट,
(अथवा 'जो मूर्त होता है वह अनित्य होता है, जैसे घट)

१. तात्पर्यटीका–५।१।२, पृष्ठ ६७३।

२. Vidyabhusana : A History of Indian Logic, p. 67

३. Randle : Indian Logic in the Early Schools, pp. 348–49

जातिवादी ने अनुमान के पक्ष (शब्द, जो अमूर्त है) में पूर्वानुमानवादी के उदाहरण (घट, जो मूर्त है) की विषमता दिखलाकर अनुमान को दूषित करने का प्रयास किया है।

(ख) यदि वादी का व्यतिरेकी अनुमान इस प्रकार हो—

'शब्द अनित्य है,
उत्पन्न होने के कारण,
जो उत्पन्न नहीं होता वह अनित्य भी नहीं होता, जैसे आकाश' तो जातिवादी का प्रत्युत्तर निम्नलिखित रूप में होगा—

'शब्द नित्य है,
अमूर्त होने के कारण
जो अमूर्त नहीं होता वह नित्य भी नहीं होता, जैसे घट'

जातिवादी के कथन का अभिप्राय यह है कि यदि वादी शब्द में (नित्य) आकाश से विषमता दिखलाकर उसे (शब्द को) अनित्य सिद्ध करना चाहे तो शब्द (अनित्य) में घट की भी समानता दिखलाकर उसे नित्य क्यों न माना जाये ? शब्द में घट से विषमता यही है कि शब्द अमूर्त है और घट मूर्त।

प्रकृत जाति के असदुत्तर होने के प्रायः वही कारण हैं जो साधर्म्यसम जाति के हैं।

३. उत्कर्षसम जाति—दृष्टान्त के धर्म का पक्ष में आरोप करके अनुमान को दूषित सिद्ध करने का प्रयास जिस जाति के द्वारा किया जाता है उसे उत्कर्षसम जाति कहा जाता है। उत्कर्षसम जाति का यह लक्षण भाष्यकार का है[1]। वार्तिककार का लक्षण अधिक वैज्ञानिक है। कभी-कभी पक्ष और दृष्टान्त के धर्म समान भी हो सकते हैं, जैसे 'द्रव्यत्व' अथवा 'सत्ता' ऐसे धर्मों को लेकर उत्कर्षसम होने की सम्भावना नहीं है। इसलिये वार्तिककार ने 'अविद्यमानधर्माध्यारोप उत्कर्षः' वाक्य का प्रयोग किया है[2]। उदाहरण की समानता से पक्ष में न पाये जाने वाले धर्मों का आरोप 'उत्कर्षसम जाति' होती है, जैसे यदि अनुमान का स्वरूप निम्नलिखित रूप में हो—

'शब्द अनित्य है,
उत्पन्न होने के कारण,
घट के समान', तो उत्कर्षसम जाति का प्रयोग निम्नलिखित रूप में होगा—

१. न्यायभाष्य-५।१।४। २. न्यायवार्तिक-५।१।४ पृष्ठ ५३२।

'शब्द यदि घट के समान उत्पत्तिशील होने के कारण अनित्य माना जाये तो घट के समान मूर्त भी क्यों न माना जाये, जैसा कि माना नहीं जाता'

'मूर्तत्व' गुण दृष्टान्त (घट) में पाया जाता है, पक्ष (शब्द) में नहीं पाया जाता। जातिवादी वादी के 'घट के समान' वाक्य से घट और शब्द में पूरी समानता मान लेता है और वादी के अनुमान में दोष दिखलाता हुआ कहता है कि जब घट और शब्द समान ही हैं तो जैसे घट मूर्त है वैसे शब्द भी क्यों न मूर्त हो ? यदि दृष्टान्त और पक्ष की समानता होने पर भी शब्द को मूर्त न माना जाये तो जातिवादी दृष्टान्त और पक्ष की समानता के कारण शब्द को अनित्य भी नहीं मानेगा। इस प्रकार इस जाति के द्वारा अविद्यमान धर्म का आरोप किया जाता है। 'उत्कर्ष' शब्द का अर्थ 'सामान्य स्तर से अधिक बढ़ जाना' होता है। इसी अर्थ को ध्यान में रखकर इस जाति का नामकरण हुआ है।

पक्ष और उदाहरण के साधर्म्य अथवा वैधर्म्य को दिखलाकर किसी अनुमान में दोष का आरोप करना प्रत्येक जाति की सामान्य विशेषता है। इस जाति में भी साधर्म्य के द्वारा दोष का आरोप किया गया है किन्तु 'अविद्यमान धर्म का आरोप' करके पक्ष में 'उत्कर्ष' दिखलाकर दोष का निर्देश करने के कारण इसका नाम 'उत्कर्षसम जाति' पड़ा। यही नियम अन्य सभी जातियों के नामकरण के सम्बन्ध में चरितार्थ होता है।

विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य ने उदाहरण के धर्म को पक्ष में आरोपित करके अनुमान में दोष दे देने के अतिरिक्त पक्ष के धर्म को उदाहरण में आरोपित करके अनुमान में दोष निकालने को उत्कर्षसम जाति मानने के सिद्धान्त का भी उल्लेख किया है[1]। जैसे यदि अनुमानवाक्य का स्वरूप वादी के मत में निम्नलिखित रूप में हो—

'शब्द अनित्य है,

उत्पन्न होने के कारण,

घट के समान', तो जातिवादी का वाक्य इस प्रकार होगा—'घट को भी कान से सुना जाना चाहिये,

उत्पन्न होने कारण

शब्द के समान'

यहाँ वादी के द्वारा स्वीकृत अनुमान के पक्ष में आये हुये धर्म (सुने जाने) का उदाहरण (घट) में आरोप किया गया है, जब कि उदाहरण में वह धर्म विद्यमान नहीं है।

---

१. न्यायसूत्रवृत्ति-५।१।४।

विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य के प्रकृत जाति के लक्षण—'अविद्यमानधर्मारोप उत्कर्षः'[1] का आधार वार्तिककार का ही लक्षण है।

जाति की यह विशेषता होती है कि वह सदा दोष का निर्देश करती है अतएव उदाहरण की समानता दिखलाकर पक्ष में अविद्यमान धर्म का आरोप-मात्र ही उत्कर्षसम जाति नहीं होती है अपितु तथाकथित आरोप को दिखलाकर आलोच्य अनुमान के पक्षधर्म में दोष दिखलाना भी अपेक्षित होता है। यहाँ शब्द में मूर्तत्व धर्म का आरोप 'अविद्यमानधर्म का आरोप' और शब्द की अनित्यता का निराकरण 'दोषप्रदर्शन' है। 'अविद्यमान धर्म का आरोप' और 'दोषप्रदर्शन' यहाँ उत्कर्षसम जाति के दो अङ्ग हैं।

जाति के इस विवेचन में भी वार्तिककार ने भाष्य के उदाहरण को छोड़ दिया है, क्योंकि भाष्योक्त उदाहरण उपयुक्त नहीं हैं।

पक्ष और उदाहरण में सर्वाङ्गीण एकता नहीं होती। समानता का अर्थ यह नहीं कि जितने धर्म घट में हों वे सब के सब शब्द में भी हों[2]। यदि दोनों के सभी धर्म एक दूसरे से मिलते हों तो उन्हें 'समान' न कहकर 'वही' कहना चाहिये। 'जैसी गाय है, वैसा गवय है' का अर्थ यह नहीं हो सकता कि गाय और गवय एक ही हैं। ज्ञातिवादी इन दोनों को सर्वांशसम समझकर ही अविद्यमान धर्म का आरोप और दोष का निर्देश करता है। 'उत्पन्न होने' और 'अनित्य होने' में व्याप्ति सम्बन्ध है। शब्द और घट दोनों उत्पन्न होते हैं अतएव 'उत्पत्तिशीलता' धर्म से युक्त होने से दोनों समान होते हैं, जिससे दोनों अनित्य हो जाते हैं। किन्तु 'उत्पत्तिशीलता' धर्म के द्वारा दोनों में आंशिक समानता होने पर भी दोनों मूर्त नहीं माने जा सकते क्योंकि 'उत्पत्ति-शीलता' और 'मूर्तत्व' में व्याप्ति नहीं है। कर्म उत्पन्न होता है किन्तु मूर्त नहीं होता, इसीलिये प्रकृत जाति असदुत्तर होती है।

४. अपकर्षसम जाति—वार्तिककार ने विद्यमान धर्म के अभाव को दिखलाने वाली जाति को अपकर्षसम माना है[3]। जैसे यदि वादी शब्द की अनित्यता सिद्ध करते हुए कहे कि—

'शब्द अनित्य है,
उत्पन्न होने के कारण,

---

१. न्यायसूत्रवृत्ति–५।१।४।

२. न्यायवार्तिक–५।१।५, पृष्ठ ५३३।

३. न्यायवार्तिक–५।१।४, पृष्ठ ५३२।

घट के समान', तो जातिवादी का उत्तर निम्नलिखित रूप में हो सकता है—

'घट नीरूप है,
उत्पन्न होने के कारण
शब्द के समान, ऐसा क्यों न माना जाये'

जातिवादी जाति का प्रयोग वादी के अनुमान में दोष निकालने के लिए करता है। उसके कहने का तात्पर्य यह है कि यदि पक्ष और उदाहरण की समानता के आधार पर वादी के अनुमान को सही माना जायेगा तो घट को नीरूप भी मानना चाहिए, जब कि घट रूपवान् होता है।

अपकर्षसम जाति उत्कर्षसम जाति के ठीक विपरीत होती है। उत्कर्षसम जाति के द्वारा अविद्यमान धर्म का आरोप करके अनुमान में दोष दिया जाता है और अपकर्षसम जाति से विद्यमान धर्म का अभाव दिखलाकर।

भाष्यकार अपकर्षसम जाति उसी स्थल पर मानते हैं जहाँ पक्ष में रहने वाले धर्म का अभाव दिखलाया गया हो[1]। किन्तु वार्तिककार के लक्षण एवं उदाहरण से यही प्रतीत होता है कि 'पक्ष' अथवा 'उदाहरण' किसी में रहने वाले धर्म का अभाव दिखलाये जाने पर प्रकृत जाति हो सकती है, यद्यपि यह बात इन्होंने स्पष्ट नहीं कही है।

५. वर्ण्यसम जाति—पक्ष के धर्म की भाँति उदाहरण के धर्म को भी साध्य बताकर किसी अनुमान में दोष निकालने को वर्ण्यसम जाति कहते हैं। यदि वादी का अनुमान इस प्रकार हो—

'शब्द अनित्य है,
उत्पन्न होने के कारण,
घट के समान', तो प्रकृत जाति का प्रयोग निम्न प्रकार से होगा—
'घट अनित्य है,
उत्पन्न होने के कारण,
शब्द के समान'

जातिवादी के कथन का अभिप्राय यह है कि वादी की दृष्टि में 'शब्द घट के समान' है और चूँकि शब्द की अनित्यता साध्य है घट की भी

१. न्यायभाष्य—५।१।४।

अनित्यता साध्य होगी। भाष्यकार ने 'वर्ण्य' शब्द का अर्थ 'ख्यापनीय' लिया है[1] और वार्तिककार ने 'साध्य'[2]।

६. अवर्ण्यसम जाति—वर्ण्यसम जाति के ठीक विपरीत अवर्ण्यसम जाति होती है, इसीलिए भाष्यकार ने विपर्ययादवर्ण्यः' कहा है,[3] वार्तिककार ने अवर्ण्य का अर्थ 'असाध्य' लिया है[4]। असाध्य का अर्थ 'सिद्ध' है।

दृष्टान्त के धर्म की भाँति पक्ष के धर्म (साध्य) को भी सिद्ध बतलाकर किसी अनुमान में दोष निकालने को अवर्ण्यसम जाति कहते हैं। यदि वादी का अनुमान इस प्रकार हो—

'शब्द अनित्य है,
उत्पन्न होने के कारण,
घट के समान', तो प्रकृत जाति का प्रयोग इस प्रकार होगा—
'घट अनित्य है,
उत्पन्न होने के कारण,
शब्द के समान'

जातिवादी के कहने का अभिप्राय यह है कि वादी के कथन के अनुसार शब्द घट के समान है और घट की अनित्यता सिद्ध है, इसलिये समानता के आधार पर शब्द की अनित्यता भी सिद्ध मान ली जानी चाहिये, अनुमान करने की आवश्यकता ही नहीं है।

७. विकल्पसम जाति—जब अनुमान में प्रयुक्त हेतु के साथ कोई विशेषण जोड़कर उससे साध्य एवं साध्याभाव दोनों को सिद्ध करने का प्रयत्न करके अनुमान में दोष दिया जाता है, तब विकल्पसम जाति मानी जाती है। वार्तिककार विकल्प का अर्थ 'विशेष' लेते हैं। यदि अनुमाता का अनुमानवाक्य इस प्रकार हो—

'शब्द अनित्य है,
उत्पन्न होने के कारण,
घट के समान', तो प्रकृत जाति का स्वरूप इस प्रकार होगा—
'शब्द नित्य है,
उत्पत्तिधर्मक होते हुए घट के समान संयोगज न होकर विभागज है,

---

१. न्यायभाष्य—५।१।४ २. न्यायवार्तिक—५।१।४, पृष्ठ ५३२
३. न्यायभाष्य—५।१।४
४. न्यायवार्तिक—५।१।४, पृष्ठ ५३२

क्योंकि वह घट के समान उत्पत्तिधर्मक ही नहीं अपितु घट के समान संयोगजमात्र न होकर विभागज भी होता है।[1]

जातिवादी 'उत्पन्न होने के कारण' ही किसी वस्तु को अनित्य नहीं मानना चाहता। उत्पन्न होने पर भी कुछ वस्तुओं को नित्य और कुछ को अनित्य मानना चाहता है। जो वस्तु विभागज होती है वह नित्य हो सकती है, जैसे शब्द। किन्तु जो वस्तु अवयवों के विभाग करने से उत्पन्न नहीं होती वह अनित्य हो सकती है जैसे घट। यहाँ 'विभाग से उत्पन्न होना' ही विशेष है जिसके आधार पर साध्य एवं साध्य के अभाव का विकल्प हुआ।

प्रकृतस्थल में जातिवादी के कथन का वास्तविक अभिप्राय यह होता है कि किन्हीं दो वस्तुओं में किसी एकरूप से समानता होने पर भी किसी अन्यरूप से विषमता भी होती है, यह मानना ही होगा। उदाहरण के लिये घट और शब्द दोनों ही उत्पत्तिधर्मकरूप में समान होते हुए भी विभागजरूप में समान नहीं है क्योंकि दृष्टान्तभूत घट विभागज नहीं, संयोगज ही होता है किन्तु पक्षभूत शब्द संयोगज ही नहीं विभागज भी होता है। जब कि किसी रूप में समानता होने पर भी अन्यरूप में विषमता पाई जाती है तब घट औ शब्द में उत्पत्तिधर्मकरूप में समानता होने पर भी नित्य और अनित्य के रूपर में विषमता भी हो सकती है। घट उत्पत्तिधर्मक होते हुए भी अनित्य हो किन्तु शब्द उत्पत्तिधर्मक होते हुए भी अनित्य न होकर नित्य भी तो हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में घट के समान उत्पत्तिधर्मक होने के नाते शब्द अनित्य ही है नित्य नहीं यह निर्णय कैसे लिया जा सकता है।

सभी जातियाँ असदुत्तर होती हैं क्योंकि उनका आधार व्याप्ति नहीं होती जैसा कि उक्त जातियों के स्वरूप के द्वारा ज्ञात हो जाता है। विकल्पसम जाति के असदुत्तर मानने का कारण वार्तिककार ने स्पष्ट किया है[2]। 'उत्पन्न होने के कारण' कोई वस्तु अनित्य होती है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जो वस्तु विभागज (विभाग से उत्पन्न) हो वह नित्य भी हो। तात्पर्यटीकाकार ने वार्तिक के मत की पुष्टि की है[3]। विभाग भी विभागज होता है किन्तु नित्य नहीं होता, अतएव जातिवादी के कथन में व्यभिचार आ जाने के कारण जाति को असद्धेतु मानना चाहिये।

१, न्यायवार्तिक—५।१।४, पृष्ठ ५३३
२. न्यायवार्तिक—५।१।५, पृष्ठ ५३४-३५।
३. तात्पर्यटीका—५।१।५, पृष्ठ ६७६।

८. साध्यसम जाति—जहाँ साध्यसम जाति का प्रयोग किया जाता है वहाँ पक्ष की भाँति दृष्टान्त को भी साध्य मानकर अनुमान में दोष निकाला जाता है। यदि वादी के अनुमान का स्वरूप इस प्रकार हो[१]—

'शब्द अनित्य है,
उत्पन्न होने के कारण,
घट के समान', तो जातिवादी का उत्तर इस प्रकार होगा—
'घट अनित्य है,
उत्पन्न होने के कारण,
शब्द के समान'

जातिवादी के कहने का अभिप्राय यह है कि अनुमाता शब्द को घट के समान मानता है किन्तु 'शब्द अनित्य है' यहाँ शब्द की अनित्यता साध्य है, अतएव 'घट अनित्य है' इस स्थल में घट की अनित्यता भी साध्य होनी चाहिये अर्थात् पक्ष (शब्द) एवं दृष्टान्त (घट) दोनों के धर्म साध्य होने चाहिये। घट को ही अनित्य रूप में क्यों सिद्ध मान लिया जाये, जब कि शब्द को अनित्यरूप में साध्य माना जाता है। यदि धर्मविशिष्ट पक्ष एवं दृष्टान्त दोनों को साध्य मान लिया जायेगा तो साधक दृष्टान्त के अभाव में साध्य की सिद्धि न हो सकेगी क्योंकि दृष्टान्त वही होता है जो पूर्व से ही सिद्ध-साध्यक होता है।

इस जाति को असदुत्तर मानने का मुख्य कारण यह है कि दृष्टान्त सदैव सिद्ध रहता है। दृष्टान्त के विषय में साधारण एवं बुद्धिमान् व्यक्ति तथा वादी एवं प्रतिवादी सभी एक मत होते हैं। किन्तु पक्ष एवं उसमें साध्य धर्म की स्थिति के विषय में मतभेद रहता है, अतएव उसे सिद्ध करने की आवश्यकता होती है, इसीलिये उसे साध्य माना जाता है और दृष्टान्त को सिद्ध। इसलिये दृष्टान्त और पक्ष की समानता स्वीकार करके दृष्टान्त को भी साध्य मानना अनुचित है। पक्ष और दृष्टान्त सर्वांगसम नहीं होते, उनमें आंशिक समानता रहती है। दोनों उत्पन्न होते हैं इस अंश में समान हैं, न कि दोनों साध्य हैं इस अंश में।

९. प्राप्तिसम जाति—साध्य से सम्बद्ध होकर हेतु साध्य की सिद्धि करने वाला माना जाता है। जातिवादी हेतु और साध्य दोनों को समान

---

१. न्यायवार्तिक—५।१।४, पृष्ठ ५३३।

विशेषताओं से युक्त मानता है क्योंकि उसकी दृष्टि में जिस प्रकार हेतु साध्य से सम्बद्ध है उसी प्रकार साध्य हेतु से। तब परस्पर तुल्यतया सम्बद्ध होने से उन दोनों में से किसे साध्य माना जाये और किसे साधन[1]।

साध्य और हेतु दोनों साथ-साथ विद्यमान रहते हैं इसीलिये वार्तिककार ने उन्हें अविशेष (समान) माना है[2]। दो विद्यमान पदार्थ ही परस्पर सम्बद्ध हो सकते हैं। दोनों के विद्यमान होने पर दोनों ही सिद्ध मान लिये जाने चाहिये। नमकीन पानी चखने पर नमक और पानी का ज्ञान एक ही साथ में होता है। दोनों में जन्यजनकभाव सम्बन्ध नहीं होता[3]। इस प्रकार साध्य के सिद्ध हो जाने पर हेतु की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। यहाँ पर साध्य एवं हेतु के सम्बन्ध रूप सादृश्य के कारण प्रकृत जाति मानी गई है। हेतु और साध्य की प्राप्ति सम-समान रहती है इसलिये इस जाति को 'प्राप्ति-सम' कहा जाता है। प्रकृत जाति के स्वरूप का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

पर्वत पर आग सिद्ध करने वाले किसी व्यक्ति के अनुमान का स्वरूप निम्नलिखित रूप में हो सकता है—

'पर्वत पर आग है,
क्योंकि वहाँ धुआँ है,
रसोईघर के समान', इस पर प्रकृत जाति का प्रयोग इस प्रकार हो सकता है कि—

'पर्वत पर धुआँ है,
क्योंकि वहाँ आग है।
रसोईघर के समान'[4] यह अनुमान यथार्थ होगा या वादीकथित अनुमान, इसका निश्चय नहीं हो पाता, अतएव वादी का अनुमान यथार्थ अनुमान नहीं है।

प्रकृत जाति के असदुत्तर होने का कारण यह है कि साध्य और साधन सम्बद्ध होकर भी अपनी-अपनी विशेषता नहीं खोते। मिट्टी और दण्ड परस्पर

१. न्यायभाष्य—५।१।७।
२. न्यायवार्तिक—५।१।७, पृष्ठ ५३५,
३. न्यायसूत्रवृत्ति—५।१।७
४. Vidyabhusana : A History of Indian Logic, p. p. 71–72.

सम्बद्ध रहते हैं किन्तु मिट्टी घट—जिसे आगे चलकर साध्य होना है—का समवायिकारण है और दण्ड निमित्त कारण[1]। इन दोनों की उक्त विशेषताएं नष्ट नहीं होती, और न परिवर्तित ही होतीं हैं। घट के उत्पन्न होने में मिट्टी निमित्त कारण नहीं हो सकती और दण्ड समवायिकारण नहीं हो सकता। मिट्टी के अवयवों के व्यूह में परिवर्तन हो जाता है और घट कार्यरूप में आ जाता है। इस प्रकार मिट्टी से उत्पन्न घट साध्य रहता है और दण्ड साधन। इसी आधार पर प्रकृत जाति को असदुत्तर माना जाता है।

१०. अप्राप्तिसम जाति—यदि यह माना जाये कि साध्य एवं हेतु एक दूसरे को प्राप्त न करके अर्थात् असम्बद्ध होकर परस्पर एक दूसरे के साध्य और हेतु होते हैं तो भी जातिवादी इसका भी खण्डन करना चाहेगा[2]। जातिवादी की युक्ति है कि अग्नि हेतु है और काठ का जलना साध्य। यदि हेतु साध्य से असम्बद्ध होकर ही उसकी सिद्धि कर सकता तो अग्नि भी काठ से अलग रहकर ही उसे जला दिया करती[3]। यदि हठ करके हेतु और साध्य को असम्बद्ध होकर अपने कार्य के सम्पादन में समर्थ माना जाये तो परस्पर असम्बद्ध होने के नाते इन दोनों में से कोई एक किसी दूसरे का साध्य अथवा हेतु हो सकता है। इस स्थिति में धुयें से आग का और आग से धुयें का अनुमान भी संभव होने की आपत्ति उठ खड़ी होगी।

सिद्धान्ती का उत्तर है कि हेतु और साध्य एक साथ न रहकर भी अपनी विशेषता को बनाये रखते हैं। उदाहरण के लिये मारणमन्त्र एवं शत्रु का विनाश। मंत्र शत्रु का स्पर्श नहीं करता किन्तु फिर भी मन्त्र अभिचार का साधन और अभिचार मंत्र का साध्य माना जाता है, अतएव जातिवादी का प्रकृत उत्तर उपयुक्त नहीं है[4]। कहने का तात्पर्य यह है कि दो वस्तुओं में होनेवाला साध्य-साधनभाव स्वाभाविक होता है। वह किसी प्राप्ति एवं अप्राप्ति की अपेक्षा नहीं रखता। अतः प्राप्ति अथवा अप्राप्ति को लेकर प्रकृत साध्यसाधनभाव का खण्डन नहीं किया जा सकता और इसलिये अनुमान में बाधा नहीं पहुँचाई जा सकती है।

११. प्रसङ्गसम जाति—साध्य को सिद्ध करने के लिये हेतु की आवश्यकता पड़ती है न कि दृष्टान्त को सिद्ध करने के लिये। किन्तु यदि जातिवादी

---

१. न्यायवार्तिक—५।१।८, पृष्ठ ५३५

२. न्यायभाष्य—५।१।७

३. न्यायवार्तिक—५।१।७, पृष्ठ ५३५

४. न्यायवार्तिक—५।१।८, पृष्ठ ५३६

वादी के दृष्टान्त को सिद्ध करने के योग्य बताकर उसके अनुमान को दूषित करे तो ऐसे स्थल में प्रसङ्गसम जाति मानी जाती है[1]। विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य ने केवल अनुमान में प्रयुक्त दृष्टान्त तक ही प्रसङ्गसम जाति का क्षेत्र नहीं माना है। दृष्टान्त को सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण होना चाहिये। उस प्रमाण को सिद्ध करने के लिये दूसरा और दूसरे को सिद्ध करने के लिये तीसरा प्रमाण होना चाहिये। इस प्रकार प्रमाण आदि के विषय में अनवस्था दोष दिखलाकर भी जातिवादी अनुमान को दूषित करता है[2]। वादी शब्द की अनित्यता निम्नलिखित अनुमान वाक्य के द्वारा सिद्ध करता है—

'शब्द अनित्य है,

उत्पन्न होने के कारण,

घट के समान'। जातिवादी इस पर कहना चाहेगा कि घट भी अनित्य है, इसमें क्या हेतु है? क्योंकि घट को अनित्य नहीं सिद्ध किया गया है[3]।

इस जाति के असदुत्तर होने का कारण क्या है? हेतुपूर्वक दृष्टान्त दे देने मात्र से अनुमान कृतकृत्य हो जाता है न कि उसमें दृष्टान्त को भी सिद्ध किया जाता है। अनित्य होने के कारण घट को दृष्टान्त माना गया है। घट को अनित्य सिद्ध करना कहाँ तक उचित होगा? दृष्टान्त का यही काम है कि वह विषय का ज्ञान करा दे। वह उस समय साध्य न होकर सिद्ध ही रहता है, इस सम्बन्ध में वादी और प्रतिवादी एक मत होते हैं। दीपक स्वयं प्रकाशित होता है। उसे प्रकाशित करने के लिये दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती। इसी तरह दृष्टान्त स्वयं सिद्ध रहता है, उसे सिद्ध करने के लिये दूसरे हेतु की आवश्यकता नहीं होती।[4] यही कारण है कि इस जाति को असदुत्तर माना जाता है।

१२. प्रतिदृष्टान्तसम जाति—वादी साध्य की सिद्धि के लिये दृष्टान्त का प्रयोग करता है। जातिवादी अनुमान को दोषयुक्त ठहराने के लिये प्रतिदृष्टान्त अर्थात् एक नवीन विरोधी दृष्टान्त को उपस्थित करता है। ऐसे स्थल पर प्रतिदृष्टान्तसम जाति मानी गई है। यहाँ पर वार्तिककार भाष्यकार के उदाहरण को पर्याप्त मानते हैं[5]। भाष्य के उदाहरण को स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार रखा जा सकता है[6]—यदि वादी का अनुमान निम्नलिखित हो—

---

१. न्यायभाष्य–५।१।९। २. न्यायवार्तिक–५।१।९, पृष्ठ ५३६।

३. न्यायवार्तिक–५।१।९, पृष्ठ ५३६।

४. न्यायसूत्र–भाष्य–वार्तिक–५।१।१० (वार्तिक पृष्ठ ५३७)।

५. न्यायवार्तिक–५।१।९, पृष्ठ ५३६। ६. न्यायभाष्य–५।१।९।

'आत्मा क्रियावान् है,
क्रियाजनक गुण से युक्त होने के कारण,
लोष्ट के समान', तो जातिवादी का उत्तर इस प्रकार होगा—
'आत्मा निष्क्रिय है,
क्रियाजनक गुण से युक्त होने के कारण,
आकाश (क्रियाजनकगुण—वायुसंयोग) के समान'। किन्तु उक्त उदाहरण भी अधिक तर्कसंगत नहीं है। जाति के विवेचन में वार्तिककार को स्वयं वादी के प्रकृत अनुमान को छोड़कर नये अनुमान को अपनाना पड़ा और तात्पर्यटीकाकार ने स्पष्ट शब्दों में वादी के अनुमान को अनुमानाभास माना है (देखिये 'साधर्म्यसम जाति)। हाँ, जाति के अंश को कहाँ तक तर्कसंगत माना जा सकता है क्योंकि क्रियाजनक गुण से युक्त होने के कारण कोई पदार्थ निष्क्रिय नहीं हो सकता, किन्तु जातिवादी यही मानता है।

विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य ने इस जाति का विवेचन करते समय पूर्वगामी अनुमान और जाति के उदाहरण दिये हैं, जिन्हें पूर्णतः तर्कसंगत माना जा सकता है[1]—यदि वादी का अनुमान इस प्रकार हो—
'शब्द अनित्य है,
उत्पन्न होने के कारण,
घट के समान', तो जातिवादी का उत्तर निम्नलिखित रूप में होगा—
'शब्द नित्य है,
आकाश के समान' यही क्यों न माना जाये, वादी का कथन क्यों माना जाये ? इस लेखक ने दिखलाया है कि बिना हेतु के ही केवल विरोधी दृष्टान्त देकर जातिवादी किसी के अनुमान में दोष निकालने का असफल प्रयत्न करता है।

प्रतिदृष्टान्त को केवल उपस्थित कर देने मात्र से ही दृष्टान्त का खण्डन नहीं हो सकता। तर्क द्वारा यह भी स्पष्ट करना चाहिये कि प्रतिदृष्टान्त क्यों मान्य है और दृष्टान्त क्यों मान्य नहीं। जब तक ऐसा नहीं होता, दृष्टान्त की मान्यता खण्डित नहीं होती[2]।

१३. अनुपलब्धिसम जाति—पक्ष के साध्य की सिद्धि हेतु के द्वारा की जाती है। हेतु भी पक्ष में रहता है। यदि पक्ष उत्पत्तिशील पदार्थ होगा तो उसमें रहनेवाला हेतु पक्ष की उत्पत्ति के पहिले अविद्यमान होगा। जातिवादी

१. न्यायसूत्रवृत्ति–५।१।९। २. न्यायभाष्य–५।१।११।
न्यायवार्तिक–५।१।११, पृष्ठ ३३७–३८।

अविद्यमान हेतु से पक्षगत साध्य की सिद्धि न मानकर अनुमान को दुष्ट सिद्ध करने का प्रयास कर सकता है। ऐसी स्थिति में अनुपलब्धिसम जाति मानी जाती है। उदाहरणस्वरूप यदि वादी का अनुमान-वाक्य निम्नलिखित हो—

'शब्द अनित्य है,
उत्पन्न होने के कारण,
घट के समान', तो जातिवादी का वाक्य इस प्रकार होगा—
'शब्द नित्य है,
(उत्पत्ति के पूर्व शब्द में) उत्पत्तिशीलता का अभाव होने के कारण,
परमाणु के समान'

जातिवादी का कथन है कि शब्द अनित्य न होकर नित्य ही होगा क्योंकि शब्द के उत्पन्न होने के पूर्व शब्द में उत्पत्तिशीलता, जो कि अनित्यता का हेतु है, न रह सकेगी। कारण, धर्मी (शब्द) के अभाव में धर्म (उत्पत्ति-शीलता) का भी अभाव रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि शब्द में अनित्यत्व का हेतु नहीं मिला। 'अनित्यत्व' के हेतु के अभाव में वह अनित्य नहीं हुआ, और अनित्य न होने के कारण शब्द की नित्यता ही सिद्ध हुई।

'अनुत्पत्तिसमजाति' पद में प्रयुक्त 'अनुत्पत्ति' पद भी साभिप्राय है। इसका अर्थ है 'उत्पत्ति के पहिले न होना', प्रकृतस्थल में शब्द की उत्पत्ति के पहिले अनित्यत्व के कारण का न होना।

अनुत्पत्तिसम जाति को असदुत्तर बताते हुये कहा गया है कि शब्द के उत्पन्न होने के पूर्व शब्द की सत्ता ही नहीं होती है, इसलिये जो स्वयं विद्यमान नहीं है उस शब्द में अन्य कोई पदार्थ कैसे रह सकता है[1]? शब्द की उत्पत्ति होने के पूर्व शब्दाभाव होने के कारण हम किसी पदार्थ को कह भी नहीं सकते, उत्पन्न होने पर ही शब्द को शब्द कहा जाता है। उत्पन्न होने पर उसमें उत्पत्तिधर्मकता आती है और इस प्रकार शब्द उत्पत्तिधर्मक होने से अनित्य माना जाता है।

१४. संशयसम जाति—भाष्यकार के संशयसम सम्बन्धी विवरण को पर्याप्त मानकर वार्तिककार ने इस जाति पर भी अधिक विचार नहीं किया है[2]।

जहाँ विरुद्धसाध्यक हेतु के उपस्थित होने पर सन्देह उत्पन्न हो जाता है, संशयसम जाति मानी जाती है। यदि उपसंहारवाक्य का स्वरूप इस प्रकार हो—

'शब्द अनित्य है,

---

१. न्यायभाष्य—५।१।१३, न्यायवार्तिक—५।१।१३, पृष्ठ ५३८,
२. न्यायवार्तिक—५।१।१४, पृष्ठ ५३९

प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण,

घट के समान[१], और उक्त उपसंहारवाक्य का प्रत्यवस्थान करते हुये यदि कहा जाये—'शब्द और घट दोनों प्रयत्न-रूप हेतु से उत्पन्न होते हैं सही, किन्तु इस प्रश्न की समानता के कारण ही शब्द को अनित्य मान लेना उचित नहीं। कारण, इन्द्रियग्राह्यता जैसे अनित्य घट में है उसी प्रकार नित्य सामान्य में भी है और वह इन्द्रियग्राह्यता शब्द में भी विद्यमान है। ऐसी स्थिति में शब्द सामान्य की भाँति नित्य है अथवा घट की भाँति अनित्य है, इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है। इस प्रकार पक्ष में साध्य संदिग्ध ही रह जाता है, निर्णीत नहीं हो पाता है। इस प्रकार से जातिवादी का प्रकृत कथन: संशयसम जाति कहा जाता है।

'ऐन्द्रियकत्व' धर्म को लेकर जिस प्रकार शब्द की नित्य सामान्य से समानता है उसी प्रकार 'प्रयत्नान्तरीयकत्व' धर्म को लेकर शब्द में सामान्य की विषमता भी विद्यमान है। ऐसी स्थिति में समानता के आधार पर वादी शब्द को सामान्य की तरह नित्य नहीं सिद्ध कर सकता। अतएव नित्यता एवं अनित्यता ये दोनों कोटियाँ शब्द में आपन्न नहीं हो पातीं। अतः साध्य का संशय उपस्थित करके प्रकृत अनुमान को वादी दुष्ट नहीं सिद्ध कर सकता। समानता एवं विषमता दोनों के निर्णयस्थल में यदि संशय माना जाये तो संशय कहीं भी उच्छिन्न न हो सकेगा एवं तदनुसार निर्णय भी न हो सकेगा क्योंकि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा'[२] इत्यादि संशयस्थल में हस्तपादादि या शाखा-पल्लवादि के निर्णय द्वारा विषमता का निर्णय होने पर भी उच्चैस्तरत्व आदि सामान्य धर्म का निर्णय रहने के कारण वह समानता जिसके कारण पहिले संशय होता था विद्यमान ही रहती है। अतः उक्त प्रकार से वादी संशय उपस्थित करके प्रकृत अनुमान में बाधा नहीं पहुँचा सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि शब्द में अनित्यता का अनुमान केवल साधर्म्यमात्र के आधार पर नहीं किया जा रहा है अपितु व्याप्य (हेतु) के अस्तित्व से। इस प्रकार जातिवादी का कथन निःसार प्रतीत होता है।

वार्तिककार ने साधर्म्यसम और संशयसम जाति के अन्तर का उल्लेख किया है। यद्यपि दोनों जातियाँ समानता के आधार पर किसी अनुमान में दोष निकालने में सहायक सिद्ध होती हैं किन्तु साधर्म्यसम जाति में प्रयुक्त तथाकथित हेतु अनुमान और जाति दोनों के उदाहरण में नहीं होता, जैसा

---

१. न्यायभाष्य—५।१।१४ २. न्यायभाष्य—५।१।१५

कि साधर्म्यसम जाति (संख्या १) के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। वहाँ हेतु अमूर्तत्व है जो शब्द में रहता है, घट में नहीं। इसके विपरीत संशयसम जाति का हेतु–'ऐन्द्रियकत्व' शब्द एवं शब्दत्व दोनों उदाहरणों में रहता है[1]।

१५. प्रकरणसम जाति—इस जातिस्थल में पक्ष एवं प्रतिपक्ष दोनों का प्रयोग समानता और विषमता के आधार पर होता है। वादी के अनुमान में दोष देने के अतिरिक्त अपने मत को निश्चित भी समझा जाता है[2]।

प्रकृत जाति के विवेचन को वार्तिककार ने विशेष स्थान नहीं दिया है। भाष्य के ही विवेचन को उन्होंने प्रधानता दी है। केवल प्रकरणसम जाति का अन्य दो जातियों–साधर्म्यसम एवं संशयसम से अन्तर बतलाया है[3]।

प्रकरणसम जाति के दो प्रभेद होते हैं—साधर्म्यनिमित्तक एवं वैधर्म्य-निमित्तक। सूत्रों में प्रथम प्रभेद ही मिलता है, जब कि भाष्य में दोनों प्रभेदों का उल्लेख है।

(क) साधर्म्यनिमित्तक प्रकरणसम जाति–यदि वादी के अनुमान का स्वरूप इस प्रकार हो[4]—

'शब्द अनित्य है,
प्रयत्न द्वारा उत्पन्न होने के कारण,
घट के समान', तो जातिवादी का उत्तर तात्पर्यटीकाकार की दृष्टि में इस प्रकार होगा[5]—

'शब्द नित्य है,
सुने जाने के कारण,
शब्दत्व के समान'

प्रकृत जाति का स्वरूप भाष्य एवं वार्तिक में उदाहरण देकर नहीं समझाया गया है।

(ख) वैधर्म्य निमित्तक प्रकरणसम जाति—वैधर्म्यनिमित्तक प्रकरण-सम जाति का उदाहरण तात्पर्यटीका में ही मिलता है, इसके पूर्व भाष्य और वार्तिक में नहीं मिलता। यदि वादी के अनुमान का स्वरूप निम्नलिखित हो—

'शब्द अनित्य है,
उत्पन्न होने के कारण,

---

१. न्यायवार्तिक–५।१।१४, पृष्ठ ५३९
२. न्यायसूत्र–भाष्य–तात्पर्यटीका–५।१।१६ (तात्पर्यटीका पृष्ठ ६८२)
३. न्यायवार्तिक–५।१।१६, पृष्ठ ५४०
४. न्यायभाष्य–५।१।१६ ५. तात्पर्यटीका–५।१।१६, पृष्ठ ६८१।

जो उत्पन्न नहीं होता, वह अनित्य भी नहीं होता, जैसे आकाश', तो जातिवादी का उत्तर इस प्रकार होगा—

'शब्द नित्य है,
स्पर्श के अयोग्य होने के कारण,
जो स्पर्श के योग्य होता है, वह अनित्य होता है, जैसे घट'

प्रकरणसम जाति को इसलिए असदुत्तर माना जाता है कि दोनों प्रकरणों में से जब तक किसी एक का निर्णय नहीं हो जाता तब तक वादी के कथन का खण्डन नहीं हो सकता[1]।

१६. अहेतुसम जाति—भाष्य में ही इस जाति का विवेचन हो पाया है, वार्तिक और तात्पर्यटीका में उल्लेखनीय विचार नहीं हुआ है।

जो हेतु अहेतु के समान होता है उसे अहेतुसम जाति कहा जाता है। जातिवादी का कहना है कि हेतु को साध्य का साधक माना जाता है। किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वह हेतु साध्य के पूर्व, पश्चात् अथवा एक ही काल में रहता है? जातिवादी उक्त तीनों स्थितियों का खण्डन करता है। उसकी युक्ति है कि साध्य के पूर्व हेतु का अस्तित्व मानने पर साध्य और हेतु के बीच सम्बन्ध ही मान्य न हो पायेगा क्योंकि जब साध्य विद्यमान ही न होगा तो हेतु के साथ उसका सम्बन्ध ही कैसे होगा? यदि हेतु को साध्य के पश्चात् होने वाला माना जाये तो भी समस्या नहीं सुलझती क्योंकि हेतु ही जब न होगा तो वर्तमान साध्य का साधन किसे माना जायेगा? हेतु एवं साधन की स्थिति को एक ही काल में इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि समकालिक बायें और दाहिने सींग की तरह कोई भी दो पदार्थ एक दूसरे के हेतु या साध्य नहीं हो सकते[2]।

इस जाति को असदुत्तर इसलिए कहा गया है कि प्रत्यक्ष ज्ञान का निराकरण अनुमान द्वारा नहीं किया जा सकता। कौन किसका हेतु अथवा साध्य है यह बात प्रत्यक्षतः अवगत होती है[3]।

१७. अर्थापत्तिसम जाति–प्रकृत जाति के स्वरूप के सम्बन्ध में वार्तिक में विशेष विवेचन नहीं हुआ है। भाष्य के विवेचन को बहुत कुछ अंशों में पर्याप्त समझ कर उसी की ओर सङ्केत कर दिया गया है[4]।

---

१. न्यायसूत्र–भाष्य-वार्तिक-तात्पर्यटीका–५।१।७।
२. न्यायभाष्य–५।१।१८। ३. न्यायभाष्य–५।१।१९।
४. न्यायवार्तिक–५।१।२१, पृष्ठ ५४१।

भाष्य में अर्थापत्तिसम जाति का स्वरूप इस प्रकार है—जब प्रतिपक्षी अपने मत का समर्थन अर्थापत्ति के द्वारा करता है तब प्रतिपक्षी के द्वारा उपस्थित उत्तर को अर्थापत्तिसम जाति माना जाता है[१]। यदि सिद्धान्ती शब्द को अनित्य सिद्ध करता हुआ कहे कि—

'शब्द अनित्य है,

प्रत्यत्न से उत्पन्न होने के कारण,

घट के समान', तो जातिवादी का उत्तर इस प्रकार होगा—यदि प्रयत्नजन्य होने के कारण शब्द अनित्य होगा तो अर्थापत्ति से यही सिद्ध होता है कि 'अस्पर्शत्व' धर्म से युक्त होने के कारण आकाश की भाँति शब्द भी नित्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि अनित्य के साधर्म्य से यदि कोई वस्तु अनित्य होती है तो अर्थापत्ति से यही सिद्ध होता है कि नित्य के साधर्म्य से कोई वस्तु नित्य हो सकती है।

यह जाति इसलिए दोष युक्त मानी जाती है कि अर्थापत्ति से स्वेच्छया जिस किसी भी अनिर्दिष्ट विषय को नहीं लिया जा सकता अपितु समर्थ हेतु ही किसी विषय (साध्य) को सिद्ध कर सकता है। कुछ कहे जाने पर उससे अतिरिक्त प्रत्येक विषय अर्थापत्ति से नहीं सिद्ध हो सकता। 'घड़ा नीला है' इस वाक्य का यह अर्थ नहीं कि घड़े के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु नीली नहीं। कहने के अभिप्राय को समझकर ही किसी विषय का खण्डन करना चाहिए नहीं तो 'प्रतिपक्ष की हानि' भी पूर्व अनिर्दिष्ट होने के कारण सिद्ध हो जायेगी। फिर अर्थापत्ति ऐकान्तिक नहीं, जैसा कि हेतु या व्याप्ति है। 'ओले पड़े' का अर्थ यह नहीं कि पानी बिल्कुल नहीं गिरा[२]। इस प्रकार शब्द को अनित्य सिद्ध करने वाले व्यक्ति के अभिप्राय को जानकर भी अर्थापत्ति से उसके विपरीत शब्द को नित्य नहीं सिद्ध किया जा सकता।

वार्तिककार ने अर्थापत्तिसम जाति के प्रयोग करने का कारण और प्रकार बतलाया है। जातिवादी जब वादी के मत का सीधे खण्डन करना असम्भव समझता है तब अर्थापत्ति के सहारे शब्दों का मनमाना अर्थ करके वादी के मत का खण्डन करने का दुःसाहस करता है[३]।

१८. अविशेषसम जाति—अविशेषसम जाति का भाष्यगत विवेचन वार्तिककार को शब्दशः मान्य है इसीलिए उन्होंने भाष्य की ओर संकेत किया

१. न्यायभाष्य—५।१।२१। २. न्यायभाष्य—५।१।२२।

३. न्यायवार्तिक—५।१।२२, पृष्ठ ५४१।

है। वार्तिककार ने प्रकृत जाति का साध्यसम जाति से होने वाले अन्तर का उल्लेख किया है[1]।

शब्द को अनित्य माननेवाले वादी के अनुमानवाक्य—

'शब्द अनित्य है,

प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण,

घट के समान' के अनुसार प्रयत्नजन्यता (प्रयत्न से उत्पन्न होना) धर्म 'शब्द' एवं 'घट' दोनों में पाया जाता है, अतएव वे दोनों अनित्य माने जाते हैं। इसी आधार पर जातिवादी कहता है कि विद्यमान होना (सद्भाव) धर्म सभी भाव पदार्थों में पाया जाता है, अतएव सभी भाव पदार्थ एक जैसे हुये, उनमें कुछ भी अन्तर नहीं—विशेषता नहीं। विशेषता न होने के कारण इस जाति को अविशेषसम कहा जाता है[2]।

इस जाति के असद्धेतु होने का कारण यह है कि पक्ष एवं दृष्टान्त में 'प्रयत्नजन्यता'—रूप समानधर्म के मिलने पर एक दूसरा धर्म—'अनित्यत्व' भी समान रूप से दोनों में मिलता है, किन्तु जातिवादी के मत में ऐसी व्यवस्था न्यायसंगत न हो पायेगी क्योंकि सद्भाव रूप समानधर्म के मिलने पर कौन सा ऐसा दूसरा धर्म मिल सकता है जो सब में पाया जाये? यदि अनित्यत्व धर्म को लिया जाये तो यह भी उचित नहीं क्योंकि सभी भाव पदार्थ अनित्य नहीं होते। दूसरे, प्रतिज्ञा में सभी भावपदार्थ आ जाते हैं, इसलिये उदाहरण प्रतिज्ञाक्षेत्र के भीतर से ही होगा, जो न्यायसंगत नहीं। इस प्रकार शब्द का अनित्यत्व ही सिद्ध होता है[3]।

वार्तिककार ने प्रकृत जाति एवं साधर्म्यसम जाति के बीच होने वाले अन्तर को स्पष्ट करते हुये कहा है कि यद्यपि ये दोनों जातियाँ समानता पर आश्रित रहती हैं किन्तु साधर्म्यसम जाति से एक पदार्थ की समानता लेकर अनुमान में दोष निकाला जाता है जब कि अविशेषसम जाति के द्वारा सभी पदार्थों की समानता लेकर[4]।

१९. उपपत्तिसम जाति—जिस जाति के द्वारा विरुद्ध हेतुओं की सिद्धि दिखलाकर अनुमान में दोष निकाला जाये उसे उपपत्तिसम जाति कहते हैं[5]।

यदि वादी के अनुमान का स्वरूप इस प्रकार हो—

---

१. न्यायवार्तिक-५।१।२३, पृष्ठ ५४२।

२. न्यायभाष्य ५।१।२३। ३. न्यायभाष्य ५।१।२४।

४. न्यायवार्तिक ५।१।२३, पृष्ठ ५४२। ५. न्यायसूत्र-भाष्य ५।१।२५।

'शब्द अनित्य है,
प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण,
घट के समान', तो जातिवादी उक्त अनुमान को लेकर कह सकता है कि उक्त प्रकार से शब्द को अनित्य मानने पर भी निम्नलिखित प्रकार से उसे नित्य भी सिद्ध किया जा सकता है[1]:—

'शब्द नित्य है,
स्पर्श का विषय न होने के कारण,
जैसे आकाश'

यहाँ हम देखते हैं कि 'प्रयत्नजन्यता' और 'अस्पर्शत्व' ये दो हेतु माने गये हैं जो क्रमशः शब्द को अनित्य और नित्य सिद्ध करते हैं।

प्रकृत जाति को सदुत्तर न मानने का कारण यह है कि दोनों कारणों को सही मान लेने पर शब्द की अनित्यता का खण्डन नहीं हो सकता क्योंकि खण्डन मानने पर दोनों हेतुओं की मान्यता नहीं रह सकेगी।

वार्तिक और तात्पर्यटीका में प्रकरणसमजाति और उपपत्तिसमजाति में अन्तर बताया गया है[2]। यद्यपि इन दोनों जातियों में पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों की शक्ति समान होती है किन्तु प्रकरणसम जाति की विशेषता यह है कि वहाँ जातिवादी वादी के अनुमान का खण्डन करता है कि वादी का अनुमान शुद्ध नहीं है और यहाँ (उपपत्तिसमजाति में) जातिवादी वैसा न कहकर इस प्रकार कहता है कि वादी की युक्ति के अनुसार जैसे शब्द में अनित्यता उपपन्न होती है मेरे कथन के अनुसार शब्द में नित्यता भी तो उपपन्न होती है। इस प्रकार दोनों जातिवादियों के कथन की शैली में अन्तर होने के कारण प्रकरणसम एवं उपपत्तिसम को एक नहीं माना जा सकता।

२०. उपलब्धिसम जाति—वादी के द्वारा निर्दिष्ट हेतु के अभाव होने पर भी जब जातिवादी साध्य की सिद्धि दिखलाकर वादी के अनुमान में दोष निकालता है तब उपलब्धिसम जाति मानी जाती है[3]। वार्तिककार ने भाष्यकार के विवेचन को और अधिक स्पष्ट किया है। इस जाति के द्वारा वादी के साधन को अव्यापक दिखलाकर उसके अनुमान में दोष दिखलाने का प्रयास किया जाता है[4]।

---

१. न्याय-भाष्य ५।१।२५।
२. न्यायवार्तिक ५।१।२५ पृष्ठ ५४२, तात्पर्यटीका—५।१।२५ पृष्ठ ६८५।
३. न्यायभाष्य ५।१।२७। ४. न्यायवार्तिक—५।१।२७, पृष्ठ ५४३।

यदि वादी का अनुमान इस प्रकार हों—

'शब्द अनित्य है,

उत्पन्न होने के कारण,

घट के समान', तो जातिवादी आक्षेप कर सकता है कि हवा चलने पर जब वृक्ष की शाखा टूट जाती है तब भी शब्द उत्पन्न होता है और उसे अनित्य भी माना जाता है। यहाँ शब्द की उत्पत्ति किसी व्यक्ति के प्रयत्न का परिणाम नहीं है। इस प्रकार वादी के द्वारा निर्दिष्ट हेतु के अभाव होने पर भी साध्य की सिद्धि हो जाती है[1]। तात्पर्यटीकाकार ने इस जात्युत्तर को पूर्वानुमानवादी के हेतु में जातिवादी के द्वारा किया जाने वाला भागासिद्धत्व का आरोप बतलाया है[2]।

जातिवादी का उक्त आक्षेप उचित नहीं क्योंकि प्रयत्नजनकता रूप कारण के कहने का तात्पर्य यही है कि प्रयत्न द्वारा शब्द की उत्पत्ति होती है। इसका अर्थ यह नहीं कि दूसरे कारणों से शब्द की उत्पत्ति नहीं हो सकती अथवा वह (शब्द) अनित्य नहीं हो सकता[3]।

२१. अनुपलब्धिसम जाति—प्रकृत जाति के विवेचन के अवसर पर वार्तिककार ने भाष्य की ओर संकेत कर दिया है और स्वयं प्रकृत जाति का अन्य जातियों एवं निग्रहस्थान से अन्तर दिखलाया है।

भाष्य में इस जाति का विवेचन इस प्रकार है[4]—वादी शब्द को अनित्य मानता है किन्तु जातिवादी उसे नित्य बताकर वादी के कथन का खण्डन करता है। जातिवादी की दृष्टि में प्रच्छन्न शब्द जल की भाँति पहिले से ही विद्यमान रहा करता है किन्तु किन्हीं आवरणों के कारण जैसे जल छिपा रहता है, दृष्टिगोचर नहीं होता वैसे शब्द भी नहीं सुना जाता। जातिवादी कहता है कि यदि आवरण की अनुपलब्धि के कारण आवरण का अभाव माना जाये तो 'आवरण की अनुपलब्धि' की अनुपलब्धि से 'आवरण की अनुपलब्धि का अभाव' भी मानना होगा। अर्थात् आवरण का अस्तित्व मान्य होना चाहिए। यही प्रकृत जाति का स्वरूप है।

प्रकृत जाति के असदुत्तर होने का कारण इस प्रकार है—जातिवादी ने यहाँ आवरण की सिद्धि अनुपलब्धि के विषय के रूप में लिया है, जो कि

१. न्यायभाष्य– ५।१।२७। २. तात्पर्यटीका ५।१।२७ पृष्ठ–६८६।
३. न्यायभाष्य ५।१।२८ ४. न्यायभाष्य ५।१।२९।

सर्वथा असंभव है। वस्तुस्थिति यह होती है कि उपलब्धि का विषय भाव पदार्थ होता है और अनुपलब्धि अभावात्मक होने के कारण उपलब्धि का विषय नहीं हो सकती[1]। अतः उसकी अनुपलब्धि दिखलाकर आवरण का अस्तित्व नहीं सिद्ध किया जा सकता। यदि आवरण होता तो अवश्य प्राप्त होता, किन्तु प्राप्त नहीं हो रहा है अतः आवरण का अस्तित्व है ही नहीं। ऐसी स्थिति में 'आवरण की सिद्धि के कारण विद्यमान शब्द की अनुपलब्धि प्रच्छन्न जल की भाँति होती है' ऐसा नहीं कहा जा सकता।

वार्तिक में सव्यभिचार हेत्वाभास, हेत्वन्तर निग्रहस्थान, अर्थापत्तिसम जाति एवं अनुपलब्धिसम जाति के अन्तर का उल्लेख किया गया है[2]। प्रकृत जाति को सव्यभिचार हेत्वाभास नहीं माना जा सकता क्योंकि जब शब्द के गोपन के लिए आवरण की संभावना ही नहीं है तो 'आवरण की अनुपलब्धि की अनुपलब्धि'-रूप हेतु से किसी की सिद्धि ही नहीं होती है। प्रकृत साध्य के प्रति व्यभिचारी होने वाले हेतु से उसके प्रति व्यापक होने वाले अन्य साध्य की सिद्धि होती है और इसीलिए इस जाति को हेत्वन्तर निग्रहस्थान भी नहीं माना जा सकता। हेत्वन्तर निग्रहस्थान के स्थल में विशेषण जोड़कर हेतु को समर्थ बनाने का प्रसंग आता है। यहाँ वह इसलिए संभव नहीं कि 'अनुपलब्धि की अनुपलब्धि'-स्वरूप हेतु स्वयं अविद्यमान होने के कारण उसमें किसी को विशेषणरूप में जोड़ा भी नहीं जा सकता। प्रकृत जाति को अर्थापत्तिसम जाति भी नहीं माना जा सकता। इस विषय को तात्पर्यटीकाकार ने भली भांति स्पष्ट किया है[3]! उन्होंने कहा है कि अर्थापत्तिसम जाति वहाँ मानी जाती है जहाँ जातिवादी पूर्वानुमान-वादी से इस प्रकार कहता है कि 'अर्थापत्ति' से वह सिद्ध होता है जो कि वादी का अनभिप्रेत है।

२२. अनित्यसम जाति—यदि अनुमानगत पक्ष और उदाहरण के साधर्म्य के द्वारा किसी वस्तु को अनित्य सिद्ध किया जाये और प्रतिवादी सभी पदार्थों को अनित्य बताकर वादी के अनुमान का खण्डन करे तो वहाँ अनित्यसम जाति मानी जाती है। यदि वादी का अनुमान वाक्य निम्नलिखित हो[4]—

'शब्द अनित्य है,
प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण,

---

१. न्यायभाष्य—५।१।३० २. न्यायवार्तिक ५।१।३१ पृष्ठ ५४४
३. तात्पर्यटीका ५।१।३१ पृष्ठ ६९० ४. न्यायभाष्य ५।१।३२

घट के समान' तो जातिवादी शब्द की अनित्यता का खण्डन करते हुए कह सकता है कि यदि समान धर्म के आधार पर ही कोई वस्तु अनित्य होने लगे तो घट (जो कि भाव पदार्थ है) के साथ संसार के सभी भाव पदार्थों का भावत्वेन साधर्म्य होने के कारण आकाश आदि सभी भाव पदार्थ अनित्य हो जायें। जातिवादी यहाँ घट और अन्य भाव पदार्थों के बीच सत्ता को समान धर्म मानता है।

वार्तिककार ने प्रकृत स्थल पर अविशेषसम और अनित्यसम जाति में होने वाले भेद को स्पष्ट किया है। अविशेषसम जाति के प्रयोग से सभी वस्तुओं को अविशेष बताया जाता है[1]। वार्तिककार के कथन का अभिप्राय यह है कि अविशेषसम जाति वहाँ होती है जहाँ जातिवादी सबको 'अविशेष' बतलाता है अर्थात् सब में अविशेषता की आपत्ति देता है, जब कि अनित्यसमजातिस्थल में सबमें अनित्यता की आपत्ति दी जाती है। इसलिए आपत्तिदान के स्वरूप में अर्थात् कथन की शैली में अन्तर होने के कारण अविशेषसम और अनित्यसम को एक नहीं माना जा सकता।

इस जाति के असदुत्तर होने के कारण पर भाष्यकार एवं वार्तिककार का विवेचन लगभग समान है। यदि उक्त अनित्य के साधर्म्य से शब्द में अनित्यत्व धर्म की असिद्धि मानी जाये तो प्रतिषेध (जातिवादी की दृष्टि में वादी का कथन) के साधर्म्य (अवयवपञ्चत्व) से प्रतिषेध (जातिवादी के द्वारा किया गया खण्डन) की भी असिद्धि होगी[2]। वस्तुतः साधर्म्यमात्र पर आश्रित हेतु के द्वारा किसी साध्य की सिद्धि नहीं होती, अपितु एक विशेष प्रकार के साधर्म्य पर आधारित हेतु द्वारा ही साध्य की सिद्धि हो सकती है।

२३. नित्यसम जाति—भाष्य में इस जाति का स्वरूप इस प्रकार है—यदि जातिवादी विकल्प का आश्रय लेकर वादी के अनुमान में पाये जाने वाले हेतु से शब्द की नित्यता को ही सिद्ध मानकर अनुमानवाक्य में दोष निकाले तो ऐसे स्थल पर नित्यसम जाति माननी चाहिये[3]। जातिवादी शब्द की अनित्यता की आलोचना करते हुये पूछ सकता है कि 'शब्द अनित्य है' इस स्थल में शब्दगत 'अनित्यत्व' धर्म शब्द में नित्य रहता है अथवा अनित्य (नित्य नहीं अपितु कभी कभी)? । यदि अनित्यत्व धर्म शब्द में नित्य

१. न्यायवार्तिक ५।१।३२, पृष्ठ ५४४

२. न्यायभाष्य ५।१।३३ ३. न्यायभाष्य ५।१।३५

रहता है तो शब्द भी नित्य रहेगा क्योंकि धर्म बिना धर्मी के नहीं रह सकता यहाँ 'अनित्यत्व' धर्म है और शब्द धर्मी। यदि विकल्प से शब्दगत अनित्यत्व को अनित्य माना जाये तो अनित्यत्व के अभाव से शब्द से नित्यत्व को स्वीकार करना पड़ेगा[1]। वार्तिककार ने भी भाष्यकार के समान ही इस जाति का विवेचन किया है।

भाष्य और वार्तिक में इस जाति के असद्धेतु होने के कारण पर विचार किया गया है। भाष्य में नित्य एवं अनित्य शब्दों के अभिप्राय को स्पष्ट किया गया है। किसी शब्द का मनमाना अर्थ नहीं ले लेना चाहिये। वार्तिककार का कथन है कि यदि शब्द की अनित्यता को स्वीकार न किया जायेगा तो जातिवादी का यह प्रश्न कि शब्द 'नित्य' है या 'अनित्य' ही निरर्थक हो जायेगा[2]।

२४. कार्यसम जाति—भाष्य के विवेचन के अनुसार कार्यसम जाति उस स्थल पर मानी जाती है जहाँ निर्दिष्ट एवं अनिर्दिष्ट दोनों प्रकार के हेतुओं से 'समानरूप से कार्य की उत्पत्ति या सिद्धि दिखलाकर वादी के अनुमान को दूषित सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है[3]। उदाहरण के लिये प्रयत्नजनकता को घटोत्पत्ति में हेतु माना जाता है किन्तु दीवार आदि से व्यवहित विषय की अभिव्यक्ति व्यवधान के हटने से होती है न कि उत्पत्ति होने से। यहाँ भी वार्तिककार का विवेचन भाष्यकार के विवेचन से मिलता-जुलता है।

इस जाति को असदुत्तर इसलिये माना जाता है कि शब्द को अकार्य—प्रकाश्य मानना और उसे प्रयत्नजन्य न मानकर किन्हीं कारणों से व्यङ्ग्य मानना उचित नहीं क्योंकि शब्द की अभिव्यक्ति में अवरोध उत्पन्न करने वाला आवरण जैसा कोई कारण प्रकृतस्थल में नहीं पाया जाता[4]।

वार्तिक में प्रकृत जाति का संशयसम एवं साधर्म्यसम जाति से अन्तर बतलाया गया है। संशयसम जाति में जिस हेतु का प्रयोग किया जाता है वह अनुमान एवं जाति दोनों के उदाहरणों में पाया जाता है। यह विशेषता कार्यसम जाति में नहीं होती। कार्यसम जाति के प्रयोगस्थल में हेतु का

---

१. न्यायभाष्य ५।१।३५ न्यायवार्तिक ५।१।३५, पृष्ठ ५४५-४६।
२. न्यावार्तिक ५।१।३६, पृष्ठ ५४६
३. न्यायभाष्य ५।१।३७ ४. न्यायभाष्य ५।१।३८

अरोप करके वादी के अनुमान में दोष निकाला जाता है किन्तु साधर्म्य-सम जाति का प्रयोग केवल समानता के ही आधार पर होता है, वहाँ हेतु का आरोप नहीं होता[1]।

जातियों के प्रयोग से झूठी बात को सच सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है, अतएव पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये जातियों का ज्ञान अपेक्षित है। जातियों का यथार्थ ज्ञान होने पर ही सद्धेतु का प्रयोग संभव है और सद्धेतु द्वारा ही विषयों का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। सारांश यही है कि जातियों का ज्ञान प्रमा में अत्यन्त सहायक है।

निग्रहस्थान

निग्रहस्थान वादी और प्रतिवादी की उस परिस्थिति को कहते हैं जिसके कारण वादी अथवा प्रतिवादी बोलने से रोक दिया जाता है। शास्त्रार्थ में वादी और प्रतिवादी अपने अपने सिद्धान्तों की रक्षा प्रत्येक उपाय से करते हुये पाये जाते हैं। जब वादी या प्रतिवादी अनुचित उपायों का आश्रय लेते हैं, विषय को नहीं समझ पाते हैं, उत्तर नहीं देते हैं अथवा जब इसी प्रकार की अन्य स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं तब उक्त उपायों का आश्रय लेने वाले व्यक्ति को बोलने से रोक दिया जाता है[2]। इस प्रकार उसकी पराजय होती है। यदि निग्रहस्थान की व्यवस्था न हों तो शास्त्रार्थ का कभी अन्त न हो सके और वादी एवं प्रतिवादी मनमानी बातें बका करें।

निग्रहस्थानों की संख्या—निग्रहस्थान दो प्रकार के होते हैं—विप्रतिपन्नजन्य एवं अप्रतिपन्नजन्य[3]। कहे हुये विषय को अन्यथा अर्थात् विपरीत समझने को विप्रतिपत्ति कहते हैं और न समझने को अप्रतिपत्ति। उक्त दोनों प्रकार के निग्रहस्थानों के भी विभिन्न दृष्टिकोणों से अवान्तर भेद होते हैं। सूत्रकार ने २२ प्रकार के निग्रहस्थानों का विवेचन किया है। वार्तिककार उक्त विभाजन से सहमत होते हुये भी उदाहरणों के भेद से निग्रहस्थानों की संख्या अनन्त मानते हैं[4]।

निग्रहस्थान पुरुष का दोष—निग्रहस्थान को दोष माना गया है। प्रतिज्ञाहानि, अवयवों का कम या अधिक होना आदि अवयव के दोष हैं किन्तु

---

१. न्यायवार्तिक ५।१।३८, पृष्ठ ५४७

२. न्यायभाष्य १।२।१९ न्यायभाष्य ५।२।१

३. न्यायसूत्र १।२।१९ ४. न्यायवार्तिक ५।२।१, पृष्ठ ५५०

वार्तिककार निग्रहस्थान के सभी दोषों को पुरुष का दोष मानते हैं[1]। करण या क्रिया का दोष करण या क्रिया का नहीं माना जा सकता क्योंकि किसी भी क्रिया या करण द्वारा सम्बद्ध कार्य का निर्वाह अवश्य होता है परन्तु क्रिया एवं करण पुरुषतन्त्र होते हैं और पुरुष स्वतन्त्र। इसलिये निग्रहस्थान-रूप दोष पुरुष के माने जाने चाहिये।

निग्रहस्थान के प्रभेद—२२ प्रकार के निग्रहस्थान इस प्रकार हैं—(१) प्रतिज्ञाहानि (२) प्रतिज्ञान्तर (३) प्रतिज्ञाविरोध (४) प्रतिज्ञा-संन्यास (५) हेत्वन्तर (६) अर्थान्तर (७) निरर्थक (८) अविज्ञातार्थ (९) अपार्थक (१०) अप्राप्तकाल (११) न्यून (१२) अधिक (१३) पुनरुक्त (१४) अननुभाषण (१५) अज्ञान (१६) अप्रतिभा (१७) विक्षेप (१८) मतानुज्ञा (१९) पर्यनुयोज्योपेक्षण (२०) निरनुयोज्यानुयोग (२१) अपसिद्धान्त और (२२) हेत्वाभास।

१ प्रतिज्ञाहानि—प्रतिदृष्टान्त के धर्म को अपने अनुमान के दृष्टान्त में स्वीकार कर लेने पर प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान माना जाता है[2]। भाष्य में प्रकृत निग्रहस्थान का स्वरूप निम्नलिखित रूप में पाया जाता है—

यदि वादी का कथन इस प्रकार हो कि—

'शब्द अनित्य है,

इन्द्रिय का विषय होने के कारण,

घट के समान' और प्रतिवादी इस पर कहे कि 'ऐन्द्रियक होने वाला सामान्य तो अनित्य नहीं होता है, फिर ऐन्द्रियक सामान्य की तरह ऐन्द्रियक घट को नित्य क्यों न माना जाये' तो ऐसा कहने पर यदि प्रथम वादी यह स्वीकार करले कि 'घट नित्य है' ऐसी परिस्थिति में पहिले अनित्य घट को दृष्टान्त बनाकर शब्द को अनित्य कहने वाला प्रथम वादी यतः अपने दृष्टान्त-भूत घट को सामान्य जाति की तरह नित्य मान लेता है, अतः उस दृष्टान्त के आधार पर उसके द्वारा की गई 'शब्द अनित्य है' यह प्रतिज्ञा खंडित अर्थात् त्यक्त हो जाती है। अतएव ऐसे वादी के ऊपर प्रतिज्ञाहानि दोष आता है जिसका उद्भावन करके प्रतिवादी अथवा मध्यस्थ उसे आगे बोलने से रोक सकता है। अतः प्रतिज्ञाहानि को निग्रहस्थान माना जाता है।

---

१. न्यायवार्तिक ५।२।१, पृष्ठ ५४९-५१ २. न्यायभाष्य ५।२।२

यहाँ हम देखते हैं कि वादी की ओर से 'शब्द अनित्य है' यह प्रतिज्ञा की गई है किन्तु अन्त में वादी ने 'घट नित्य है' कहकर पूर्वकृत प्रतिज्ञा—'शब्द नित्य है' को छोड़ दिया। इसीलिये इसे प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान कहते हैं।

वार्तिककार ने सूचित किया है कि कुछ लोग इस निग्रहस्थान को हेत्वाभास मानते हैं न कि हेत्वाभास से पृथक् एक स्वतंत्र निग्रहस्थान क्योंकि 'यदि सामान्य जाति इन्द्रिय का विषय होने से नित्य है तो घट भी नित्य हो सकता है' ऐसा स्वीकार करके 'ऐन्द्रियकत्व' हेतु यहाँ अनैकान्तिक हो जाता है[१]।

२. प्रतिज्ञान्तर—यदि वादी की प्रतिज्ञा का खण्डन प्रतिवादी कर दे और वादी पुनः अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये दूसरी प्रतिज्ञा (प्रतिज्ञान्तर) का आश्रय ले तो इस स्थिति में प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रहस्थान मान्य होता है जैसा कि भाष्य के निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा[२]—

वादी—'शब्द अनित्य है,
इन्द्रिय का विषय होने के कारण,
घट के समान'

प्रतिवादी—'सामान्य जाति इन्द्रिय का विषय होने पर भी नित्य मानी जाती है'

वादी—इन्द्रिय का विषय होने पर भी सामान्य जाति व्यापक मानी जाती है, घट के समान अव्यापक नहीं और शब्द सामान्य जाति के समान व्यापक नहीं किन्तु घट के समान अव्यापक है, अतः घट के समान उसे अनित्य ही होना चाहिये।

हम देखते हैं कि वादी ने 'शब्द अनित्य है' इस अपनी प्रतिज्ञा को एक दूसरी प्रतिज्ञा 'शब्द अव्यापक है' से सिद्ध करना चाहा। इसलिये यहाँ उक्त निग्रहस्थान माना गया। निग्रहस्थान मानने का कारण यही है कि एक प्रतिज्ञा की सिद्धि दूसरी प्रतिज्ञा से नहीं हो सकती। प्रतिज्ञा की सिद्धि हेतु एवं दृष्टान्त नामक वाक्य के अवयवों से होती है।

वादी को यह पता नहीं कि प्रतिज्ञा को सिद्ध करने की सामर्थ्य किस साधन में होती है। साधन के अज्ञान के कारण अथवा विरुद्धज्ञान के कारण प्रकृत निग्रहस्थान को वार्तिककार अप्रतिपत्तिजन्य अथवा विप्रतिपत्तिजन्य निग्रहस्थान मानते हैं[३]।

---

१. न्यायवार्तिक ५।२।२, पृष्ठ ५५१। २. न्यायभाष्य ५।२।३।
३. न्यायवार्तिक ५।२।३, पृष्ठ ५५३।

३. प्रतिज्ञाविरोध—जहाँ प्रतिज्ञा और हेतु का परस्पर विरोध हो वहाँ प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान माना जाता है। उदाहरण इस प्रकार है—

'द्रव्य गुण से पृथक् होता है,
दोनों में अभेद होने के कारण'[1]।

वार्तिककार ने प्रतिज्ञाविरोध का उदाहरण 'श्रमणा गर्भिणी' वाक्य से देकर प्रतिज्ञावाक्य के अपने शब्दों में ही परस्पर विरोध दिखलाया है[2]। सूत्रकार एवं भाष्यकार केवल प्रतिज्ञा और हेतु में परस्पर विरोध को ही प्रकृत निग्रहस्थान मानते हैं।

तात्पर्यटीकाकार ने प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान के सौत्रलक्षण को उपलक्षण माना है। उन्होंने कहा है कि सूत्र-रूप उपलक्षण में प्रतिज्ञा एवं हेतु ये दो ही प्रतियोगी के रूप में लिये गये हैं किन्तु दृष्टान्त आदि अवयव भी प्रतियोगी के रूप में लिये जा सकते हैं। उनकी दृष्टि से प्रकृत निग्रहस्थान को 'प्रतिज्ञाविरोध' न कहकर 'विरोध' कहा जाना चाहिये। जब वाक्यगत पदार्थों का परस्पर व्याघात प्रतीत होता हो और अन्य प्रमाण उसके विरोधी हों तभी 'विरोध' नामक निग्रहस्थान माना जाना चाहिये[3]।

४. प्रतिज्ञासन्यास—पक्ष के निषेध हो जाने पर प्रतिज्ञात अर्थ को छोड़ देने पर 'प्रतिज्ञासन्यास' नामक निग्रहस्थान होता है। भाष्य में इसका उदाहरण इस प्रकार है[4]।

वादी—'शब्द अनित्य है,
इन्द्रिय का विषय होने के कारण'।

प्रतिवादी—'सामान्य जाति इन्द्रिय का विषय है, किन्तु अनित्य नहीं। शब्द भी इन्द्रिय का विषय है, वह अनित्य न हो'।

वादी—'कौन कहता है कि शब्द अनित्य है?

इस प्रकार अपने प्रतिज्ञात अर्थ का खण्डन हो जाने पर उसको त्याग देने के कारण 'प्रतिज्ञासन्यास' नामक निग्रहस्थान हुआ। वार्तिककार इसे विप्रतिपत्तिजन्य मानते हैं[5]।

५. हेत्वन्तर—सामान्य हेतु के प्रयोग करने पर जब उसका खण्डन कर दिया जाता है तब उस सामान्य हेतु को कार्योपयोगी—सद्धेतु का रूप देने के

१. न्यायभाष्य ५।२।४। २. न्यायवार्तिक ५।२।४, पृष्ठ ५५३।
३. तात्पर्यटीका ५।२।४, पृष्ठ ७०३। ४. न्यायभाष्य ५।२।५।
५. न्यायवार्तिक ५।२।५, पृष्ठ ५५४।

लिये यदि उसी में विशेषण जोड़ दिया जाये तो उस निग्रह स्थान को 'हेत्वन्तर' कहा जायेगा[1]। वार्तिक में इस निग्रहस्थान पर उल्लेखनीय विचार नहीं हुआ है[2]।

६. अर्थान्तर—प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध न रखने वाले अर्थ की उद्भावना से 'अर्थान्तर' नामक निग्रहस्थान माना जाता है अर्थात् असङ्गत अथवा असम्बद्ध प्रलाप की स्थिति में 'अर्थान्तर' निग्रहस्थान होता है। भाष्य का उदाहरण इस प्रकार है[3]—

"शब्द नित्य है,

'स्पर्श का विषय न होने के कारण' यह हेतु है,

'हेतु' शब्द 'हिनोति' धातु में 'तुनि' प्रत्यय के योग से बनता है। यह कृदन्त पद है। पद चार होते हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात"।

यहाँ हम देखते हैं कि साध्य था 'शब्द का नित्यत्व' किन्तु व्याख्या की जाने लगी 'हेतु' शब्द की जो यहाँ सर्वथा अप्रासङ्गिक एवं अनावश्यक है। प्रकृत स्थल में वार्तिककार ने स्वयं विचार न करके भाष्य की ओर संकेत किया है[4]।

७. निरर्थक–नाम और अर्थ की अथवा साध्य और साधन की अनुपपत्ति होने के कारण निरर्थक नामक निग्रहस्थान माना जाता है, जैसे—

क च ट त प नित्य हैं,

ज ब ग ड द श के धर्म के कारण,

झ भ ञ घ ढ ध ष् के समान,

भाष्यकार उक्त कथन को निरर्थक मानते है[5]। कारण, इससे अभिधान एवं अभिधेय की उपपत्ति नहीं हो पाती है। प्रकृत निग्रहस्थान में साध्य-साधनभाव का अभाव होने के कारण वार्तिककार इसे प्रामाणिक नहीं मानते हैं[6]।

८ अविज्ञातार्थ—यदि वादी ऐसे शब्दों का प्रयोग करे जो क्लिष्ट होने के कारण, अप्रचलित होने के कारण, शीघ्रता से उच्चारण करने के कारण अथवा इसी प्रकार के किसी दोषविशेष से युक्त होने के कारण तीन बार कहे जाने

---

१. न्यायभाष्य ५।२।६
२. न्यायवार्तिक ५।२।६, पृष्ठ ५५४।
३. न्यायभाष्य ५।२।७।
४. न्यायवार्तिक ५।२।७ पृष्ठ ५५५
५. न्यायभाष्य ५।२।८
६. न्यायवार्तिक ५।२।८ पृष्ठ ५५५

पर भी समासद्, विद्वान् और प्रतिवादी उनका अर्थ स्पष्टतः न समझ सकें तो भाष्यकार वादी को 'अविज्ञातार्थ' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत मान लेते हैं[१]। वार्तिककार ने इस निग्रहस्थान को अज्ञानजन्य माना है[२]

९. अपार्थक—जहाँ अनेक पद अथवा वाक्यों का पूर्वापर क्रम से अन्वय न हो, प्रकृत निग्रहस्थान माना जाता है। भाष्यकार का उदाहरण इस प्रकार है[३]—

'दस अनार, छः पुये, कुण्ड, चमड़ा, बकरी' आदि अथवा 'यह कुमारी का रौरुक (रुरुमृग के चर्म से बनी) शय्या है', 'उसका पिता सो नहीं गया है'।

वार्तिककार ने 'निरर्थक' एवं 'अपार्थक' निग्रहस्थानों के भेद को बताया है। निरर्थक का सम्बन्ध केवल वर्णों से होता है जब कि अपार्थक का सम्बन्ध पद और वाक्यों से होता है[४]।

१०. अप्राप्तकाल–प्रतिज्ञा, हेतु आदि वाक्य के अवयवों का निर्धारित क्रम के अनुसार प्रयोग न करके उलटफेर कर प्रयोग करने पर 'अप्राप्तकाल' नामक निग्रहस्थान होता है[५]।

वार्तिककार ने प्रकृत निग्रहस्थान को निग्रहस्थान न मानने की युक्तियों की आलोचना की है[६]। अवयवों को उलटफेर कर प्रयोग करने पर अर्थ का सम्यक् ज्ञान नहीं हो पाता। अवयवों का क्रमविशेष में प्रयोग अर्थ के ज्ञान के लिये नहीं अपितु अर्थ के क्रम के लिये होता है। लौकिक वाक्यों के शब्दों में उलटफेर होने पर सम्यक् ज्ञान होने पर भी न्यायवाक्यों के अवयवों में उलटफेर नहीं माना जा सकता क्योंकि शास्त्रीय अर्थों की अभिव्यक्ति यथास्थान करने के लिए अवयवों का यथास्थान प्रयोग आवश्यक है।

११. न्यून—जब, प्रतिज्ञा हेतु आदि अवयवों में से किसी एक की न्यूनता अर्थात् कमी हो तो प्रकृत निग्रहस्थान माना जाता है सभी अवयव मिलकर साध्य की सिद्धि में साधक होते हैं। किसी एक भी अवयव के कम हो जाने पर साध्य की सिद्धि न हो सकने के कारण भाष्यकार उसे निग्रहस्थान मानते हैं[७]।

१. न्यायभाष्य ५।२।९ २. न्यायवार्तिक ५।२।९ पृष्ठ ५५५
३. न्यायभाष्य ५।२।१० ४. न्यायवार्तिक ५।२।१० पृष्ठ ५५५
५. न्यायभाष्य ५।२।११ ६. न्यायवार्तिक ५।२।११ पृष्ठ ५५५-५६
७. न्यायभाष्य ५।२।१२

वार्तिककार ने प्रकृत निग्रहस्थान .को हेत्वाभास बताने वालों के मत को नहीं स्वीकार किया है, क्योंकि यहाँ हेतु आदि के दोषों का प्रकरण उपस्थित नहीं होता है[1]।

१२. अधिक—जब न्यायवाक्य में एकाधिक हेतु अथवा एकाधिक उदाहरण हों तो वहाँ 'अधिक' नामक निग्रहस्थान होता है[2]। एक हेतु या उदाहरण से ही काम चल जाने के कारण दूसरे का प्रयोग व्यर्थ हो जायेगा। इसी दोष के कारण भाष्यकार ने ऐसी स्थिति में निग्रहस्थान माना है[3]।

वार्तिककार ने इस मान्यता का खण्डन किया है कि हेतु और उदाहरण आदि के अधिक होने पर विषय स्पष्ट हो जाता है[4]। यदि विषय की स्पष्टता के लिये एक दूसरे अवयव का प्रयोग आवश्यक हो तो इस दूसरे अवयव के विषय को स्पष्ट करने के लिये तीसरे अवयव का प्रयोग आवश्यक होगा। इस प्रकार अनवस्था नामक दोष की आपत्ति उठ खड़ी होगी। सच तो यह है कि एक ही अवयव से विषय उसी प्रकार स्पष्ट हो जाता है जैसे एक दीपक से कोई पदार्थ।

१३. पुनरुक्त—'पुनरुक्त' शब्द का अर्थ होता है 'किसी एक बात को फिर से कहना 'फिर से कहने' का अर्थ है 'बिना प्रयोजन दोहराना'।

सूत्रकार के अनुसार 'पुनरुक्त' निग्रहस्थान दो प्रकार का होता है—शब्दगत एवं अर्थगत[5]। भाष्यकार ने इन दोनों का उदाहरण दिया है[6]—शब्दगत पुनरुक्त निग्रहस्थान उस स्थान पर होता है जहाँ व्यर्थ ही शब्द को दोहराया जाता है, जैसे—'शब्द नित्य है, शब्द नित्य है'। अर्थगत पुनरुक्त निग्रहस्थान में शब्दों का हेर-फेर करके अर्थ वही रखा जाता है, जैसे 'शब्द अनित्य है, ध्वनि निरोधधर्मक होती है'।

अनुवाद और पुनरुक्त में अन्तर होता है। पुनरुक्त व्यर्थ दोहराये जाने को कहते हैं और अनुवाद सार्थक पुनःकथन को कहते हैं, जैसा कि निगमन के लक्षण से प्रकट होता है—'हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्।'। निगमन एक प्रकार से प्रतिज्ञा का अनुवाद होता है[7]।

वार्तिककार ने इस निग्रहस्थान पर उल्लेखनीय विचार नहीं किया है।

१. न्यायवार्तिक—५।२।१२, पृ० ५५६-५७ २. न्यायसूत्र—५।२।१३,
३. न्यायभाष्य—५।२।१३ ४. न्यायवार्तिक—५।२।१३, पृ० ५५७
५. न्यायसूत्र—५।२।१४ ६. न्यायभाष्य—५।२।१४
७. न्यायभाष्य—५।२।१४

१४. अननुभाषण—वादी के द्वारा उच्चरित वाक्य के अर्थ को सभा के सदस्यों ने ठीक तरह से समझ लिया हो किंतु प्रतिवादी तीन बार भी सुनकर यदि चुप्पी लगा गया हो तो प्रकृत निग्रहस्थान माना जाता है[१]।

बौद्ध प्रकृत निग्रहस्थान को नहीं मानते क्योंकि गुण-दोषों के बाद में निर्णीत होने पर ही निग्रहस्थान का निश्चय होगा। वार्तिककार ने उक्त मान्यता का खण्डन किया है। वादी बिना उत्तर पाये किस आधार पर शास्त्रार्थ करेगा? इसलिये अननुभाषण को निग्रहस्थान मानना आवश्यक है[२]।

१५. अज्ञान—वादी की जिस बात को सभा के सदस्यों ने समझ लिया हो किन्तु तीन बार कहने पर भी प्रतिवादी न समझ पा रहा हो तो ऐसी स्थिति में 'अज्ञान' नामक निग्रहस्थान माना जाता है[3]।

वार्तिककार ने इस निग्रहस्थान को अप्रतिपत्ति से होने वाला ठीक ही माना है[४]।

१६. अप्रतिभा—प्रतिपक्षी की बात का उत्तर न सूझने पर 'अप्रतिभा' नामक निग्रहस्थान होता है[५]।

१७. विक्षेप—उत्तर न सूझने पर प्रतिवादी आवश्यक कार्य का बहाना करके यदि शास्त्रार्थ को रोकना चाहता हो अथवा स्थगित करना चाहता हो तो 'विक्षेप' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत होता है अर्थात् बहाना बनाकर शास्त्रार्थ को टालने से प्रकृत निग्रहस्थान माना जाता है[६]।

१८. मतानुज्ञा—प्रतिपक्ष के दोष को अपने पक्ष में स्वीकार करके पुनः उस दोष को प्रतिपक्षी पर इस प्रकार मढ़ने से कि 'आपके पक्ष में भी तो यही दोष है' 'मतानुज्ञा' निग्रहस्थान होता है। दूसरे के द्वारा आरोपित दोष का निवारण कर्तव्य हुआ करता है। इस निग्रहस्थान में प्रतिवादी के द्वारा आरोपित दोष का निवारण न करके वस्तुतः उसे स्वीकार कर लिया जाता है[७]। भले ही उस दोष का आरोपण प्रतिवादी पर क्यों न किया जाये किन्तु उससे अपने पर आरोपित दोष का निवारण नहीं हो पाता।

वार्तिक में मतानुज्ञा को निग्रहस्थान न मानने की आलोचना मिलती है। मतानुज्ञा को निग्रहस्थान न मानने वाले दार्शनिकों की युक्ति है कि मतानुज्ञा से प्रसङ्ग उठाया जाता है, जैसे 'यदि आदमी होने से कोई चोर होता तो

---

१. न्यायभाष्य—५।२।१६
२. न्यायवार्तिक—५।२।१७, पृ० ५५८
३. न्यायभाष्य—५।२।१७
४. न्यायवार्तिक—५।२।१८, पृष्ठ ५५८
५. न्यायभाष्य—५।२।१८
६. न्यायभाष्य—५।२।१९
७. न्यायभाष्य—२।२।२०

आप भी चोर हुये' यहाँ मतानुज्ञा से प्रतिपक्षी के भी चोर होने का प्रसङ्ग उठाया जाता है, फिर प्रसङ्ग को उठाने वाला व्यक्ति निगृहीत क्यों होगा ? वार्तिककार का उत्तर है कि प्रश्न का उत्तर देना कर्तव्य होता है न कि प्रसङ्ग उठाना। प्रसङ्ग तभी उठाया जाता है जब प्रश्न का उत्तर न मालूम हो[1]।

१९. पर्यनुयोज्योपेक्षण—निगृहीत होने योग्य व्यक्ति को निगृहीत न करने पर प्रकृत निग्रहस्थान होता है[2]। कुछ दार्शनिक इसे निग्रहस्थान नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि प्रतिपक्षी को निगृहीत न करना चाहिये अपितु बोलने का अवसर देना चाहिये जिससे वह कुछ बोलेगा जिसका उत्तर दिया जाये। किन्तु निग्रहयोग्य व्यक्ति को निगृहीत न करने का कारण वार्तिककार के मत से अज्ञान ही हो सकता है। अतएव पर्यनुयोज्योपेक्षण को निग्रहस्थान मानना ही उचित होगा[3]।

२०. निरनुयोज्यानुयोग—निग्रहस्थान का अवसर न होने पर भी यदि कोई व्यक्ति किसी को निगृहीत करने के लिये बोल पड़े तो वह स्वयं निगृहीत हो जाता है[4]।

२१. अपसिद्धान्त—अपने सिद्धान्त की प्रतिज्ञा करके फिर उसी के विरुद्ध कुछ कहने पर 'अपसिद्धान्त' नामक निग्रहस्थान होता है[5]।

२२. हेत्वाभास—हेत्वाभासों का विवेचन चतुर्थ अध्याय में किया गया है। हेत्वाभास हेतु नहीं होते, अतएव इनके प्रयोग करनेवाले व्यक्ति को भी निगृहीत किया जाता है।



१. न्यायवार्तिक–५।२।२१ पृष्ठ ५५९ २. न्यायसूत्र—५।२।२१
३. न्यायवार्तिक–५।२।२२ पृष्ठ ५५९-६० ४. न्यायसूत्र—५।२।२२
५. न्यायभाष्य–५।२।२३

अध्याय ६

न्यायवार्तिक में आत्मा एवं तत्संबंधी अन्य पदार्थ

आत्मा

शरीर, इन्द्रिय एवं मन के सहारे आत्मा पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करती है तथा विषयों का उपभोग करती है, अतएव इस अध्याय में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, ज्ञान (बुद्धि) और मन के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है।

आत्मा के अस्तित्व को न माननेवालों की युक्तियों का प्रबल खण्डन वार्तिक में पाया जाता है। मुख्यतः बौद्धमतों की आलोचना की गई है। भाष्य एवं वार्तिक में आत्मा को इच्छा आदि गुणों का अधिकरण माना गया है। मोक्षावस्था में वह इन गुणों से रहित हो जाती है[1]। उस काल में वह सभी विकारों से मुक्त हो जाती है क्योंकि भोग के साधन शरीर आदि का अभाव हो जाता है। आत्मा नित्य है, उसका विनाश किसी प्रकार भी सम्भव नहीं[2]। प्रत्येक शरीर में आत्मा भिन्न-भिन्न होती है क्योंकि एक आत्मा के द्वारा अनुभूत विषय का दूसरी आत्मा प्रतिसन्धान नहीं कर पाती। शरीर, इन्द्रिय एवं मन से भिन्न सर्वव्यापक आत्मा शरीर में रहती हुई इन्द्रियों तथा मन के द्वारा विषयों का उपभोग करती है। शरीर उसके भोग का अधिष्ठान है। शुभ एवं अशुभ कर्मों के फलानुसार उसे शरीर की प्राप्ति होती है। प्राप्त शरीर के नाश एवं पुनः नवीन शरीर की प्राप्ति न होने से उसे अपवर्ग की प्राप्ति होती है।

आत्मा के अस्तित्व में प्रमाण

आत्मसत्ता में शब्दप्रमाण—आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान शब्दप्रमाण के द्वारा भी होता है। वेदों एवं उपनिषदों में आत्मा की सत्ता और उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही साथ उसके ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति भी बतलाई गई है। न्याय के आचार्य आगम प्रमाण के द्वारा सिद्ध आत्मा की सत्ता को युक्तियों और अनुमान के द्वारा पुष्ट करते हैं[3]। वार्तिककार

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।२२, पृष्ठ ८४-८७। २. न्यायवार्तिक—३।१।१, पृष्ठ३३७।

३. 'आगमेन प्रतिपन्न आत्मा, तस्यानुमानेन प्रतिसंधानार्थम्'

(न्यायवार्तिक—१।१।४०, पृष्ठ ६४)

ने बौद्धग्रन्थों के आधार पर उनके अनात्मवाद का खण्डन किया है। उनका कथन है कि यदि बौद्ध भी अपने सिद्धान्त-ग्रंथों को प्रमाण मानें तो उन्हें भी आत्मा की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी और वह भी पञ्चस्कन्धों से अतिरिक्त आत्मा के रूप में। यद्यपि बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान को छोड़कर शब्द को प्रायः अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानते तो भी अपने सिद्धान्तग्रन्थ को उन्हें प्रमाण मानना ही होगा। वार्तिककार कहते हैं कि 'सर्वाभिसमयसूत्र' में ग्रथित बुद्ध के उपदेश से पञ्चस्कन्धात्मक आत्मा से अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि होती है[1]। अतएव बौद्धों के लिये भी न्याय जैसी आत्मा मान्य होनी चाहिये। इस प्रकार शब्दप्रमाण के द्वारा बौद्धों को भी आत्मा की सत्ता माननी चाहिये।

पाश्चात्य विद्वान् हार्डी का मत है कि उद्योतकर बौद्धों के प्रासङ्गिक उद्धरण का ग़लत अर्थ करके उनके सिद्धान्तों की आलोचना की है[2]।

आत्मसत्ता में अनुमान प्रमाण—लिङ्गविशेष के प्रत्यक्ष से लिङ्गी विशेष का ज्ञान अनुमान प्रमाण द्वारा होता है। सूत्रकार ने आत्मा के ज्ञान में इच्छा, द्वेष,, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान को लिङ्ग माना है। इनके द्वारा भी आत्मसत्ता की सिद्धि होती है[3]। भाष्यकार ने उद्धरण देकर उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है—भूतकाल में कोई व्यक्ति किसी प्रिय पदार्थ को पाकर सुखी हुआ था, पुनः कालान्तर में .उसी जाति के पदार्थ को देखकर उसे प्राप्त करने की इच्छा करता है। वस्तु के ग्रहण करने की यह इच्छा और पूर्वप्राप्त सुख का पूर्व अनुभव एककर्तृक है, क्योंकि जिसने भूतकाल में सुख प्राप्त किया था वही अब उस पदार्थ के प्राप्त करने की इच्छा कर रहा है। इस प्रकार एक स्थायी आत्मा की सिद्धि होती है[4]।

जन्मान्तर के सिद्ध होने से आत्मा की सिद्धि होती है। सद्यः उत्पन्न शिशु में हर्ष, भय और शोक को प्रकट करनेवाले स्मित, रोदन आदि विकार-रूप चिह्न-लिङ्ग देखे जाते हैं। शिशु ने इन सबका अनुभव इस लोक में नहीं किया

---

१. "तस्मान्नास्त्यात्मेति ब्रुवाणः सिद्धान्तं बाधत इति। तथा 'भारं वो भिक्षवो देशयिष्यामि भारहारंच, भारः पंचस्कन्धा भारहारश्च पुद्गल इति। यश्चात्मा नास्तीति स मिथ्यादृष्टिको भवतीति' सूत्रम्"
(न्यायवार्तिक—३।१।१, प्रस्तावना, पृष्ठ ३२९)

2. Vidyabhusana : A History of Indian Logic, pp. 126-27 (footnote 2)

३. न्यायसूत्र—१।१।१०।

४. न्यायभाष्य—१।१।१०।

अतएव अनुभूत सुख आदि विषय पूर्वजन्म से ही सम्बद्ध होंगे। पूर्वजन्म के सिद्ध होने से आत्मा की सत्ता एवं नित्यता की सिद्धि होती है[१]।

अनात्मवादी नवजात शिशु के हर्ष, शोक आदि विकारों की सिद्धि के लिये पुनर्जन्म मानने की आवश्यकता नहीं समझता। उसकी युक्ति है कि भौतिक पदार्थों में स्वतः क्रियायें हुआ करती हैं, जैसे कमल स्वयं खिलता और बन्द होता है। किन्तु नास्तिक की यह युक्ति दोषपूर्ण है। कमल जैसे अनित्य एवं अनात्म पदार्थों में यद्यपि खिलने एवं बन्द होने जैसी क्रियायें होती हैं[२] किन्तु ऐसा होने का कारण भूतों एवं वातावरण का प्रभाव है न कि आकस्मिक ही ऐसा हो जाया करता है[३]। लोहा भी चुम्बक की ओर अकारण गतिशील नहीं होता। यदि ऐसा होता तो लोहा अन्य पदार्थों की ओर भी गतिशील होता[४]। इसी प्रकार शिशुगत क्रियाओं का कारण कुछ होना चाहिये और वह है पूर्वजन्म का अनुभव। उक्त विवेचन से पुनर्जन्म की और पुनर्जन्म से आत्मा के नित्य होने की सिद्धि होती है। अनात्मवादी की यह युक्ति है कि जैसे उत्पत्तिशील द्रव्य के गुणों में परिवर्तन हुआ करता है इसी प्रकार पहिले से अविद्यमान आत्मा के उत्पन्न होने के बाद राग आदि दोषों की उत्पत्ति भी मान्य हो सकती है। उसके लिये पूर्वजन्म मानना आवश्यक नहीं। यह उक्ति भी दोषपूर्ण है, क्योंकि राग का कारण संकल्प होता है और संकल्प का आधार स्मृति, विषय का अनुभव एवं पूर्वशरीर आदि होते हैं। अतएव आत्मा की सत्ता एवं उसकी नित्यता की सिद्धि होती है[५]।

आत्मसत्ता की सिद्धि एक दूसरी युक्ति से भी होती है। संघात सदैव दूसरे के लिये होता है। चक्षु आदि संघात होने के कारण किसी आत्मा जैसे भोक्ता के लिये होंगे। बौद्ध चक्षु आदि संघात को एक दूसरे संघात (रूपआदि के संघात) के लिये उपयोगी मानने का आग्रह कर सकते हैं। किन्तु 'संघात परार्थ है' का अर्थ यह नहीं कि एक संघात दूसरे संघात के लिये और दूसरा तीसरे के लिये और इसी प्रकार आगे भी क्योंकि इससे अनवस्था नामक दोष का प्रसङ्ग होगा। अतएव रूप आदि स्कन्ध के अतिरिक्त आत्मा की सत्ता की सिद्धि माननी ही पड़ेगी[६]।

आत्मसत्ता में प्रत्यक्षप्रमाण—आत्मसत्ता की सिद्धि अनुमान आदि प्रमाणों के अतिरिक्त प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी होती है क्योंकि आत्मा के प्रत्यक्ष

१. न्यायवार्तिक—३।१।९, पृष्ठ ३६५। २. न्यायसूत्र—३।१।१९।
३. न्यायसूत्र—३।१।२०। ४. न्यायसूत्र—३।१।२२-२३।
५. न्यायवार्तिक-३।१।२६-२७पृष्ठ ३७०। ६. न्यायवार्तिक-३।१।१,पृष्ठ ३४४।

होने में लिङ्गज्ञान एवं लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध के स्मरण की अपेक्षा नहीं होती अपितु 'अहं'-प्रत्ययरूप अनुभव के द्वारा सभी को स्वसत्ता का ज्ञान होता है[1]। किसी भी व्यक्ति को स्वसत्ता में अविश्वास नहीं होता।

बौद्ध रूप आदि विषयों को आत्मा मानकर भी उनमें अहंप्रत्ययरूप अहंकार की सिद्धि नहीं कर सकते। 'मैं रूप हूँ', 'मैं वेदना हूँ' इस प्रकार का अनुभव नहीं होता। 'मैं गोरा हूँ', मैं शरीर हूँ' ऐसे वाक्यों का प्रयोग लाक्षणिक है। प्रकृत स्थल में 'मतुप्' का लोप हो गया है। 'मैं शरीरवाला हूँ', 'मैं गौरवर्ण-वाला हूँ' आदि प्रयोग होने चाहिये[2]।

आत्मविषयक बौद्धमत की आलोचना

विज्ञानवादी बौद्ध क्षण-क्षण परिवर्तनशील ज्ञानसन्तान को ही आत्मा मानते हैं जिसका खण्डन भाष्य में मिलता है। आत्मा को क्षण-क्षण में परिवर्तनशील मान लेने पर कोई व्यक्ति किसी विषय का अनुभव और स्मरण दोनों कार्य न कर सकेगा क्योंकि प्रत्येक बुद्धि (ज्ञान) का अपना-अपना पृथक् विषय होता है अतः जिस प्रकार एक व्यक्ति के द्वारा अनुभूत पदार्थ का स्मरण अन्य व्यक्ति नहीं कर सकता उसी प्रकार ज्ञानसन्तानगत एक ज्ञान के अनुभूत विषय का स्मरण दूसरा ज्ञान भी नहीं कर सकता। इसलिए ज्ञानसन्तान को आत्मा नहीं माना जा सकता।[3]

कर्ता, विषय और निमित्त में भेद हो जाने पर अनुभूत विषय का स्मरण न हो सकने के कारण वार्तिककार बौद्धसम्मत परिवर्तनशील ज्ञानसन्तान को आत्मा नहीं मानते। एक कर्ता के द्वारा अनुभूत विषय का स्मरण दूसरा कर्ता नहीं कर सकता। जैसे, देवदत्त के द्वारा चखे गये आम के रस का स्मरण यज्ञदत्त नहीं कर सकता क्योंकि यहाँ कर्ता में भेद है। इसी प्रकार विषय में भेद हो जाने के कारण भी स्मरण नहीं हो सकता क्योंकि अनुभूत विषय का ही स्मरण हो सकता है। ऐसा अनुभव नहीं होता कि जिस रूप को हमने देखा था यह वही स्पर्श है। निमित्तभेद से भी पूर्वानुभूत विषय का प्रतिसन्धान सम्भव नहीं। हम यह नहीं कह सकते कि जिस रूप को हमने चक्षु से देखा था उसी रूप को हम कान से सुन रहे हैं, इत्यादि। अतएव अनुभव और स्मरण में कर्ता के भेद के सम्भव न होने के कारण अनुभव और प्रतिसन्धान एककर्तृक होते हैं. इस प्रकार आत्मा की सत्ता एवं नित्यता की सिद्धि होती है।[4]

---

१. न्यायवार्तिक—३।१।१ पृष्ठ ३४१। २. न्यायवार्तिक—३।१।१ पृष्ठ ३४१।
३. न्यायभाष्य—१।१।१० ४. न्यायवार्तिक—१।१।१०, पृष्ठ ६४

अपने मत की पुष्टि में बौद्ध दार्शनिक निम्नलिखित युक्ति उपस्थित करते हैं—अनुभव और स्मरण के एककर्तृक होने से हमारे मत में बुद्धिसन्तान को आत्मा न मानिये, किन्तु बुद्धिसन्तान में पहिली बुद्धि कारण होकर विनष्ट हो जाती है। उससे उत्पन्न दूसरी बुद्धि कार्यरूप में उसका स्थान ग्रहण करती है। इस प्रकार कार्यकारणभाव मान लेने पर न्यायसंगत आत्मा का मानना आवश्यक नहीं। कार्यकारणभाव से पूर्वज्ञान उत्तरज्ञान को अपनी सम्पूर्ण शक्ति देकर विनष्ट हो जाता है। अतएव ज्ञान के भिन्न होने पर पूर्वज्ञान से समस्त शक्तिसम्पत्ति को प्राप्तकर लेने के कारण पूर्वज्ञान के द्वारा अनुभूत विषय का स्मरण परवर्ती ज्ञान कर लेगा। इस विषय का स्पष्टीकरण उदाहरण के द्वारा हो सकता है। धान से जब अङ्कुर फूटता है तब धान का नाश तो हो जाता है परन्तु वह विनष्ट होते-होते अपनी सारी शक्ति उस अङ्कुर को दे जाता है जिससे नया धान पैदा होगा। अङ्कुर हवा पानी आदि महाभूतों के द्वारा परिपालित होकर धान को ही पैदा करता है जौ को नहीं। यह इसलिए कि उसकी उत्पत्ति जौ से नहीं हुई है। यही परिस्थिति बुद्धिसन्तान के सम्बन्ध में भी है। क्षण-क्षण में विनाश होनेवाली बुधियाँ एक ही सन्तान के अन्तर्गत आती हैं। एक जाति की बुद्धियाँ होने के कारण वे एक प्रकार की होती हैं और कार्यकारण-रूप में सम्बद्ध होती हैं। इसलिए एक बुद्धि के द्वारा अनुभूत पदार्थ का स्मरण एवं प्रत्यभिज्ञा दूसरी बुद्धि कैसे नहीं कर सकती ?

वार्तिककार बुद्धियों के उक्त कार्य-कारणभाव के द्वारा भी स्मरण सम्बन्धी समस्या का हल नहीं मानते[1]। कार्य और कारण की एकता कभी नहीं सिद्ध हो सकती। कार्य और कारण सदैव एक दूसरे से भिन्न होते हैं। बौद्धमत में सभी बुद्धियाँ क्षणिक और परस्पर पृथक् होती हैं। विभिन्न बुद्धियों के उत्पन्न और विनष्ट होने का समय भिन्न होता है फिर वे एक दूसरे से सम्बद्ध होकर स्मरण को नहीं सम्पन्न कर सकती। स्मृति एकभाव है जिसके लिए भविता-आधार की अपेक्षा होगी[2]। तात्पर्यटीकाकार ने 'भाव' का अर्थ 'उत्पत्स्यमान धर्म' लिया है[3]। भाव का आधार कभी-कभी विषय भी होता है, जैसे चावल के पकने में पाचन क्रिया का आधार चावल होता है किन्तु देवदत्त के चलने में गमन-रूप भाव का आधार देवदत्त होता है। देवदत्त कर्ता है, विषय नहीं[4]। स्मृति-रूप भाव के होने में विषय को आधार नहीं माना जा सकता क्योंकि विषय के अविद्यमान होने पर भी स्मृति होती है। अतएव कर्ता-रूप

१. न्यायवार्तिक—१।१।१० पृष्ठ ६५ २. न्यायवार्तिक—१।१।१०, पृष्ठ ६६
३. तात्पर्यटीका—१।१।१० पृष्ठ २१५ ४. न्यायवार्तिक—१।१।१० पृष्ठ ६७

आत्मा को ही स्मृति का आधार मानना चाहिए। स्मृति को निराधार भी नहीं मानना चाहिए क्योंकि वर्ण-रंग आदि भाव जब निराधार नहीं रहते तब स्मृति को निराधार कैसे माना जाये ? अतएव स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा के आधार पर न्यायसम्मत आत्मा की सत्ता को स्वीकार करना होगा। इसी प्रकार अन्य आक्षेपों का भी खण्डन वार्तिक में पाया जाता है। आत्मसत्ता की सिद्धि में इच्छा आदि गुण भी प्रमाण हैं। ये गुण अन्य किसी द्रव्य में नहीं रहते हैं अतएव सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा गुणवान् आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है जिसमें इच्छा आदि गुण रहते हैं[1]।

शशविषाण की भाँति भी आत्मा की सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता[2]। 'घटो नास्ति' का अर्थ 'घट का अत्यन्ताभाव' नहीं अपितु काल एवं देशविशेष में घट का अभाव है, जैसे—'यहाँ घड़ा नहीं है' अथवा 'इस समय घड़ा नहीं है', किन्तु इनका अर्थ घड़े का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता। देशविशेष (जैसे शरीर) में आत्मा की सत्ता का निषेध उचित नहीं क्योंकि आत्मा विभु है, उसे शरीरपरिमित कैसे माना जा सकता है ? नित्य होने के कारण आत्मा काल की सीमाओं से परे है[3]। अतः काल और देश को लेकर आत्मा की सत्ता का प्रतिबंध नहीं हो सकता।

अन्य शब्दों की भांति 'आत्मा' शब्द भी सार्थक है। आत्मा के अस्तित्व को न स्वीकार करने वाला व्यक्ति 'आत्मा' शब्द का अर्थ क्या समझेगा ? यदि वह आत्मा का अर्थ 'शरीर' अथवा 'शरीर एवं इन्द्रिय आदि का संघात' माने तो 'आत्मा नास्ति' का अर्थ 'शरीर नहीं है' अथवा 'शरीर एवं इन्द्रिय आदि का संघात नहीं है' होगा। किन्तु शरीर आदि की सत्ता का निषेध प्रतिज्ञा-हानि एवं दृष्टविरोध होगा[4]। इस प्रकार भी आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

शशविषाण की भांति अनुत्पन्न होने के कारण आत्मा के अस्तित्व का खण्डन नहीं हो सकता। आत्मा उत्पन्न नहीं होती, वह नित्य है। नित्य पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। दूसरे, उत्पत्ति एवं अनुत्पत्ति धर्म हैं जो धर्मी के बिना नहीं रह सकते। अतएव प्रश्न हो सकता है कि अनुत्पत्ति किसकी होती है ? इसके उत्तर में जिसे कहा जायेगा वह आत्मा होगी। फिर 'अनुत्पन्न आत्मा' कहने से भी आत्मा की सत्ता का प्रतिषेध नहीं होता, जैसे 'अनुदकः कमण्डलुः' से कमण्डलु की सत्ता का प्रतिषेध न होकर केवल उदक की ही सत्ता का प्रतिषेध होता है। वह भी कमण्डलु-विशेष में, न कि सर्वत्र[5]।

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।१० पृष्ठ ६८ २. न्यायवार्तिक—३।१।१ पृष्ठ ३३६
३. न्यायवार्तिक—३।१।१, पृष्ठ ३३७ ४. न्यायवार्तिक—३।१।१ पृष्ठ ३३७
५. न्यायवार्तिक—३।१।१ पृष्ठ ३३९।

शशविषाण का उदाहरण प्रकृतस्थल में उपयुक्त नहीं है क्योंकि न तो शश की सत्ता का निषेध होता है और न विषाण की ही सत्ता का। लोक में गाय का विषाण—सींग प्रत्यक्षसिद्ध है। केवल दोनों के सम्बन्ध का प्रतिषेध होता है[1]।

शरीर आदि का संघात आत्मा नहीं—शरीर इन्द्रिय आदि के संघात-विशेष को बौद्ध दार्शनिक आत्मा मानते हैं। संघात विशेष को आत्मा स्वीकार कर लेने पर कर्मसिद्धान्त पर आघात पहुँचेगा। किसी के शरीर को जला देने पर व्यक्ति के शरीर बुद्धि आदि सभी स्कन्ध क्षण-क्षण में परिवर्तित हुआ करते हैं अतएव परिवर्तन हो जाने के कारण उस व्यक्ति की सत्ता दाहकाल के पश्चात् नहीं रह जाती। तदनुसार वह अधर्म का भागी नहीं हो सकता। अथवा हिंसक की मृत्यु होने के बाद उसके संघातरूप शरीर के नष्ट हो जाने से संघातरूप आत्मा को हिंसा का फल न मिल सकेगा। किन्तु हिंसा का फल किसी न किसी को अवश्य मिलना चाहिये अन्यथा अकृत के अभ्यागम और कृत के विनाश जैसे दोषों के आ जाने के कारण कर्मसिद्धान्त प्रामाणिक नहीं हो सकेगा[2]। नित्य आत्मा के स्वीकार करने पर ही कर्म का सिद्धान्त सुरक्षित रह सकता है।

बौद्धों की यह युक्ति है कि जब आत्मा को संघात से अतिरिक्त नित्य पदार्थ मान लिया जायेगा तब हिंसा की ही सिद्धि न हो सकेगी क्योंकि नित्य आत्मा का विनाश सम्भव नहीं। अतएव आत्मा को जला देने पर भी उसकी हिंसा नहीं हो सकती। यह युक्ति उचित नहीं क्योंकि हिंसा का अर्थ नित्य आत्मा का वध नहीं अपितु अविनाशी आत्मा के कर्मफलानुसार प्राप्त होने वाले शरीर एवं इन्द्रियों का विनाश करना है[3]।

इन्द्रियाँ आत्मा नहीं—यह मानना भी युक्तिविरुद्ध है कि एक इन्द्रिय जैसे चक्षु के द्वारा ही देखने और छूने के प्रतिसंधान को मान लेने से एक इन्द्रिय में ही एककर्तृकत्व आ जाने के कारण वही इन्द्रिय आत्मा हो सकती है। इन्द्रिय विशेष का अपना विषय निश्चित है। चक्षु इन्द्रिय से देखे हुये पदार्थ को पुनः देखने पर यह विचार हो सकता है कि मैं उसी पदार्थ को देख रहा हूँ जिसको पहिले देखा था' न कि "मैं उसी पदार्थ को चक्षु द्वारा देख रहा हूँ जिसका 'चक्षु से' पहिले स्पर्श किया था"। चक्षु आदि इन्द्रिय-विशेष के होने से रूप आदि विषयविशेष का ज्ञान होता है और न होने से नहीं होता।[4] यही स्थिति अन्य विषयों के सम्बन्ध में भी है। अतएव अन्ततो

१. न्यायवार्तिक–३।१।१ पृष्ठ ३४०
२. न्यायवार्तिक–३।१।४, पृष्ठ ३५०
३. न्यायवार्तिक—३।१।६, पृष्ठ ३५८
४. न्यायवार्तिक—३।१।१, पृष्ठ ३४९

गत्या इन्द्रियसमूह को ज्ञान हुआ करते हैं न कि आत्मा जैसे स्वतंत्र पदार्थ की कल्पना करना चाहिये। इस प्रकार कोई व्यक्ति इन्द्रियसमूह को आत्मा मानने का प्रयास कर सकता है।

किन्तु वार्तिककार की दृष्टि में उक्त मान्यता उपयुक्त नहीं है। इन्द्रियाँ ज्ञान का अधिकरण न होकर ज्ञान का साधन ही हो सकती हैं। जैसे प्रकाश के अभाव में किसी विषय का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है इसलिये प्रकाश यहाँ प्रत्यक्ष-ज्ञान का साधनमात्र होगा न कि ज्ञाता। इसी प्रकार इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयों के ज्ञान के प्रति करण होती हैं।[1] दूसरी बात यह भी है कि यदि एक ही इन्द्रिय सभी विषयों का ग्रहण कर सकती होती तो आत्मा जैसे अतिरिक्त पदार्थ की कल्पना संभवतः न करनी पड़ती। चक्षु आदि इन्द्रिय पृथक्-पृथक् हैं। वे अपना-अपना विषय ग्रहण करने में ही समर्थ हैं। किन्तु आत्मा सभी विषयों का ज्ञान करने वाली होती है,[2] इसलिये इन्द्रिय अथवा इन्द्रिय-समूह को आत्मा नहीं माना जा सकता।

अनुमान करना इन्द्रिय का काम नहीं है, इसलिये भाष्यकार इन्द्रिय या इन्द्रियों को आत्मा नहीं मानते। किसी पदार्थ के रूप को देखकर उसके पूर्वानुभूत गन्ध अथवा रस का अनुमान करना चेतन आत्मा का काम है। इन्द्रिय अनुमान करने में समर्थ नहीं हो सकती इसलिए इन्द्रिय आत्मा का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती[3]।

मन आत्मा नहीं—इन्द्रियाँ नियत विषयों को ही ग्रहण करती हैं परन्तु आत्मा के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। मन सभी विषयों को ग्रहण करता है। अतः कोई भी व्यक्ति यह कह सकता है कि चूँकि सभी ज्ञान मन के विषय होते हैं अतएव मन को ही आत्मा क्यों न मान लिया जाये[4]? वार्तिककार उक्त युक्ति को दोषपूर्ण मानते हैं। उक्त युक्ति में आत्मा की अपर संज्ञा 'मन' मान ली गई है। जिसे हम आत्मा कहते हैं उसी को उक्त मत में 'मन' कहा जाता है संज्ञा के भेद से वस्तुस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता[5]। किन्तु मन को आत्मा कह देने या मान लेने से एक समस्या उठती है। युगपद् सभी इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान आत्मा को क्यों नहीं होता? इसका नियामक कौन है? मन को ही आत्मा मानने वालों के पास इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं है[6]। वस्तुतः अणु मन जब जिस इन्द्रिय से संयुक्त होता

---

१. न्यायवार्तिक-३।१।२ पृष्ठ ३४९ २. न्यायवार्तिक—३।१।३, पृष्ठ ३४९
३. न्यायभाष्य—३।१।३ ४. न्यायवार्तिक-३।१।१६, पृष्ठ ३६३-६४।
५. न्यायवार्तिक-३।१।१७, पृष्ठ३६४। ६. न्यायवार्तिक-३।१।१८, पृष्ठ३६४-६५।

है उस समय उसी इन्द्रिय से ज्ञान होता है। इस प्रकार मन ज्ञान के प्रति नियामक होता है और आत्मा विषयों का ज्ञाता होता है। इसलिये आत्मा मन से अतिरिक्त पदार्थ सिद्ध होता है।

शरीर

शरीर का लक्षण—चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थ का आश्रय शरीर कहलाता है[१]। चेष्टा का अर्थ केवल स्पन्दन नहीं है क्योंकि स्पन्दन तो शुष्क वृक्ष आदि में भी दिखलाई देता है, परन्तु शुष्क वृक्ष को शरीर नहीं माना जा सकता। किसी पत्थर के भीतर दवे हुये मेढक के शरीर में स्पन्दन नहीं पाया जाता किन्तु फिर भी उसे शरीर ही माना जाता है। इसलिये यहाँ चेष्टा का अभिप्राय केवल व्यापार नहीं है[२]। वार्तिककार कहते हैं कि हित की प्राप्ति और अहित की निवृत्ति के लिये जो स्पन्दन होता है, 'चेष्टा' कहा जाता है। शुष्क वृक्ष आदि में उक्त प्रकार का स्पन्दन नहीं पाया जाता अतः हम उसे शरीर नहीं कर सकते[3]।

मेढक के शरीर में यद्यपि उस काल में, जब वह पत्थर के भीतर होता है, स्पन्दन नहीं हो सकता किन्तु पत्थर के तोड़ देने पर वह बाहर आ जाता है, तब उसमें स्पन्दन होता है। अतएव मेढक के शरीर में स्पन्दनशक्ति रहती है इसीलिये तात्पर्यटीकाकार उसे शरीर मानते हैं[४]।

शरीर की दूसरी विशेषता यह है कि वह इन्द्रिय का आश्रय होता है। वार्तिककार यहाँ आश्रय का अर्थ आधार नहीं मानते क्योंकि श्रोत्र एवं मन का आधार शरीर नहीं होता[५]। अतः यहाँ 'आधार' का अर्थ है—

शरीर के अनुग्रह से अनुगृहीत और विनाश से विनष्ट होना। भाष्यकार का भी यही अभिप्राय है[६]।

शरीर की तीसरी विशेषता अर्थ का आश्रय होना है। गन्ध, रस, रूप स्पर्श एवं शब्द ये पाँच अर्थ हैं। किन्तु इनके आश्रय घट आदि पदार्थ हुआ करते हैं, परन्तु उन्हें शरीर नहीं माना जा सकता। अतएव प्रकृतस्थल में 'अर्थ' का अभिप्राय 'इन्द्रियों के विषय' नहीं है अपितु गन्ध आदि से

१. न्यायसूत्र—१।१।११। २. तात्पर्यटीका—१।१।११, पृष्ठ २१९।
३. न्यायवार्तिक—१।१।११, पृष्ठ ६८ ४. तात्पर्यटीका—१।१।११, पृष्ठ २१९।
५. न्यायवार्तिक—१।१।११, पृष्ठ ६८–६९ ६. न्यायभाष्य—१।१।११,

उत्पन्न होने वाले सुख एवं दुःख से है। शरीर सुख एवं दुःख का आश्रय होता है[1]।

शरीर आत्मा के भोग का साधन है[2] क्योंकि शरीररहित आत्मा किसी प्रकार भी भोग को नहीं प्राप्त कर सकती। इसीलिये मोक्षावस्था में चूँकि सब प्रकार के भोगों का विराम हो जाता है, उस अवस्था में शरीर और आत्मा का संयोग नहीं माना जाता है[3]।

शरीर के प्रभेद—भाष्यकार चार प्रकार के शरीर मानते हैं— पार्थिव, आप्य, तैजस और वायव्य। मनुष्य का शरीर पार्थिव होता है। अन्य तीन प्रकार के शरीर अन्य लोकों में होते हैं। मनुष्यशरीर को पार्थिव मानने का यह अर्थ नहीं है कि उसके शरीर में जल एवं तेज आदि का किञ्चित् अंश नहीं पाया जाता अपितु इसलिये कि पृथ्वी की मात्रा सबसे अधिक होती है[4]। श्रुति के विवेचन से भी शरीर का पार्थिव होना सिद्ध होता है[5]। शरीर में पाये जाने वाले गुणों के द्वारा वार्तिककार पंचभूतों को शरीर का उपादान मानना आवश्यक समझते हैं[6]।

शरीर का कारण—शरीर की उत्पत्ति का कारण कर्म होता है। नास्तिकों के मत से शरीर की उत्पत्ति केवल भूतों के संयोग से हो जाती है। वे शरीर की उत्पत्ति में कर्म अथवा कर्मजन्म अदृष्ट को कारण नहीं मानते हैं। उनका मत है कि जिस प्रकार रेत, कंकड़, पत्थर, गेरू आदि पदार्थ कार्य का साधक होने के कारण उपभोग में लाये जाते हैं उन्हें प्राप्त करने के लिये कर्मजन्य अदृष्ट की आवश्यकता नहीं होती वैसे ही कर्मनिरपेक्ष भूतों से बना हुआ शरीर भी कार्य का साधन होने के कारण उपयोग में लाया जाता है[7]।

---

१. यद्यपि सुख एवं दुःख आत्मा के गुण हैं और आत्मा उनका गुणी है। गुण और गुणी के बीच समवाय सम्बन्ध हुआ करता है। अतः समवाय सम्बन्ध से सुख एवं दुःख का आश्रय आत्मा ही है तथापि केवल आत्मा में सुख-दुःख नहीं होता किन्तु शरीरावच्छिन्न आत्मा में सुख-दुःख होते हैं, इसलिये शरीररहित मुक्तावस्था में सुख-दुःख नहीं होते। तदनुसार शरीर को सुख-दुःख आदि का अवच्छेदक मानना आवश्यक है। इसलिये समवाय सम्बन्ध से भले ही शरीर में सुख-दुःख न हो किन्तु अवच्छेदकता सम्बन्ध से सुख-दुःख शरीर में रहते हैं। इस प्रकार शरीर को सुख-दुःख का आश्रय कहा गया है।

२. न्यायभाष्य—१।१।९। ३. न्यायभाष्य—१।१।२२।
४. न्यायभाष्य—३।१।२७। ५. न्यायसूत्र-भाष्य—३।१।३१।
६. न्यायवार्तिक—३।१।२८ पृष्ठ ३७१-७२। ७. न्यायभाष्य—३।२।६१।

नास्तिकों की उक्त युक्ति उपयुक्त नहीं है क्योंकि सिकता, कंकड़, पत्थर आदि की प्राप्ति का कारण भी कर्म होता है। प्रत्येक भोग का कारण अदृष्ट होता है दूसरे, सिकता आदि का उदाहरण भी समीचीन नहीं है। सिकता निर्बीज होता है और मनुष्य शरीर बीज से उत्पन्न होता है। शुक्र एवं शोणित से मानवशरीर की उत्पत्ति होती है तथा आहार द्वारा वृद्धि होती है। ये सब कर्म के ही रूप हैं। यदि बिना कर्म किये ही मानवशरीर की उत्पत्ति हो जाती तो पात्र में गड़े हुये अन्न के द्वारा ही मानवशरीर की भी उत्पत्ति हो जाती[1]। यदि अदृष्ट शरीर की उत्पत्ति में कारण न होता तो स्त्री और पुरुष के प्रत्येक संयोग से सन्तान की उत्पत्ति होती, किन्तु ऐसा नहीं होता है। अतएव मानना पड़ता है कि कर्म से उत्पन्न अदृष्ट के कारण शरीरकी उत्पत्ति होती है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को अपने अदृष्ट विशेष से भिन्न-भिन्न शरीरों की प्राप्ति होती है[2]।

इन्द्रिय

इन्द्रियाँ पाँच हैं—घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् एवं श्रोत्र। इनके विषय क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द हैं। ये इन्द्रियाँ क्रमशः पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाशस्वरूप हैं। उदाहरण के लिये घ्राणेन्द्रिय का गुण गन्ध है और आत्मा गन्ध का ग्रहण केवल घ्राणेन्द्रिय द्वारा ही कर सकती है, अतएव यह सिद्ध होता है कि घ्राणेन्द्रिय पृथिवी भूत से उत्पन्न हुई है। इस प्रकार भूतों के गुण विशेष के ग्रहण होने में साधनभूत विशेष इन्द्रियाँ ही भूतविशेषों से उत्पन्न हुई होंगी[3]।

भाष्यकार ने इन्द्रियों को आत्मा के भोग का साधन माना है[4]। उन्हीं के द्वारा आत्मा रूप आदि विषयों का ग्रहण करती है। इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष-ज्ञान उत्पन्न होता है जिसका विवेचन द्वितीय अध्याय में किया गया है।

इन्द्रियों की संख्या—इन्द्रियों का अस्तित्व सभीलोग मानते हैं किन्तु इन्द्रियों की संख्या के विषय में मतभेद है। न्यायसूत्रों में ही इन्द्रियों की संख्या के विषय में संदेह उपस्थित किया गया है[5]। वार्तिककार का कथन है कि बहुत से ऐसे द्रव्य होते हैं जो अनेक स्थानों में पाये जाते हैं, जैसे घट। इसके विपरीत एक ही वस्तु अनेक स्थानों में पाई जाती है, जैसे—एक अवयवी अनेक अवयवों में रहता है[6]। इसी प्रकार इन्द्रियों के सम्बन्ध में संदेह

---

१. न्यायभाष्य—३।२।६२-६४। २. न्यायवार्तिक—३।२।६६-६७, पृष्ठ ४४१-४२।

३. 'कः पुनरयं नियमः ? भूतगुणविशेषग्रहणसाधनत्वम्।
(न्यायवार्तिक—१।१।१२, पृष्ठ ७०)

४. 'भोगसाधनानीन्द्रियाणि' (न्यायभाष्य—१।१।९) ५. न्यायसूत्र—३।१।५२।

६. 'स्थानान्यत्वे नानात्वं दृष्टं यथा बहूनां घटानामिति। एकस्य च नानास्थानत्वं यथावयविन इति' (न्यायवार्तिक—३।१।५१, पृष्ठ ३५८)

होता है कि क्या इन्द्रियाँ अनेक हैं जो शरीर के अनेक स्थानों में होती हैं ? अथवा एक ही इन्द्रिय विभिन्न स्थानों में होती है ? न्यायसूत्रों में पूर्वपक्ष की ओर से केवल एक इन्द्रिय त्वक् के मानने का उल्लेख मिलता है[1]। इसके अनुसार त्वक् इन्द्रिय सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है। शरीर में कोई भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ त्वक् न हो। त्वक् के विद्यमान होने पर ही किसी विषय का ग्रहण होता है, अन्यथा नहीं। इसलिये पूर्वपक्षी केवल एक इन्द्रिय–त्वक् की ही सत्ता मानता है[2]।

किन्तु यह एकेन्द्रियवादिता मान्य नहीं है। कारण, अन्धे व्यक्ति की त्वक् इन्द्रिय नष्ट नहीं होती है। यदि त्वक् से ही सभी विषयों का ग्रहण हो जाये तो अन्धे व्यक्ति को भी दिखाई पड़ना चाहिये था किन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव भाष्यकार त्वक् को ही सभी इन्द्रियों के कार्य का निर्वाहक नहीं मानते हैं[3]। एक त्वक् को ही इन्द्रिय माननेवालों की यह युक्ति है कि अंधा इसलिये नहीं देख पाता है कि उसकी नेत्रस्थ त्वक् विकृत हो जाती है और नेत्रस्थ त्वक् में यह विशेषता होती है कि वह रूप का ग्रहण कर सकती है, जैसे त्वक् से स्पर्श का ग्रहण होता है किन्तु पूरे शरीर में व्याप्त होने पर भी धूम का ग्रहण केवल नेत्रस्थ त्वक् से ही होता है। इसी प्रकार एक त्वक् के विभिन्न स्थानों में होने के कारण उसे भिन्न-भिन्न इन्द्रियों की संज्ञा दे दी गई है।

वार्तिककार ने उक्त युक्ति की आलोचना की है। एक इन्द्रिय की सत्ता स्वीकार करके स्थान और सामर्थ्य के भेद से उसे पाँच भागों में विभक्त करदेना वदतो व्याघात हुआ[4]। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया में आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का विषय से संयोग होता है। इस प्रकार जिस इन्द्रिय से मन का संयोग होता है उसी इन्द्रिय के विषय का ग्रहण होता है। यदि एक ही इंद्रिय होती तो मन का उससे संयोग होने पर सभी विषयों का ग्रहण होता, किन्तु ऐसा नहीं होता[5]। विभिन्न इन्द्रियों के स्वभाव का अध्ययन करने से भी इन्द्रियों की अनेकता सिद्ध होती है—रूप के प्रत्यक्षस्थल में चक्षूरश्मियाँ चक्षुगोलक से निकलकर विषय तक जाती हैं जिससे शरीर और विषय के बीच व्यवधान पाया जाता है। किन्तु स्पर्श के

---

१. न्यायसूत्र–३।१।५३। २. न्यायसूत्र–३।१।५३।

३. न्यायसूत्र–३।१।५३। ४. 'न व्याघातात्……अवयवा इति'। (न्यायवार्तिक–३।१।५२, पृष्ठ ३८६-८७)

५. 'आत्मा मनसा सम्बद्ध्यते, मन इन्द्रियेण……तस्मान्नैकमिन्द्रियं सर्वविषयकम्' (न्यायभाष्य–३।१।५४)

प्रत्यक्षस्थल में त्वक् अथवा शरीर और विषय के बीच व्यवधान नहीं होता क्योंकि त्वक् में रश्मियाँ नहीं होती; जिससे उसमें यह सामर्थ्य नहीं होता कि वह विप्रकृष्ट विषय का ग्रहण कर सके। यदि एक ही इन्द्रिय होती तो उसके स्वभाव में इतना बड़ा अन्तर न होता[1]। विषयों की अनेकता से भी इन्द्रियों की अनेकता सिद्ध होती है। इन्द्रियों के विषय पाँच हैं। इससे भी यही अनुमान किया जा सकता है कि प्रत्येक विषय को ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय भिन्न होगी[2]।

कोई भी व्यक्ति यह कह सकता है कि विषय पाँच ही नहीं हैं क्योंकि ज़िसे हम रूप कहते हैं वह एक ही नहीं अपितु पीले, नीले, हरे, लाल आदि भेद से अनेक हैं। इसी प्रकार सुगन्ध और दुर्गंध भेद से गन्ध भी दो प्रकार की होती है। यही स्थिति अन्य विषयों के सम्बन्ध में भी है। उक्त कथन दोषपूर्ण है क्योंकि रूपत्व सामान्य के आधार पर सभी वर्ण रूप हैं। चक्षु के द्वारा सभी प्रकार के रूपों का ग्रहण हो जाता है न कि पीले रूप के ग्रहण के लिये अतिरिक्त इन्द्रिय की आवश्यकता होती है और नीले के ग्रहण के लिये अन्य की। परन्तु विषयत्व सामान्य के सहारे सभी विषयों का ग्रहण एक इन्द्रिय से क्यों नहीं हो सकता? यह भी प्रश्न किया जा सकता है। गन्ध में भी विषयत्व रहता है क्योंकि गन्ध विषय है। रस में भी विषयत्व रहता है क्योंकि रस भी विषय है। इसी प्रकार पाँचों विषय विषयत्व जाति के आधार से समान हैं। यह समानता उसी प्रकार से हैं जैसे लाल, पीले, नीले आदि रूपों को रूपत्व जाति के आधार पर एक ही माना गया है[3]।

इन्द्रियपञ्चत्व में प्रमाण—उक्त मान्यता यथार्थ नहीं। इन्द्रियाँ और उनके विषय पाँच हैं जैसा कि निम्नलिखित युक्तियों से स्पष्ट हो जाता है—

१. **बुद्धिलक्षण**—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच विषयों का ज्ञान होता है। अतएव शब्द आदि पाँच प्रकार के ज्ञान से अनुमान किया जाता है कि तत्तत् विषय के ग्रहण की साधनभूत पाँच इन्द्रियाँ भी होंगी[4]।

---

१. 'अप्राप्यकारित्वे त्वगिन्द्रियस्यान्तिके ग्रहणं दूरे चाग्रहणमित्येतन्न स्यात्'। (न्यायवार्तिक—३।१।५१, पृष्ठ ३८९)

२. 'इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्' (न्यायसूत्र—३।१।५६)

३. न्याय-सूत्र-भाष्य—३।१।५७–५९ न्यायवार्तिक—३।१।५६–५८

४. न्यायभाष्य—३।१।६०

२. अधिष्ठान भेद—अधिष्ठान का अर्थ होता है स्थान। पाँच इन्द्रियों के रहने के स्थान अलग-अलग हैं। चक्षु इन्द्रिय का स्थान काली पुतली माना गया है और त्वक् इन्द्रिय का सम्पूर्ण शरीर। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के अधिष्ठान में भेद है। जिन पदार्थों के अधिष्ठान में भेद होता है वे अनेक होते हैं, जैसे घट। इसलिये इन्द्रियाँ अनेक हैं[1]। यदि इन्द्रियाँ अनेक न होतीं तो उनके अधिष्ठान में भिन्नता न होती।

३. गतिभेद—इन्द्रियों के कार्यों से उनकी अनेकता सिद्ध होती है। चक्षु की रश्मियाँ विषय तक जाती है किन्तु विषय को त्वक् इन्द्रिय तक पहुँचना पड़ता है। एक शब्द से दूसरे शब्द उत्पन्न होते-होते ग्राह्य शब्द स्वयं श्रोत्र इन्द्रिय में उत्पन्न होता है। इस प्रकार इन्द्रियों की कर्मपरक विभिन्नता से उनकी अनेकता सिद्ध होती है।

४. आकृति भेद—आकृति का अर्थ परिमाण अर्थात् इयत्ता है। जैसे घ्राण रसना और त्वक् शरीर से सम्पृक्त अपने निश्चित स्थान तक ही सीमित रहती हैं। इनका कार्यक्षेत्र शरीर से बाहर नहीं होता। इसके विपरीत चक्षु इन्द्रिय का कार्य क्षेत्र शरीर से बाहर भी रहता है। इस भेद के कारण भी इन्द्रियाँ अनेक होनी चाहियें।

५. जातिभेद—जाति का अर्थ योनि अर्थात् कारण है। इन्द्रियविशेष का कारण भूतविशेष है अतएव चार भूतों से उत्पन्न हुई इन्द्रियाँ भी चार हुईं। श्रोत्र इन्द्रिय आकाश से उत्पन्न नहीं होती अपितु कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाश ही श्रोत्र इन्द्रिय है[2]। अतएव इन्द्रियों की संख्या पाँच सिद्ध होती है।

इन्द्रियाँ भौतिक हैं या अभौतिक ?—वार्तिक में इन्द्रियों के स्वरूप के सम्बन्ध में विशेषतः चक्षु इन्द्रिय के सम्बन्ध में दो प्रतितन्त्र सिद्धान्तों की आलोचना की गई है। पहिला बौद्ध सिद्धान्त है जिसमें कृष्णसार—नेत्रस्थ काली—पुतली—को ही चक्षु माना गया है[3]। इस सिद्धान्त में चक्षु को प्रसरणशील रश्मियों से शून्य माना गया है। दूसरा सांख्य सिद्धान्त है जिसमें इन्द्रियों को विभु—व्यापक माना गया है।

बौद्धमत की आलोचना—बौद्ध अपने मत की पुष्टि में तर्क देते हैं कि कि कृष्णसार के होने पर रूप का ग्रहण होता है और न होने पर नहीं। जो जिसके विद्यमान होने पर होता है और न विद्यमान होने पर नहीं होता है

---

१. न्यायवार्तिक—३।१।५९, पृष्ठ ३९१ २. न्यायवार्तिक—३।१।५९, पृष्ठ ३९६
३. 'कृष्णसारमेव चक्षुरिति बौद्धाः' (तात्पर्यटीका—३।१।३४, पृष्ठ ५२१)

वह उसी का होता है, जैसे घट के विद्यमान होने पर उसका रूप होता है और न विद्यमान होने पर नहीं होता है। अतएव वह रूप घट का ही होता है। इसलिये कृष्णसार के द्वारा ही रूप का ग्रहण मानना चाहिये[1]। वार्तिककार ने उक्त मत की आलोचना की है। दीपक के होने पर घट आदि द्रव्यों के रूप का ग्रहण होता है और न होने से नहीं, किन्तु घट के रूप को दीपक का रूप नहीं माना जा सकता। दूसरे, कृष्णसार का सन्निकर्ष विषय के साथ नहीं होता है, अतएव जब बिना सन्निकर्ष के ही रूप आदि विषयों का ग्रहण हो सकता है तो अति निकट एवं अत्यधिक दूर की वस्तुओं का प्रत्यक्ष होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव कृष्णसार चक्षु नहीं हो सकता।

सांख्यमत की आलोचना—सांख्यमत में इन्द्रियाँ विभु मानी गई हैं न कि भौतिक, क्योंकि चक्षु यदि भौतिक होता तो अपने परिमाण से अधिक परिमाण वाले पदार्थ—जैसे पर्वत-से कैसे सन्निकृष्ट हो पाता ? इस युक्ति की आलोचना इस प्रकार है—भौतिक पदार्थ-दीपक अपने से छोटी और बड़ी सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है[2]।

इसी प्रकार चक्षु की रश्मियाँ विषयों तक पहुँच कर उनसे सन्निकृष्ट होती हैं। सांख्यमत में एक और भी दोष है। वह यह कि यदि चक्षु को व्यापक मान लिया जाये तो उसका प्रत्येक पदार्थ से सदैव सन्निकर्ष होने के कारण सभी प्रकार के ज्ञान एक ही साथ होने चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता। सांख्यमतानुयायी नयनरश्मियों के अस्तित्व का यह कहकर अपलाप नहीं कर सकते कि उनका प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि नयनरश्मियों में रूप और स्पर्श दोनों होते हुये भी उद्भूत-प्रकट नहीं होते। यह बात वार्तिककार द्वारा प्रतिपादित तेज के निम्नलिखित चार प्रभेदों को देखने से स्पष्ट हो जाती है[3]—

---

१. कृष्णसारमेव चक्षुः तस्मिन् सति भावाद्रूपग्रहणस्य······यस्मादिदं रूपग्रहणं सति कृष्णसारे भवति असति न भवति। यच्च यस्मिन् सति भवत्यसति न भवति तस्य तदिति। यथा कार्यद्रव्यस्य रूपादय इति'। (न्यायवार्तिक—३।१।३०, पृष्ठ ३७३)

२. 'भौतिकाः प्रदीपादयो महदण्वोः प्रकाशका भवन्तीत्यनैकान्तः'
(न्यायवार्तिक—३।१।३१, पृष्ठ ३७४)

३. 'चतुर्विधञ्च तेजो भवति उद्भूतरूपस्पर्शं यथादित्यरश्मिः। उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शं यथा प्रदीपरश्मिः। उभयं च प्रत्यक्षम् रूपस्यो-

१. उद्भूतरूपस्पर्श—इस प्रकार के तेज के रूप और स्पर्श दोनों प्रकट रहते हैं जैसे सूर्य की किरणें। सूर्य की किरणों की उष्णता और प्रकाश का हम प्रत्यक्ष करते हैं।

२. उद्भूतरूप एवं अनुद्भूत स्पर्श—जिसमें रूप उद्भूत हो किन्तु स्पर्श उद्भूत न हो, जैसे दीपक की किरणें। दीपक की किरणों के रूप का प्रत्यक्ष होता है किन्तु उष्णता का अनुभव अनुद्भूत होने के कारण नहीं हो पाता। उक्त दो प्रकार के तेजों में रूप उद्भूत रहता है। अतएव इनका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है।

३. उद्भूतस्पर्श एवं अनुद्भूतरूप—जिस तेज का स्पर्श उद्भूत हो और रूप न उद्भूत हो, जैसे गर्म जल में स्थित तेज। यहाँ उष्णता का अनुभव होता है परन्तु तेज का या उसके भास्वर शुक्लरूप का चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं होता।

४. अनुद्भूतरूपस्पर्श—इस तेज के रूप एवं स्पर्श दोनों ही अनुद्भूत होते हैं। इसका उदाहरण नयनरश्मि है।

'अनुद्भूत' शब्द का अर्थ 'अभाव' नहीं होता है अपितु अनभिव्यक्त—छिपा हुआ या दबा हुआ होता है।

कारण विशेष से चक्षु की रश्मियों का रूप अभिभूत हुआ माना गया है। रात्रि में नक्षत्र दिखाई देते हैं किन्तु दिन में सूर्य के प्रकाश के कारण उनके रूप का अभिभव हो जाता है। यह कथन भी समीचीन नहीं कि यदि रश्मियाँ होतीं तो नक्षत्रों की भाँति रात्रि में दिखाई पड़तीं। कुछ ऐसे जीव होते हैं जिनके नेत्रों की रश्मियाँ रात्रि में दिखाई देती हैं, जैसे बिडाल की नेत्ररश्मियाँ। बिडाल की तरह मनुष्य की नेत्ररश्मियों का प्रत्यक्ष नहीं होता। बिडाल और मनुष्य दोनों की नेत्ररश्मियाँ—दीवार आदि के व्यवधान से टकराकर जैसे घट, पट आदि पदार्थ रुक जाते हैं—रुक जाती हैं[1]। अतएव बिडाल और मनुष्य के चक्षु की रश्मियाँ सजातीय—भौतिक होती हैं। चक्षु की रश्मि भौतिक होने के कारण दीवार को भेदकर पार नहीं जा सकती उसी प्रकार उसे काँच को भी नहीं पार करना चाहिये, इस प्रकार वे भौतिक कैसे हो सकती है?

द्भूतत्वात्। उद्भूतस्पर्शमनुद्भूतरूपं यथा वारिस्थितं तेजः। अनुद्भूतस्पर्शं यथा नायनं तेजः। उभयं चाप्रत्यक्षम् रूपस्यानुद्भूतेः।'
(न्यायवार्तिक ३।१।२६, पृष्ठ ३७८)

१. न्यायवार्तिक—३।१।४२, पृष्ठ ३८२

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि काँच आदि पारदर्शी पदार्थों को नेत्ररश्मियाँ पार करके विषय से सन्निकृष्ट होती हैं और दीवार आदि का भेदन नहीं कर पातीं। इसका कारण यह है कि काँच का यह स्वभाव है कि रश्मियाँ उससे पार हो जाती हैं। भौतिक होने पर भी सूर्य की रश्मियाँ काँच को पार करके प्रकाश और उष्णता को भी अपने साथ ले जाती हैं। अतएव चक्षु की रश्मियाँ भी सूर्य की रश्मियों की तरह भौतिक हैं[1]।

अर्थ

इन्द्रियों के अर्थ पाँच हैं—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द। ये पाँचों इन्द्रियार्थ—विषय—होते हुये भी क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के गुण हैं[2]। पृथ्वी के गुण गन्ध, रस रूप और स्पर्श; जल के गुण रस रूप और स्पर्श तेज के गुण रूप और स्पर्श माने गये हैं[3]। किन्तु कुछ लोग न्यासम्मत भूतगुणों के उक्त विभाजन की आलोचना करते हैं। उनका आक्षेप है कि यदि गन्ध के अतिरिक्त रस, रूप एवं स्पर्श पृथिवी का भी गुण होता तो पार्थिव इन्द्रिय-घ्राण से रस रूप एवं स्पर्श का ग्रहण हो जाता। किन्तु ऐसा नहीं होता। यही स्थिति जल एवं तेज के सम्बन्ध में पाई जाती है[4]। उनका मत है कि जिस पृथ्वी का हम प्रत्यक्ष करते हैं उसमें अन्य भूतों का भी मिश्रण होता है इसलिये पृथ्वी में अन्य भूतों के भी गुण पाये जाते हैं। यही स्थिति यथासम्भव अन्य भूतों के सम्बन्ध में भी है। किन-किन भूतों में किन-किन भूतों का संसर्ग रहता है इसका विवरण वे निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत करते हैं[5]—

१. पृथिवी—पृथिवी में जल, तेज और वायु का संसर्ग रहता है। अतएव पृथिवी में गन्ध, रस, रूप और स्पर्श चार गुण रहते हैं।

२. जल—जल में तेज और वायु का सम्पर्क रहता है अतः जल में रस, रूप और स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है।

३. तेज—इसमें वायु का संसर्ग होने के कारण रूप और स्पर्श पाया जाता है

४. वायु—वायु संसर्गरहित होने के कारण केवल स्पर्शगुण वाला होता है।

५. आकाश—आकाश में किसी भूत का मिश्रण न होने से शब्द के अतिरिक्त अन्य भूतों के गुण नहीं होते हैं।

किन्तु निम्ननिर्दिष्ट आपत्तियों के कारण उक्त वर्गीकरण में वैज्ञानिकता नहीं है[6]—

---

१. न्यायसूत्र—भाष्य—३।१।४०—४८ २. न्यायसूत्र—१।१।१४
३. न्यायसूत्र—३।१।६२—६३ ४. न्यायवार्तिक—३।१।६३ पृष्ठ ३९३
५. न्यायभाष्य—३।१।६५ ६. न्यायभाष्य—३।१।६७

१. यदि दूसरे भूतों के संसर्ग से उक्त प्रकार का प्रत्यक्ष माना जाये तो वायु में जो दूसरे भूतों का संसर्ग नहीं होता उसका कारण क्या है ?

२. पृथिवी में ६ प्रकार के रसों का पाया जाना भूतसंसर्ग के द्वारा नहीं सिद्ध हो सकता। कारण, रस जल का ही गुण है। जल में केवल मधुर रस ही पाया जाता है, अतएव पृथिवी में अतिरिक्त पाँच रस कहाँ से आये ?

३. रूप तेज का गुण माना गया है। जब तेज का संसर्ग पृथिवी और जल दोनों में होता है तो क्या कारण है कि पृथिवी में हरे, लाल, पीले आदि सभी प्रकार के रूप पाये जाते हैं और जल में केवल अभास्वर शुक्ल ही ?

उक्त आक्षेप ऐसे हैं जिनका निवारण भूतों के संसर्ग की मान्यता को स्वीकार करके नहीं किया जा सकता। इसलिये न्यायसिद्धान्त में पृथ्वी जल और तेज में क्रमशः गन्ध, रस और रूप का उत्कर्ष माना गया है। उत्कर्ष का अर्थ अपने गुणों का प्रकाशन है। इसी प्रकार पार्थिव जलीय और तैजस इन्द्रियों में भी गन्ध, रस और रूप का उत्कर्ष है। यहाँ उत्कर्ष से अभिप्राय 'विषय को ग्रहण करना' है। यही कारण है कि घ्राण से केवल गन्ध रसना से केवल रस और चक्षु से केवल रूप का ग्रहण होता है। इस प्रकार संसर्ग-वाद की पुष्टि नहीं हो सकती[1]।

एक समस्या यह है कि इन्द्रियाँ जिन-जिन भूतों से उत्पन्न हुई हैं उनके उत्कर्ष-गुण को ग्रहण कर लेती हैं, किन्तु स्वगतगुण का ग्रहण क्यों नहीं करतीं ? जैसे घ्राण स्वगत गन्ध का ग्रहण क्यों नहीं करती ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि घ्राणेन्द्रिय में गन्ध गुण है। किन्तु गन्ध से अलग होकर इन्द्रिय का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतएव इन्द्रिय की भाँति इन्द्रियगत गन्ध भी ग्राहक के रूप में हो जाने के कारण ग्राह्य नहीं हो पाती है। ग्राह्य न हो सकने से उस इन्द्रिय से उसका (गन्ध का) ग्रहण नहीं होता[3]।

किन्तु श्रोत्र इन्द्रिय में अपने गुण के ग्रहण करने का सामर्थ्य पाया जाता है। अतएव श्रोत्र इन्द्रिय उक्त नियम का अपवाद है। आकाश का गुण शब्द है और कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाश ही श्रोत्र इन्द्रिय है। वार्तिककार ने उदाहरणों के द्वारा युक्तिपूर्वक यह सिद्ध किया है कि आकाश को छोड़कर अन्य किसी द्रव्य या पदार्थ को श्रोत्र इन्द्रिय नहीं माना जा सकता[3]।

---

१. न्यायवार्तिक—३।१।६७, पृष्ठ ३९५. न्यायभाष्य—३।१।६८

२. न्याय-सूत्र-भाष्य—३।१।७०

३. न्यायवार्तिक—३।१।७१—७२ पृष्ठ ३९६-९७।

बुद्धि

न्यायसूत्र में 'बुद्धि' के पर्याय 'उपलब्धि' और ज्ञान शब्द माने गये हैं। बुद्धि आत्मा का गुण है। यह अनित्य मानी गई है क्योंकि 'मैंने जाना था', 'मैं जान रहा हूँ' और 'मैं जानूँगा' इस प्रकार भूत आदि कालों से अवच्छिन्न ज्ञान होता है। उत्पत्ति और विनाशशील पदार्थ के सम्बन्ध में ही इस प्रकार अलग-अलग तीनों कालों से सम्बद्ध वाक्यों का व्यवहार होता है। उसके विपरीत जो पदार्थ उत्पत्ति एवं विनाशशील नहीं होता उसके सम्बन्ध में एतादृश वाक्यव्यवहार नहीं होता। आकाश के सम्बन्ध में ऐसी स्थिति नहीं होती। आकाश के सम्बन्ध में 'उत्पन्न हुआ' या 'उत्पन्न होगा' आदि वाक्यों का व्यवहार नहीं होता[1]।

सांख्यमत में बुद्धि नित्य मानी गई है[2]। उसका वृत्तिकाल में आविर्भाव और अवृत्तिकाल में तिरोभाव माना जाता है। सांख्य दार्शनिकों का मत है कि बुद्धि का नाश नहीं होता है क्योंकि कोई भी पदार्थ उत्पन्न या विनष्ट नहीं होता अपितु आविर्भूत एवं तिरोभूत हुआ करता है। कछुये के अंग भी आविर्भूत और तिरोभूत हुआ करते हैं, इससे उसका उत्पाद और नाश नहीं माना जाता। ज्ञान पुरुष का धर्म नहीं हो सकता क्योंकि पुरुष कूटस्थ अर्थात् निर्विकार होने के कारण किसी नवीन धर्म का अधिकरण नहीं हो सकता। 'मैंने घट देखा था' और 'वही मैं इसे छू रहा हूँ' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान होता है, इससे सिद्ध होता है कि यह प्रत्यभिज्ञान किसी वृत्तियुक्त एक बुद्धि जैसे पदार्थ की नित्यता की ओर संकेत करता है।

सांख्य के उक्त मत को वार्तिककार इसलिये दोषयुक्त मानते हैं कि वृत्ति और वृत्तिमान् में भेद मानना उचित नहीं। कारण, वृत्तिमान् की स्थिति से वृत्तियों की स्थिरता हो जायेगी जिसके फलस्वरूप सारी ज्ञानात्मक वृत्तियाँ सदा वर्तमान हो जायेंगी, सभी ज्ञानों के एककालिक हो जाने पर सारे अतीत अनागत विषय एककाल में ही ज्ञात होने लगेंगे, जैसा कि कभी नहीं होता। प्रत्यभिज्ञा को बुद्धि के धर्म के साथ नित्य मानना उचित नहीं। कारण, प्रत्यभिज्ञान आत्मा का धर्म है। इसे बुद्धि का धर्म समझना उचित नहीं क्योंकि आत्मा पूर्वानुभूत अर्थ की प्रत्यभिज्ञा करती है, अतएव उक्त प्रत्यभिज्ञा

---

१. न्यायवार्तिक–३।२।१, पृष्ठ ३९८।

२. 'एवं हि पश्यन्तः प्रवदन्ति सांख्या नित्या बुद्धिरिति' (न्यायवार्तिक–३।२।१, पृष्ठ ३९९)।

के आधार पर सांख्य मत से आत्मा के नित्यत्व की सिद्धि होती है, न कि बुद्धि के नित्यत्व की[1]। अभिप्राय यह है कि 'अहं प्रत्यभिजानामि' इस प्रत्यभिज्ञा-विषयक प्रतीति के स्थल में 'अहं' पद से कर्ता उक्त होता है, न कि करण। कर्ता आत्मा है, बुद्धि नहीं। बुद्धि तो करण है। ऐसी परिस्थिति में कर्तृधर्म-प्रत्यभिज्ञा को आत्मधर्म न मानकर करणभूत बुद्धि का धर्म मान लेना उचित नहीं।

कोई भी व्यक्ति सदा प्रत्यभिज्ञा नहीं करता, इसलिये प्रत्यभिज्ञा का अभाव मानना ही होगा और वृत्ति एवं वृत्तिमान् के बीच भेद न मान्य होने के कारण प्रत्यभिज्ञात्मक वृत्ति के अभावकाल में प्रत्यभिज्ञावृत्तिमती बुद्धि का भी अभाव मानना होगा। ऐसी परिस्थिति में प्रत्यभिज्ञा के आधार पर जो सांख्य सिद्धान्त में बुद्धि की स्थिरता अर्थात् नित्यता बतलाई गई है वह कैसे संगत कही जा सकती है?

इस प्रकार सांख्यदर्शन को बुद्धिस्वरूप अन्तःकरण का भी विनाश मानना पड़ेगा जिसे वह कभी स्वीकार नहीं कर सकता[2]। सांख्यदर्शन का अन्तःकरण विभु माना गया है। विभु होने से उसे आत्मा एवं इन्द्रियों से प्रत्येक काल में सन्निकृष्ट माना जायेगा। अतएव यथासंभव सभी विषयों का ज्ञान एक काल में ही सम्भव हो जायेगा, जैसा कि तात्पर्यटीकाकार के दृष्टान्त से स्पष्ट होता है—पूड़ी खाने के समय पाँचों विषयों का ग्रहण एक ही काल में होता है। खाते समय ग्रास कुचलने का शब्द सुना जाता है, मुखस्थित त्वक् से उसका स्पर्श एवं रसना से रस गृहीत हो जाता है। मुख के पास पहुँचते ही गन्ध का ज्ञान होने लगता है। रूप का ग्रहण भी उसको देखते ही हो जाता है। इस प्रकार एक साथ पाँचों विषयों का ग्रहण हो जाता है। वस्तुतः पाँचों विषयों की युगपद् प्रतीति मन के अणु एवं शीघ्रगामी होने के कारण होती-सी लगती है, न कि युगपद् होती है। यद्यपि एक काल में एक ही इन्द्रिय के साथ मन का संयोग होता है तो भी संयोग अतिशीघ्र होने के कारण अनेक ज्ञान भिन्न-भिन्न काल में होने पर भी समानकालिक होनेवाले जैसे प्रतीत होते हैं[3]।

---

१. चेतनो हि पूर्वज्ञातमर्थं प्रत्यभिजानाति इति तस्यैव तस्माद्धेतोर्नित्यत्वम्' (न्यायवार्तिक—३।२।३, पृष्ठ ३९९)

२. 'अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः वृत्तीनामपगमे वृत्तिमतोऽप्यपगम इति सूत्रार्थः (न्यायवार्तिक—३।२।५, पृष्ट ४०२)

३. 'ननु दीर्घां शष्कुलीं भक्षयतः पञ्चानामपि ज्ञानानां युगपदुत्पादो दृष्ट इति कोऽयं प्रसङ्गः अन्तःकरणस्य विभुत्वे युगपदुत्पादः प्रसज्येतेत्यत

अतएव अन्तःकरण और उसकी वृत्ति एक ही नहीं है।

वार्तिककार ने बुद्धि को अन्तःकरण का धर्म न मानने में युक्ति दी है कि सांख्यदर्शन वृत्ति—बुद्धि और वृत्तिमान्—अन्तःकरण को एक ही मानता है किन्तु अन्तःकरण से बुद्धि में भिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है क्योंकि रूप, रस एवं गन्ध के ज्ञान की तरह अन्तःकरण भी अनेक नहीं माने जाते। ज्ञान के अनेक प्रकार हैं और अन्तःकरण एक ही। अतः ज्ञान अन्तःकरण का धर्म नहीं हो सकता[1]।

ज्ञान आत्मा का गुण—ज्ञान अन्तःकरण का गुण नहीं है। ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ का भी गुण नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ के नष्ट हो जाने पर भी ज्ञान होता रहता है। देखे हुये घट की स्मृति होती है, भले ही चक्षु और घट का नाश हो गया हो और स्मृति ज्ञान है जिसकी उत्पत्ति इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से नहीं होती है[2]। यदि ज्ञान इन्द्रिय अथवा अर्थ का ही गुण होता तो स्वाश्रय—इन्द्रिय अथवा अर्थ के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाता। परन्तु ऐसा मानना अनुभव के विरुद्ध है। हाँ, आत्मा के विनाश—शरीरत्याग हो जाने पर प्रकृत स्मृतिरूप ज्ञान का सर्वथा अभाव हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान आत्मा का गुण है।

मन

सूत्रकार मन के अस्तित्व का ज्ञान अनुमान प्रमाण से मानते हैं[3]। एक काल में केवल एक ज्ञान के होने के कारण अनुमान किया जाता है कि मन जैसा कोई पदार्थ अवश्य होगा नहीं तो एक काल में अनेक इन्द्रियों एवं उनके विषयों से सन्निकर्ष होने पर भी एक ही काल में अनेक ज्ञान क्यों नहीं होते? अवश्य मन जैसे पदार्थ की सत्ता है जो जिस इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता होगा उसीसे विषय का ग्रहण होता होगा। भाष्यकार ने मन की सत्ता के

आह। न च युगपत्प्रत्ययोत्पत्ताविति। अतिशीघ्रतया युगपदुत्पादाभिमानो न तु तत्र यौगपद्यं भाविकमित्यर्थः'

(तात्पर्यटीका—३।२।७, पृष्ठ ५३८-३९)

१. 'अथ मन्यसे यदि चान्तःकरणान्न वृत्तिर्भिद्यते ननु इदं विरुध्यते रूपं, रसो, गन्धः, स्पर्श इति दृष्टः प्रत्ययभेदो न स्यात्'

(न्यायवार्तिक—३।२।८, पृष्ठ ४०४)

२. न्यायवार्तिक—३।२।१८, पृष्ठ ४२१

३. 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (न्यायसूत्र—१।१।१६)

अनुमान में 'एक काल में अनेक ज्ञानों के न होने' के अतिरिक्त स्मृति, अनुमान, आगम, संशय, प्रतिभा, स्वप्न, ऊह, सुख आदि विषयों के प्रत्यक्ष एवं इच्छा आदि गुणों को अतिरिक्त लिङ्ग माना है[1]।

प्रत्येक आत्मा के लिए एक मन निश्चित रहता है[2]। एक से अधिक मन एक आत्मा से ज्ञान आदि के उपकरणरूप में सम्पृक्त नहीं होता। यदि एक आत्मा के लिए एक से अधिक मन ज्ञान के उपकरणरूप में मान लिये जायेंगे तो एक काल में एक से अधिक ज्ञान होने लगेंगे, जो कि दृष्टविरुद्ध है[3]।

एक ही काल में अनेक ज्ञान उत्पन्न होने की शंका हो सकती है, जैसे मार्ग पर चलना, मार्ग देखना, मार्ग का स्मरण करना आदि कर्म एक ही काल में होते देखे जाते हैं। वस्तुतः उक्तज्ञान एक काल में नहीं होते। चूँकि मन शीघ्रसञ्चारी है, अतएव वह शीघ्रातिशीघ्र एक-एक इन्द्रिय से संयुक्त होकर ज्ञान कराता जाता है। अत्यधिक शीघ्रता के कारण युगपद् ज्ञान की प्रतीति होती है, जैसे अलातचक्र के विषय में। अलातचक्र एक गोलाकार वस्तु प्रतीत होती है परन्तु वस्तुतः वह गोल नहीं होती।[4]

वार्तिक में मनोविषयक एक मौलिक समस्या उठती है। स्मृति आदि ज्ञान मन में न रहकर अन्यत्र—आत्मा में रहते हैं। फिर उन्हें मन की सत्ता का लिंग कैसे माना जाये? वार्तिककार का समाधान है कि स्मृति आदि को मन की सत्ता में लिंग अवश्य माना जाता है किन्तु इसलिए नहीं कि उनका आधार मन है अपितु इसलिए कि स्मृति आदि क्रियाओं का कारण कुछ न कुछ अवश्य होना चाहिये। यहाँ चक्षु आदि इन्द्रियों को करण नहीं माना जा सकता क्योंकि जिस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूप आदि विषयों के प्रत्यक्ष होने में करण मानी जाती हैं उसी प्रकार स्मृतिरूप क्रिया के सम्पन्न करने में करण नहीं मानी जा सकतीं। किन्तु क्रिया का कोई न कोई करण अवश्य होता है। इसलिये मन जैसे करण की सिद्धि होती है जिसकी सहायता से स्मृति आदि क्रियायें सम्पन्न होती हैं[5]।

दूसरी समस्या यह है कि 'एक साथ अनेक ज्ञानों के न उत्पन्न होने'

---

१. 'स्मृत्यनुमानागमसंशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहाः सुखादिप्रत्यक्षमिच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि' (न्यायभाष्य—१।१।१६)

२. 'अणु मन एकं चेति (न्यायभाष्य—३।२।५९)

३. न्यायवार्तिक—३।२।५७, पृष्ठ ४३७। ४. न्यायसूत्र—भाष्य-३।२।५७-५८

५. न्यायवार्तिक—१।१।१६, पृष्ठ ८०।

का सम्बन्ध ज्ञान से है न कि मन से, फिर 'एक साथ अनेक ज्ञानों का न उत्पन्न होना' मन के अस्तित्व का लिंग कैसे हो सकेगा? वार्तिककार का समाधान है कि रथ के बनाने में जैसे हाथ की सहायता की अपेक्षा होती है जिससे शिल्पी क्रमशः एक-एक यन्त्र को पकड़ कर रथनिर्माण में प्रवृत्त होता है उसी तरह आत्मा मन को जिस-जिस इन्द्रिय के साथ संयुक्त करती है उस-उस इन्द्रिय से सन्निकृष्ट अर्थ का ज्ञान होता है। इस प्रकार क्रमशः ज्ञान होने में मन की अपेक्षा होती है। अपेक्षित उपकारी पदार्थ को उपकार्य से असम्बद्ध नहीं मानना चाहिये। इस प्रकार 'एक साथ अनेक ज्ञानों के न होने' का मन से सम्बन्ध सिद्ध होता है। अतएव उसे मन की सत्ता में लिंग माना जाता है[1]।

मन जिस इन्द्रिय से संयुक्त होता है केवल उसी इन्द्रिय से सन्निकृष्ट पदार्थ का ज्ञान होता है इस प्रकार एक साथ अनेक ज्ञान नहीं होते। किन्तु 'सफेद गाय चल रही है' यहाँ गायरूप द्रव्य एवं तद्गत गुण एवं क्रिया का एक ही इन्द्रिय से अनिवार्यतः सन्निकर्ष होता है। फिर उक्त तीनों पदार्थों का एकसाथ ज्ञान होता क्यों न माना जाये? वार्तिककार यहाँ भी मन को ही उक्त तीनों पदार्थों के एक साथ न ज्ञात होने का कारण मानते हैं। मन करण है। करण अपने स्वभाव के अनुसार एक काल में एक ही क्रिया को निष्पन्न करता है। आत्मा करण नहीं हो सकती। आत्मा एक साथ अनेक इन्द्रियों से सम्बद्ध रहती है। आत्मा एक साथ अनेक क्रियाओं को सम्पन्न करती है[2]। तात्पर्यटीकाकार के उदाहरण के अनुसार एक ही माणवक एक ही काल में चलता भी है, पढ़ता भी है और आचार्य के कमण्डलु को भी ले जाता है[3]। इसलिये एक काल में अनेक ज्ञानों के न होने में मन ही करण हो सकता है, न कि आत्मा।

मन अणुपरिमाणवाला है[4], अतएव महान् न होने के कारण इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। मन को व्यापक भी नहीं माना जा सकता क्योंकि व्यापक होने पर सभी इन्द्रियों से मन का संयोग मानना होगा। ऐसी स्थिति में एक काल में अनेक ज्ञान उत्पन्न होने चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता इसलिये मन अणुपरिमाण है[5]।

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।१६, पृष्ठ ८०-८१।

२. न्यायवार्तिक—१।१।१६, पृष्ठ ८१।

३. तात्पर्यटीका—१।१।१६, पृष्ठ २३५।

४. यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु, (न्यायसूत्र–३।२।५९)। ५. न्यायभाष्य—३।२।५९।

अध्याय १०

न्यायवार्तिक का आचारदर्शन

सभी धर्मों और दर्शनों में सदाचार के महत्त्व का विवेचन किया गया मिलता है। अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे का बुरा होता है। शुभ कार्यों की प्रवृत्ति से व्यक्ति शनैः-शनैः मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होता है और शास्त्र-प्रतिपादिन सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करता हुआ अपवर्ग की प्राप्ति करता है।

किन्तु आत्मा एवं विभिन्न पदार्थ—सम्बन्धी मिथ्याज्ञान के दूर हुये बिना व्यक्ति की प्रवृत्ति ऐसे विषयों में होती है जिससे वह जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा नहीं पाता। मिथ्याज्ञान से लोभ आदि दोष उत्पन्न होते हैं। तदनुसार व्यक्ति विभिन्न विषयों में प्रवृत्त होता है जिससे धर्म एवं अधर्म की उत्पत्ति होती है। धर्माधर्मरूप अदृष्ट से जन्ममरण—प्रेत्यभाव का चक्र चलता रहता है और जन्म ही दुःख का कारण है, अतएव दार्शनिकों ने आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति अर्थात् अपवर्ग की प्राप्ति के लिये दुःख के कारणभूत प्रवृत्ति-दोष आदि के स्वरूप का विवेचन किया है। इस अध्याय में प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख एवं अपवर्ग के सम्बन्ध में विचार उपस्थित किया गया है।

प्रवृत्ति

सूत्रकार ने वाणी, बुद्धि एवं शरीर से कार्य के आरम्भ को प्रवृत्ति माना है[1]। भाष्यकार बुद्धि का अर्थ मन लेते हैं और प्रवृत्ति का अर्थ पुण्य और पाप[2]। वार्तिककार ने प्रकृतस्थल में प्रवृति का अर्थ चेष्टा अथवा क्रिया न लेकर अदृष्ट लेने के कारण पर प्रकाश डाला है—क्रिया कार्यसम्पादन के पश्चात् नष्ट हो जाती है। नष्ट हुई क्रिया से भविष्य में कर्मफल का सम्पादन नहीं हो सकता, क्योंकि जो स्वयं नष्ट हो गई हो वह किसी को उत्पन्न कैसे कर सकेगी? अतएव जन्म का साधन क्रियामात्र नहीं हो सकती। जन्म का कारण अदृष्ट होता है जो क्रिया के द्वारा उत्पन्न होता है। अतएव अदृष्ट का साधन होने के कारण यहाँ प्रवृत्ति का अर्थ अदृष्ट होना चाहिये। धर्म और अधर्म दोनों मिलकर अदृष्ट होते

१. 'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः' (न्यायसूत्र—१।१।१७)
२. न्यायभाष्य—१।१।१७ एवं १।१।२

हैं[१]। धर्म और अधर्मरूप अदृष्ट जब तक विद्यमान रहता है तभी तक आयु, शरीर, इन्द्रिय और विषय का सम्पर्क आत्मा से रहता है, अन्यथा नहीं[२]।

प्रवृत्ति की उत्पत्ति दोषों से मानी गई है। जब दोनों का नाश हो जाता है प्रवृत्ति (अदृष्ट) भी नष्ट हो जाती है। प्रवृत्ति के नष्ट होने पर जन्म का नाश हो जाता है। जन्म के नाश से दुःख का नाश और दुःख के नाश होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि प्रवृत्ति भी परम्परया बन्धन का कारण है।

निम्न पंक्तियों में 'प्रवृत्ति' शब्द का प्रयोग क्रिया के लिये किया जा रहा है। इसी को वार्तिककार ने 'कारणरूपा' प्रवृत्ति कहा है। कारणरूपा प्रवृत्ति से ही भाष्य से सम्मत धर्माधर्मरूप प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है। भाष्यसम्मत धर्माधर्मरूप प्रवृत्ति को ही वार्तिक में 'कार्यरूपा' प्रवृत्ति कहा गया है[३]।

प्रवृत्ति के प्रभेद—सूत्रकार के अनुसार प्रवृत्ति के ३ प्रभेद इस प्रकार हैं--(१) शारीरिक (२) वाचिक एवं (३) मानसिक।

भाष्यकार ने उक्त प्रभेदों के अवान्तर प्रभेदों का उल्लेख किया है। इस प्रकार भाष्यकार कुल मिलाकर प्रवृत्ति के २० प्रभेद मानते हैं[४]। इनका विवरण इस प्रकार है—शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक प्रवृत्तियाँ शुभ-अशुभ भेद से दो-दो प्रकार की होती हैं। इस प्रकार प्रवृत्तियों के निम्नलिखित प्रभेद हुये। इन्हीं के अवान्तर भेद हो जाने पर प्रवृत्तियाँ २० प्रकार की होती हैं—

१—शुभ शारीरिक प्रवृत्ति २—अशुभ शारीरिक प्रवृत्ति
३—शुभ वाचिक प्रवृत्ति ४—अशुभ वाचिक प्रवृत्ति
५—शुभ मानसिक प्रवृत्ति और ६—अशुभ मानसिक प्रवृत्ति

शुभ शारीरिक प्रवृत्ति—दान आदि कर्म शरीर द्वारा सम्पादित होते हैं। दान करना शुभ माना जाता है। इसी प्रकार आर्त जीवों की रक्षा और गुरु आदि पूज्यों की सेवा भी शुभ शारीरिक प्रवृत्तियाँ हैं। ये सभी धर्म का कारण होती हैं। धर्म की कारण उक्त प्रवृत्तियाँ शुभ शारीरिक प्रवृत्तियाँ हैं।

अशुभ शारीरिक प्रवृत्ति—हिंसा, स्तेय, अनुचित मैथुन शास्त्र और

---

१. 'नास्मिन् सूत्रे..........................प्रवृत्तिसाधनत्वात्'
(न्यायवार्त्तिक—१।१।२, पृष्ठ २५--२६)

२. एतच्च यदाहुर्यावदात्मनि.........विषयाश्चेति,
(न्यायवार्तिक—१।१।२, पृष्ठ २६),

३. न्यायवार्त्तिक-४।२।१, पृष्ठ ४४६। ४. न्यायभाष्य—१।१।२, एवं १।१।१७

लोकदृष्टि में अशुभ माने जाते हैं। इनके सम्पादन का साधन शरीर है। अतः उक्त तीन प्रकार की प्रवृत्तियों को अशुभ शारीरिक प्रवृत्ति कहते हैं। इससे अधर्म की उत्पत्ति होती है।

शुभ वाचिक प्रवृत्ति—बोलना वाणी का धर्म है। जिस वाक्प्रवृत्ति से शुभ फल प्राप्त हो वह शुभ वाचिक प्रवृत्ति कहलाती है। सत्य, प्रिय एवं हितकारी वाक्यों का बोलना तथा वाणी के द्वारा विद्याभ्यास करना शुभ वाचिक प्रवृत्ति मानी गई है।

अशुभ वाचिक प्रवृत्ति—वाणी द्वारा झूठ, कठोर शब्दों का व्यवहार, चुगलखोरी और असम्बद्ध प्रलाप को अशुभ वाचिक प्रवृत्ति माना जाता है। इससे अधर्म की उत्पत्ति होती है।

शुभ मानसिक प्रवृत्ति—मन के द्वारा दया, अस्पृहा तथा श्रद्धा करना शुभ मानसिक प्रवृत्ति के अन्तर्गत माना जाता है। इससे अधर्म की उत्पत्ति होती है। वार्तिक में 'अस्पृहा' के स्थान पर 'स्पृहा' शब्द का प्रयोग मिलता है[1]। वस्तुतः यहाँ पाठ अशुद्ध है। वार्तिक में भी 'अस्पृहा' पाठ ही होना चाहिये।

अशुभ मानसिक प्रवृत्ति—परद्रोह, दूसरे के द्रव्य को पाने की इच्छा तथा नास्तिकता अशुभ मानसिक प्रवृत्तियाँ होती हैं। इनसे अधर्म उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रवृत्ति के उक्त छः प्रभेद हुये। इन छः प्रभेदों के अवान्तर भेद करने से प्रवृत्ति के २० भेद हो जाते हैं। उदाहरण के लिये अशुभ शारीरिक प्रवृत्ति के निम्नलिखित तीन प्रभेद हुये।

१. हिंसात्मक अशुभ शारीरिक प्रवृत्ति
२. स्तेयात्मक अशुभ शारीरिक प्रवृत्ति
३. प्रतिषिद्धमैथुनात्मक अशुभ शारीरिक प्रवृत्ति

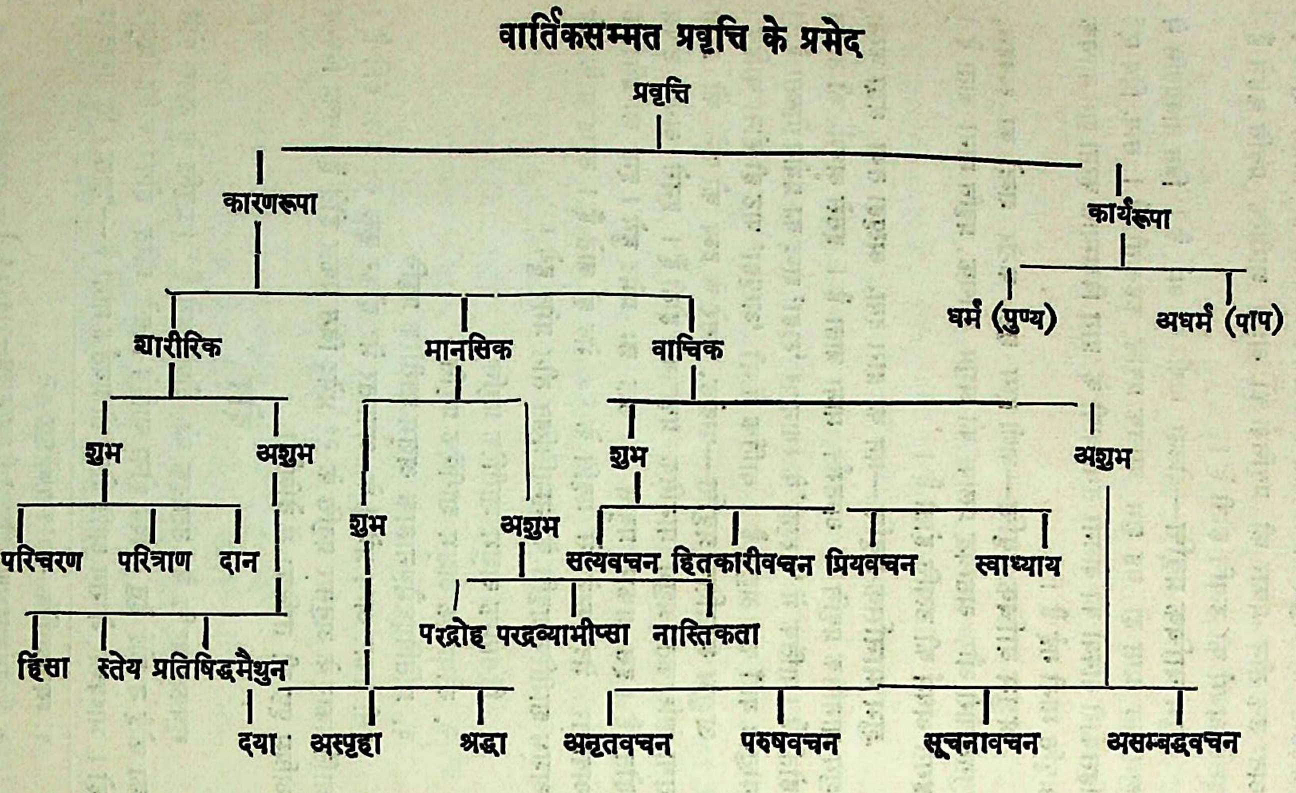
इसी प्रकार अन्य प्रभेदों के अवान्तर भेद होकर कुल २० प्रभेद होते हैं। वार्तिककार के अनुसार प्रवृत्ति के २१ प्रभेद जिस प्रकार होते हैं उसका विवरण अग्रिम पृष्ठ की तालिका में देखिये।

दोष

सूत्रकार प्रवृत्ति के उत्पादक को दोष कहते हैं[2]। प्रवृत्ति के उत्पन्न होने का कोई न कोई हेतु अवश्य होना चाहिये जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति प्रवृत्त हो। भाष्यकार ने राग आदि दोषों को प्रवर्तक माना है—'ज्ञातारं हि रागादयः

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।१७, पृष्ठ ८२
२. 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' (न्यायसूत्र—१।१।१८)



वार्तिकसम्मत प्रवृत्ति के प्रभेद
प्रवृत्ति
कारणरूपा
कार्यरूपा
धर्म (पुण्य)
अधर्म (पाप)
शारीरिक
मानसिक
वाचिक
शुभ
अशुभ
शुभ
अशुभ
शुभ
अशुभ
परिचरण
परित्राण
दान
सत्यवचन
हितकारीवचन
प्रियवचन
स्वाध्याय
परद्रोह
परद्रव्याभीप्सा
नास्तिकता
हिंसा
स्तेय
प्रतिषिद्धमैथुन
दया
अस्पृहा
श्रद्धा
अनृतवचन
परुषवचन
सूचनावचन
असम्बद्धवचन

प्रवर्तयन्ति पुण्ये पाप वा'[1]। उक्त वाक्य के अनुसार ज्ञान, राग आदि दोष एवं प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विषयों के कारण हैं अर्थात् मिथ्याज्ञान राग एवं द्वेष आदि दोषों का कारण होता है और राग द्वेष आदि प्रवृत्ति के कारण होते हैं।

वार्तिककार किसी व्यक्ति को अपने दोषों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा और दूसरे के दोषों का ज्ञान अनुमान प्रमाण के द्वारा मानते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने राग आदि दोषों का स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है। अपने से भिन्न व्यक्ति के दोषों का ज्ञान उसके शरीर के अङ्गों के विकार से होता है। किसी व्यक्ति की विकृत मुखाकृति तथा रक्तवर्ण नेत्रों को देखकर उसके क्रोध का अनुमान होता है[2]।

भाष्यकार दोषों को आत्मा का गुण मानते हैं। संसार के अनादि होने से परम्परया संसार के कारणभूत दोष भी अनादि होते हैं। किन्तु तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान के दूर हो जाने पर दोष भी नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार दोष अनादि होने पर भी विनाशशील होते हैं[3]।

दोषों के प्रभेद—सूत्रकार दोषों के तीन प्रभेद मानते हैं। जिनमें से प्रत्येक एक राशि (समूह) होता है। सभी दोषों का अन्तर्भाव वक्ष्यमाण तीन राशियों में कर दिया जाता है। ये राशियाँ निम्नलिखित हैं[4]—

१. राग—आसक्ति रूप दोष को राग कहते हैं।

२. द्वेष—न सहन होना द्वेष का लक्षण है।

३. मोह—मिथ्याज्ञान को मोह कहते हैं।

राग, द्वेष और मोह में से मोह को अपेक्षाकृत अधिक अनिष्टकारी माना गया है। मोह अन्य सभी दोषों का कारण होता है। मोह के होने पर ही राग, द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं[5]। इस प्रकार मोह कारण हुआ और राग एवं द्वेष कार्य। कार्य और कारण एक नहीं हो सकते। मोह, राग और द्वेष सभी को दोष की ही श्रेणी में क्यों लिया जाता है[6]? सूत्रकार ने मोह को दोष मानने में दो युक्तियाँ दी हैं—

१. दोष का लक्षण मोह में भी चरितार्थ होता है[7]।

---

१. न्यायभाष्य—१।१।१८। २. न्यायवार्तिक—१।१।१८ पृष्ठ—८२

३. न्यायभाष्य—४।१ २ ४. न्यायसूत्र—४।१।३

५. न्यायसूत्र-भाष्य-वार्तिक-४।१।६, वार्तिक-पृष्ठ ४५०-५१

६. न्यायसूत्र—४।१।७ ७. न्यायसूत्र—४।१।८

२. सजातीय द्रव्यों और गुणों में भी परस्पर कार्यकारणभाव हो सकता है इसलिए मोह दोष होकर भी अन्य दोषों का कारण हो सकता है[१]। वार्तिककार के अनुसार एक बुद्धि दूसरी बुद्धि का कारण होती है तो भी वे परस्पर सजातीय ही होती हैं[२]।

सूत्रों में दोष के उक्त तीन प्रभेद न मानकर एक ही प्रकार के दोष मानने वाले पूर्वपक्ष का उल्लेख मिलता है[३]। पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि राग, द्वेष एवं मोह तीनों तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाने के कारण तत्त्वज्ञान के विरोधी हैं, अतएव समान हैं। फिर उनको तीन राशियों में क्यों विभक्त किया जाये[४]? भाष्यकार का उत्तर है कि अग्नि के संयोग से विभिन्न रूपों की उत्पत्ति होती है। यद्यपि सभी रूपों का विरोधी अग्नि है तो भी वे रूप परस्पर भिन्न होते हैं[५]। इसी प्रकार दोषों के भी प्रभेद माने जा सकते हैं।

भाष्यकार ने प्रत्येक दोषराशि के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न दोषों की गणना की है जिसमें राग के अन्तर्गत काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा और लोभ; द्वेषराशि के अन्तर्गत क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह एवं अमर्ष तथा मोहराशि के अन्तर्गत मिथ्याज्ञान, विचिकित्सा, मान और प्रमाद आते हैं[६]।

वार्तिककार ने प्रत्येक दोष का लक्षण इस प्रकार किया है[७]—

१. काम—स्त्रीविषयक इच्छा को 'काम' कहते हैं।

२. मत्सर—दान से व्यय न होने योग्य वस्तु को न देने की इच्छा 'मत्सर' कहलाती है। जैसे किसी राजपुरुष की किसी व्यक्ति को राजसरोवर से पानी न पीने देने की इच्छा।

३. स्पृहा—जिस वस्तु पर अपना स्वत्व न हो उसे प्राप्त करने की इच्छा 'स्पृहा' होती है।

४. तृष्णा—किसी वस्तु को पुनः पाने की इच्छा को 'तृष्णा' कहते हैं।

५. लोभ—परकीय वस्तु को लेने की शास्त्रविरुद्ध इच्छा 'लोभ' होती है।

६. क्रोध—'क्रोध' उस विकार को कहते हैं जिसके उत्पन्न हो जाने पर शरीर और इन्द्रियों के अधिष्ठान (स्थान) विकृत हो जाते हैं, जैसे होठों का हिलना, नेत्रों का रक्तवर्ण हो जाना आदि।

---

१. न्यायसूत्र—४।१।९ २. न्यायवार्तिक—४।१।९ पृष्ठ ४५१
३. न्यायसूत्र—४।१।४ ४. न्यायभाष्य—४।१।४
५. न्यायभाष्य—४।१।५ ६. न्यायभाष्य—४।१।३
७. न्यायवार्तिक—४।१।३ पृष्ठ ४४८—४९

७. ईर्ष्या—जिस वस्तु पर अपना अधिकार न हो ऐसी जनसाधारण वस्तु में दूसरे का प्रवेश न सह सकना 'ईर्ष्या' समझा जाता है।

८. असूया—दूसरे के गुणों को सुनकर एक प्रकार की असहनशीलता उत्पन्न होती है। इसी को 'असूया' कहते हैं।

९. द्रोह—असमर्थ व्यक्ति की पर-अपकार की इच्छा 'द्रोह' है।

१०. अमर्ष—अपने प्रति किये गये अपकारी के अपकार को न सहन करना 'अमर्ष' कहलाता है।

११. मिथ्याज्ञान–जो जैसा नहीं है उसे वैसा समझना 'मिथ्याज्ञान' होता है।

१२. विचिकित्सा—'यह क्या है' इस प्रकार का संशय 'विचिकित्सा' कहा जाता है।

१३. मान—विद्यमान और अविद्यमान गुणों का अपने में आरोप करके अपने को श्रेष्ठ समझना 'मान' कहलाता है।

१४. प्रमाद—समर्थ होते हुये भी अपने कर्तव्य का पालन न करना प्रमाद कहलाता है।

प्रेत्यभाव

प्रेत्यभाव पुनर्जन्म को कहते हैं। पुनर्जन्म आत्मा का नहीं होता है। आत्मा अविनाशी है[1]। फिर क्या शरीर के नाश को पुनर्जन्म माना जाये ? यदि पञ्चभूत से बने हुए शरीर का पुनर्जन्म माना जायेगा तो इसी प्रकार अन्य भौतिक द्रव्यों का भी पुनर्जन्म मानना पड़ेगा। फिर पुनर्जन्म किसका होता है ? वस्तुतः आत्मा और शरीर आदि सम्बन्ध के परिवर्तन को पुनर्जन्म कहा जाना चाहिए। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और वेदना का सम्बन्ध आत्मा से होता है, क्योंकि आत्मा इन्हीं साधनों से भोग्यों का उपभोग करती है। इन कर्मों के अनुसार आत्मा को पुनः नवीन शरीर भोग के साधन के रूप में प्राप्त होता है। शरीर के ही साथ मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि की भी प्राप्ति होती है। इन्द्रिय आदि से युक्त नवीन शरीर की प्राप्ति को पुनर्जन्म कहा जाता है।[2]

जन्म मरण का चक्र अनादिकाल से चला आ रहा है, अतएव प्रेत्यभाव अनादि है। अपवर्ग के पश्चात् नवीन शरीर की प्राप्ति नहीं होती अतएव अपवर्ग की प्राप्ति होते ही प्रेत्यभाव का अन्त हो जाता है। इस प्रकार प्रेत्यभाव अनादि होते हुए भी सान्त है[3]।

---

१. न्यायवार्तिक—४।१।१०, प्रस्तावना, पृष्ठ ४५२

२. न्यायवार्तिक—४।१।१०, पृष्ठ ४५२ ३. न्यायभाष्य—१।१।१९

भूतचैतन्यवादी पुनर्जन्म नहीं स्वीकार करते। वार्तिककार उक्त मत को समीचीन नहीं मानते। सद्यः उत्पन्नः शिशु के अङ्गों के विकारों के द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि होती है। उसके रोने से अनुमान किया जाता है कि उसे कष्ट है। इसी प्रकार उसकी मुस्कान से उसके सुख का अनुमान होता है। शिशु ने इस लोक में सुख एवं दुःख का अनुभव नहीं किया अर्थात् उसे वर्तमान शरीर से सुख एवं दुःख का अनुभव नहीं हुआ जिसका स्मरण करके वह सुखी और दुःखी हो रहा हो। अतएव सिद्ध होता है कि शिशु ने सुख-दुःख आदि का अनुभव पूर्वजन्म में किया होगा। शरीर एवं इन्द्रियों आदि के अभाव में सुख-दुःख का अनुभव नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि अनादि-काल से इसी प्रकार आत्मा और शरीर आदि का सम्बन्ध चला आ रहा है।[1]

प्रेत्यभाव न मानने से कर्म के सिद्धान्त पर आघात होता है। इस विषय का विवेचन आत्मनिरूपण (अध्याय ९) में किया गया है।

फल

भाष्यकार कर्म के विपाक को और वार्तिककार धर्म एवं अधर्म के कार्य को फल मानते हैं। भाष्यकार शरीरसहित सुख एवं दुःख को फल मानते हैं। वार्तिककार सुख एवं दुःख के उपभोग को मुख्य फल और सुख एवं दुःख की प्राप्ति के साधन—शरीर आदि को गौण फल मानते हैं।[2] साधन सदैव गौण होता है और साध्य मुख्य।

कुछ फल ऐसे होते हैं जो क्रिया के समाप्त होते ही निष्पन्न हो जाते हैं, जैसे चावल के पकाने या गाय के दुहने का फल। इसके विपरीत कुछ ऐसे फल होते हैं जिनका क्रिया से व्यवधान रहता है, जैसे खेत में बीज के बोने का फल। खेत में बीज वो चुकते ही फल नहीं मिल जाता अपितु महीनों बाद फल की प्राप्ति होती है। क्रिया और फल के बीच अधिक व्यवधान होने के कारण फल की प्राप्ति में चावल के पकाने और गाय के दुहने के फल की अपेक्षा अधिक समय लगता है।[3]

'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' आदि स्वर्गफलविधायक वाक्य पाये जाते हैं। याग जैसी क्रिया की समाप्ति इसी जीवन में हो जाती है किन्तु स्वर्गरूप फल की प्राप्ति मृत्यु के पश्चात् होती है। क्रिया नष्ट हो जाती है फिर मृत्यु के

---

१. न्यायवार्तिक—३।१।१९, पृष्ठ ३६५ २. न्यायभाष्य—१।१।२० न्यायवार्तिक—१।१।२०, पृष्ठ ८३ ३. न्यायवार्तिक—४।१।४४, पृष्ठ ४८३

पश्चात् स्वर्ग की प्राप्ति किसके द्वारा होगी ? विनष्ट वस्तु के अविद्यमान होने के कारण विनष्ट यागरूप क्रिया से स्वर्ग की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?[1]

उक्त प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—अग्निहोत्र आदि क्रिया से धर्म उत्पन्न होता है। धर्म का विपाक होने पर वह ठीक समय पर यज्ञकर्ता की फल-प्राप्ति का साधन बनता है। अतएव धर्म के द्वारा क्रिया और क्रिया के फल में व्यवधान नहीं आ पाता है। लगभग यही नियम खेत में बीज बोने की क्रिया और उसके फल के सम्बन्ध में भी है। खेत में बीज बो देने तक ही क्रिया सम्पन्न नहीं हो जाती है। बीज बोने के पश्चात् उसे सींचा जाता है क्योंकि बीज को जब तक पानी नहीं मिलेगा उसमें अंकुर का उदय न हो सकेगा। पानी देने के पश्चात् पृथ्वी, जल एवं तेज आदि विभिन्न भूतों की सहायता से पौधे की वृद्धि होती है। इस प्रक्रिया में समय अधिक लगता है किन्तु अन्त में फल की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार बीज बोने के पश्चात् अनेक क्रियाओं का तन्तु जारी रहने से फल की प्राप्ति देर में होती है उसी प्रकार यज्ञकर्म के पश्चात् परिपक्व धर्म के द्वारा फल की प्राप्ति होती है।[2]

एक समस्या और है। सींचने और फल लगने इन दोनों कियाओं का आश्रय एक ही वृक्ष होता है किन्तु यज्ञ का सम्पादन किसी दूसरे शरीर से होता है और स्वर्ग की प्राप्ति किसी दूसरे से। इसलिए वृक्ष का दृष्टान्त यज्ञ के द्वारा फल की सिद्धि में उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है। उक्त समस्या का समाधान सूत्रों से ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है। क्रिया का आश्रय वस्तुतः आत्मा होती है और स्वर्गरूप फल का भी आश्रय आत्मा ही होती है क्योंकि स्वर्ग का भोक्ता आत्मा ही होती है। स्त्री-पुत्र, स्वर्ण आदि सुख के साधन आत्मा के आश्रय नहीं होते किन्तु इनके द्वारा साध्य-सुख आदि फल आत्मा को प्राप्त होते हैं। अतएव आत्मा के यज्ञक्रिया और स्वर्गरूप फल दोनों के आश्रय होने के कारण यज्ञक्रिया और फल की प्राप्ति का सिद्धान्त पूर्णतः सत्य है।[3]

दुःख

सूत्रकार के अनुसार जो प्रतिकूल प्रतीत होता हो उसे दुःख कहते हैं[4]। भाष्यकार दुःख के तीन प्रभेद मानते हैं—हीन, मध्यम एवं उत्कृष्ट। नरकवासी जीवों को उत्कृष्ट दुःख प्राप्त होता है, पक्षियों को मध्यम, मनुष्यों को हीन

---

१. न्यायसूत्रभाष्य-४।१-४४-४६ २. न्यायवार्तिक—४।१।४४-४७, पृष्ठ ४८३-८५

३. न्यायसूत्र—भाष्य—वार्तिक—४।१।५१-५४ (वार्तिक पृष्ठ ४९०-९१)

४. 'बाधनालक्षणं दुःखम्' (न्यायसूत्र-१।१।२१)

अर्थात् कम तथा देवताओं और वीतराग पुरुषों को और भी कम दुःख प्राप्त होता है[१]।

वार्तिककार के विवेचन के अनुसार दुःख इक्कीस प्रकार का होता है[२]—

(क) शरीर (ख) मनसहित छः इन्द्रियाँ

(ग) उपर्युक्त इन्द्रियों के छः विषय (घ) उपर्युक्त इन्द्रियों के छः ज्ञान

(ङ) सुख और (च) दुःख

इन इक्कीस पदार्थों को दुःखस्वरूप मानने का कारण भी है। शरीर दुःख का आयतन है क्योंकि शरीर के विद्यमान होने पर दुःख और विद्यमान न होने पर दुःख का अभाव होता है। अतएव दुःख का आधार होने के कारण शरीर को भी दुःखरूप माना गया है। छः इन्द्रियाँ, छः विषय और छः ज्ञान ये अठारह पदार्थ दुःखप्राप्ति के साधन हैं, अतएव ये भी दुःखस्वरूप हैं।

सुख भी दुःखरूप है क्योंकि सुख एवं केवल सुख का ही अनुभव किसी प्रकार सम्भव नहीं है। सुख के साथ दुःख का अनिवार्यतः अस्तित्व पाया जाता है[३]। दुःख से पृथक् रूप में सुख के उपभोग के समर्थकों की युक्ति वाचस्पति मिश्र के विवेचन के अनुसार इस प्रकार है—यदि मांस काँटों से बिंध गया हो तो काँटों को दूर करके मांस मात्र को ले लिया जा सकता है। काँटों के भय से मांस का परित्याग करना उचित नहीं है। पशुओं के भय से खेती न की जाये और भिखारियों के भय से भोजन न बनाया जाये यह कैसे सम्भव हो सकता है[४]। यदि सुख और दुःख के मिले होने के कारण व्यक्ति भयभीत होने लगेगा तो लोकव्यवहार ही रुक जायेगा। किन्तु नैयायिक सुख और दुःख को इस प्रकार मिश्रित मानते हैं जैसे विषयुक्त मधुर अन्न[५]। अतएव मधुर होने पर भी वह अन्न विषरूप ही है। सुख को दुःख मानने के पक्ष में यह भी युक्ति दी जाती है कि इच्छित वस्तु के न मिलने से दुःख होता है, किंचित् अंश के मिलने पर असन्तोषजन्य दुःख होता है और इच्छित वस्तु के नष्ट हो जाने से भी दुःख होता है। अतएव सुख भी दुःखरूप ही है[६]।

---

१. 'त्रिविधा च बाधना हीना मध्यमा उत्कृष्टा चेति। उत्कृष्टा नारकिणाम्। तिरश्चां तु मध्यमा। मनुष्याणां तु हीना। देवानां हीनतरा वीतरागाणां च' (न्यायभाष्य–४।१।५५)।

२. न्यायवार्तिक-१।१।१ प्रस्तावना, पृष्ठ २। ३. न्यायवार्तिक-१।१।२, पृष्ठ २७

४. तात्पर्यटीका–४।१।५४, पृष्ठ ६२५-२६ ५. न्यायवार्तिक–१।१।२, पृष्ठ २६

६. न्यायभाष्य–४।१।५७।

दुःख स्वरूपतः दुःख है। जन्म को भी दुःख माना गया है क्योंकि जन्म से ही शरीर इन्द्रिय आदि उपभोग के साधन प्राप्त होते हैं। मोक्षावस्था में दुःख का अत्यन्ताभाव माना गया है[1]।

अपवर्ग

अपवर्ग का लक्षण—दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को सूत्रकार ने अपवर्ग माना है[2]। भाष्यकार ने अपवर्गावस्था में सुख एवं दुःख दोनों का अभाव माना है[3]। अपवर्ग का आदि होता है, किन्तु अन्त नहीं होता। अनादिकाल से आत्मा में मिथ्याज्ञान चला आ रहा है। जब तत्त्वज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है तब इक्कीस प्रकार के दुःखों का आत्यन्तिक विनाश होकर अपवर्गावस्था प्राप्त होती है[4]। फिर इस अवस्था का विनाश कभी नहीं होता इसलिये भाष्यकार 'अजर' 'अमर' तथा 'अमृत्युपद' आदि शब्दों को अपवर्ग का पर्याय मानते हैं[5]।

अपवर्ग के एक प्रभेद के अनुसार जीव महाप्रलय तक मुक्त रहता है उसके बाद पुनः बद्ध हो जाता है किन्तु प्रकृतस्थल में अपवर्ग का यह स्वरूप अभीष्ट नहीं है। वाचस्पति मिश्र महाप्रलय तक रहनेवाली मुक्ति को अपवर्ग नहीं मानते हैं[6]। न्यायसम्मत अपवर्ग अनन्त है। उसका विराम कभी नहीं होता।

अपवर्ग के प्रभेद—वार्तिककार ने निःश्रेयस अर्थात् अपवर्ग के दो प्रभेद माने हैं[7]।

(१) दृष्टनिःश्रेयस (२) अदृष्टनिःश्रेयस

दृष्टनिःश्रेयस—इस निःश्रेयस को वस्तुतः लौकिक निःश्रेयस समझना चाहिये। लोकव्यवहार में सफल होना ही दृष्टनिःश्रेयस कहलाता है। सांसारिक पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से लोकव्यवहार सुचारुरूपेण सम्पादित हो सकता है। अतएव दृष्टनिःश्रेयस को प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से उत्पन्न हुआ माना जाता है।

अदृष्टनिःश्रेयस—अदृष्टनिःश्रेयस की प्राप्ति आत्मा आदि प्रमेयों के तत्त्वज्ञान से होती है। जब तक आत्मा आदि प्रमेयों के सम्बन्ध में यथार्थज्ञान नहीं

---

१. न्यायसूत्र—१।१।२२। २. न्यायसूत्र—१।१।२२।
३. न्यायभाष्य—१।१।२२। ४. न्यायवार्तिक—१।१।१ पृष्ठ २।
५. न्यायभाष्य—१।१।२२। ६. 'आत्यन्तिकग्रहणं महाप्रलयावस्थानिवृत्त्यर्थम्' (तात्पर्यटीका—१।१।२२, पृष्ठ २३९)
७. 'निःश्रेयसं पुनर्दृष्टादृष्टभेदाद् द्वेधा भवति। तत्र प्रमाणादिपदार्थतत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसं दृष्टम्' (न्यायवार्तिक—१।१।१, पृष्ठ ११)

होता तबतक संसार से निस्तार नहीं हो सकता। अतएव प्रमाण आदि पदार्थों के अतिरिक्त प्रमेयों का सम्यक् ज्ञान भी अदृष्टनिःश्रेयस के लिये अपेक्षित है। यही निःश्रेयस वस्तुतः सच्चा निःश्रेयस है[१]।

अपवर्ग सम्बन्धी मतों की आलोचना

अपवर्ग को सुख रूप मानने की आलोचना—भाष्यकार ने एक मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार मोक्ष में नित्य सुख की अभिव्यक्ति मानी जाती है। भाष्यचन्द्र में इसे मीमांसकों का मत माना गया है[२]। भाष्यकार ने इस मत की आलोचना इस प्रकार की है—यदि सुख की भाँति सुख के ज्ञान को नित्य मान लिया जाये तो भी सुखात्मक अपवर्ग की सिद्धि नहीं होती क्योंकि सुख नित्य होने के कारण बद्धावस्था में भी अभिव्यक्त होना चाहिये। किन्तु यदि ऐसा होता तो बद्ध एवं मुक्त दोनों अवस्थाओं में अन्तर न होता, किन्तु अन्तर माना जाता है। अतः भाष्यकार के अनुसार ऐसी स्थिति में मोक्षावस्था सुख-रूप नहीं हो सकती[३]। मुक्तावस्था में केवल आत्मा और मन के संयोग को सुख की उपलब्धि का कारण मानना भी तर्कसंगत नहीं है। वार्तिककार की युक्ति है कि यदि आत्मा और मन के संयोग से विषय के अभाव होने पर भी सुख की प्राप्ति हो सकती होती तो रूप आदि का ज्ञान भी विषय के अभाव होने पर होना चाहिये था[४]। किन्तु ऐसा मानना मोक्ष के स्वरूप के विरुद्ध है। अतः मोक्ष सुखरूप नहीं है।

योग से उत्पन्न हुये धर्म को मोक्षावस्था में सुख की अभिव्यक्ति का नित्य कारण मानना भी उचित नहीं है। जो वस्तु उत्पन्न होती है वह अवश्य नष्ट होती है अतएव योग से उत्पन्न होनेवाला धर्म भी अनित्य होगा[५]। इस प्रकार भी मोक्षावस्था में सुखाभिव्यक्ति की सिद्धि नहीं होती है। मोक्ष सुखरूप इसलिये भी नहीं माना जा सकता कि सुख और दुःख दोनों परस्पर मिले रहते हैं इसलिये जो दुःख से दूर होना चाहता हो तो उसे सुख भी छोड़ देना पड़ेगा[६]। पूर्वपक्षी यह युक्ति भी उपस्थित कर सकता है कि मुक्तावस्था एक ऐसी अवस्था है जिसमें आत्मा और शरीर का संयोग नहीं रहा करता है, अतएव शरीर के अभाव होने के कारण ही उस काल में सुख की नित्य अभिव्यक्ति होती है।

---

१. 'परन्तु निःश्रेयसमास्मादेस्तत्त्वज्ञानाद् भवति' (न्यायवार्तिक-१।१।१ पृष्ठ११)
२. '…प्रशस्तसुखो भवति प्रमीयते। केचन मीमांसकाः' (भाष्यचन्द्र—१।१।२२)
३. न्यायभाष्य—१।१।२२
४. न्यायवार्तिक—१।१।२२, पृष्ठ ८५
५. न्यायभाष्य—१।१।२२
६. न्यायवार्तिक—१।१।२२, पृष्ठ ८५-८६

किन्तु उक्त युक्ति यथार्थ नहीं मानी जा सकती क्योंकि शरीर, इन्द्रिय आदि सुख की अभिव्यक्ति के साधन हैं, असाधन नहीं। अतएव यदि मुक्तावस्था में शरीर की कल्पना की जाती तब तो सम्भव था कि सुख की अभिव्यक्ति होती। किन्तु साधन के अभाव में साध्य का होना असंभव है। दूसरे, यदि मोक्षावस्था में नित्य सुख की अभिव्यक्ति मानी जाये तो नित्य शरीर की कल्पना करनी पड़ेगी[1]। किन्तु ये परिस्थितियाँ न तो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होती हैं और न अन्य प्रमाणों से ही। इसलिये पूर्वपक्ष का मत मान्य नहीं।

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य में 'विज्ञानम्', आनन्दम्' तथा 'ब्रह्म' इन तीनों पदों का प्रयोग हुआ है। इन तीनों पदों में सामानाधिकरण्य है, अतएव मोक्षावस्था में सुख माननेवाले ब्रह्म को आनन्दस्वरूप भी मानते हैं। उनके मत में ब्रह्मस्वरूप मुक्ति की अवस्था दुःख की आत्यन्तिक निवृत्तिमात्र न होकर सुखस्वरूप है और ब्रह्म के नित्य होने के कारण सुखस्वरूप मोक्ष भी नित्य ही होता है[2]।

यद्यपि श्रुतियों एवं स्मृतियों में स्थान-स्थान पर मोक्षावस्था सुखरूप बतलाई गई है किन्तु सुख का अभिप्राय दुःखनिवृत्ति ही है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति ज्वर की पीड़ा से मुक्त होकर कहे कि 'मैं सुखी हो गया' वस्तुतः वह सुखी नहीं हुआ अपितु जो ज्वरजन्य दुःख था वह दूर हो गया अर्थात् उसकी दृष्टि में दुःख का नाश ही सुख है। इसी प्रकार संसारावस्था में आत्मा दुःखों का भी अनुभव करती है किन्तु मोक्षावस्था में दुःख का आत्यन्तिक अभाव हो जाने के कारण उसे सुखरूप कहा जाता है[3]।

मोक्ष को सुखरूप मानकर उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने पर उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि सुख की तृष्णा बन्धन का कारण है[4]।

बौद्धमत और उसकी आलोचना—मोक्षसम्बन्धी बौद्धमत की आलोचना वार्तिक से प्रारंभ होती है[5]। बौद्धों के अनुसार चित्त का मोक्ष होता है। संसारकाल में चित्त विभिन्न स्थितियों में राग आदि के वश में होकर उत्पन्न होता रहता है। राग आदि के प्रभाव से चित्त ही प्रभावित होता है।

---

१. 'न, शरीरादीनामुपभोगार्थत्वात् नित्यं शरीरादिप्रसंगाच्च'
(न्यायवार्तिक—१।१।२२, पृष्ठ ८६,)

२. 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यश्रुतेः ब्रह्मस्वभावं सुखं, तथा च, ब्रह्मणो नित्यत्वात् तदपि नित्यमित्यर्थः' (तात्पर्यटीका—१।१।२२, पृष्ठ २३९)

३. न्यायवार्तिक—१।१।२२, पृष्ठ, ८६ ४. न्यायभाष्य—१।१।२२

५. न्यायवार्तिक—१।१।२२, पृष्ठ, ८७

अविकारी होने के कारण आत्मा पर राग आदि का प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे वर्षा और धूप से आकाश में कोई परिवर्तन नहीं होता किन्तु चमड़े पर उसका प्रभाव पड़ता है। आकाश अविकारी है। न वह भीग सकता है और न जल सकता है। चमड़ा विकारी है वह भीग भी सकता है और जल भी सकता है। इसी प्रकार मानना पड़ेगा कि क्रिया या किसी परिस्थिति का प्रभाव आत्मा जैसे अविकारी तत्त्व पर नहीं पड़ सकता और चित्त जैसा विकारी पदार्थ किन्हीं परिस्थितियों में विकृत हो सकता है[1]। यही कारण है कि बौद्ध चित्तसंतति के अवरोध को ही मोक्ष मानते हैं।

प्रतिक्षण नवीन रूप से उत्पन्न होनेवाले चित्त का उत्पन्न न होना अर्थात् उसकी उत्पत्ति का सर्वथा विराम हो जाना बौद्धमत में मोक्ष का स्वरूप माना गया है किन्तु उक्त मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि परवर्ती चित्त का उत्पन्न होना ही पूर्ववर्ती चित्त का विनाश है। इस प्रकार बौद्धमत में चित्त का विनाश स्वाभाविक और अवश्यंभावी है। अतः जो विनाश स्वतः सिद्ध होता रहता है उसके लिए प्रयत्न करना भूल है। अनादिकाल से चली आ रही सम्पूर्ण चित्तधारा का पूर्णतः विराम असंभव है। बौद्धों की मान्यता है कि जो चित्तसंतान अभी भविष्य के गर्भ में है उसका रुक जाना अर्थात् अवरोध ही मोक्ष है। किन्तु यह कथन भी उपयुक्त नहीं है। कारण अवरोध किसी विद्यमान पदार्थ का ही संभव होता है जो विद्यमान है ही नहीं उसका अवरोध कैसे माना जाये[2]? इस प्रकार चित्त का विनाश एवं उत्पत्ति का अवरोधरूप बौद्धसम्मत मोक्षसिद्धान्त समीचीन नहीं है। मोक्ष आत्मा का ही होता है।

अपवर्ग की सत्ता में प्रमाण

जो लोग मोक्ष की सत्ता में विश्वास नहीं करते हैं वे अपने पक्ष में निम्नलिखित युक्तियां उपस्थित करते हैं[3]।

ऋण सम्बन्ध—ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण इन तीनों ऋणों से मनुष्य जीवनपर्यन्त मुक्त नहीं हो पाता, जैसा कि निर्देश किया गया है :—

'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिः ऋणैः ऋणवान् जायते, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः, यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इति'। अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास आदि यज्ञ

१. 'वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्। चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः॥' (तात्पर्यटीका—१।१।२२, पृष्ठ २४२ पर उद्धृत)

२. न्यायवार्तिक—१।२।२२ पृष्ठ ८७

३. न्यायभाष्य—४।१।५९

करते-करते जीवन ही समाप्त हो जाता है, जैसा कि शास्त्र के वचनों से विदित होता है :—

'जरामर्यं वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासो चेति जरया ह एष तस्मात् सत्राद् विमुच्यते मृत्युना ह चेति'। अतएव सम्पूर्ण जीवन ऋण से छूटने के उपाय करने में ही व्यतीत हो जाता है, मोक्षविषयक प्रश्न के लिए अवसर ही नहीं रहता।

क्लेशसम्बन्ध—क्लेश का सम्बन्ध जीवनपर्यन्त रहने के कारण मुक्ति असम्भव है।

प्रवृत्तिसम्बन्ध—वाणी, बुद्धि और शरीर की चेष्टा को प्रवृत्ति कहते हैं। इन प्रवृत्तियों के फलस्वरूप धर्म एवं अधर्म की उत्पत्ति होती है। मनुष्य जीवनपर्यन्त उक्त तीन प्रकार की प्रवृत्तियों में संलग्न रहता है। इसलिए वह जीवन के अन्त तक धर्माधर्म से मुक्त नहीं हो पाता है। धर्म एवं अधर्म के नष्ट हुए बिना मोक्ष नहीं हो सकता।

अपवर्ग की सत्ता में अविश्वास करनेवालों की उक्त युक्तियाँ निराधार हैं। ऋण शब्द का अर्थ कर्ज़ नहीं है अपितु 'प्रशंसा' है। जो व्यक्ति ऋणत्रय द्वारा निर्दिष्ट कर्मों का सम्पादन करता है वह प्रशंसा का पात्र होता है। यही अभिप्राय उक्त ऋणज्ञापक वाक्य का है। यह भी नहीं माना जा सकता कि आजीवन—'जरावस्था' या मृत्युपर्यन्त विभिन्न वैदिक कर्मों के सम्पादन की आज्ञा दी गई है क्योंकि 'जरा' शब्द का अर्थ प्रकृत प्रकरण में 'आयु का चतुर्थ भाग' है। अत्यन्त जरावस्था में कोई भी व्यक्ति विभिन्न यागादिकों का सम्पादन नहीं कर सकता है। इसी प्रकार 'जायमानो ह वै ब्राह्मणः' वेदवाक्य में 'जायमान' शब्द का अर्थ 'पैदा होते ही' नहीं लिया जा सकता। पैदा होते ही कोई शिशु किसी कार्य के सम्पादन में समर्थ नहीं हो सकता। 'जायमान' शब्द का अर्थ होता है—ऐसा गृहस्थ जिसमें कर्म के सम्पादन का सामर्थ्य और फल प्राप्त करने की इच्छा विद्यमान हो।[1]

क्लेश का सम्बन्ध यद्यपि जीवन पर्यन्त रहता है किन्तु मोक्षावस्था में न तो क्लेश ही रहता है और न क्लेशवासना ही। अतएव जीवन में क्लेश का सम्बन्ध होने से मुक्तावस्था अमान्य नहीं हो सकती। प्रवृत्ति के सम्बन्ध द्वारा मोक्ष में अविश्वास करना उपयुक्त नहीं। क्योंकि केवल प्रवृत्ति ही धर्माधर्म की उत्पादक नहीं है अपितु संकल्पसहकृत प्रवृत्ति ही धर्म और अधर्म को उत्पन्न करती है। संकल्प के नष्ट हो जाने से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।[2]

---

१. न्यायवार्तिक—४।१।६० पृष्ठ४९५ २. न्यायवार्तिक—४।१।६८, पृष्ठ ४९८-९९

अपवर्ग की प्राप्ति के साधन—मिथ्याज्ञान ही संसार का कारण है। मिथ्याज्ञान के विनाश से अपवर्ग की प्राप्ति होती है। मिथ्याज्ञान का विनाश केवल तत्त्वज्ञान से होता है। जब तत्त्वज्ञान का विनाश हो जाता है तब रागद्वेष और मोहरूप दोषों का विनाश हो जाता है, क्योंकि मिथ्याज्ञान ही इनका कारण है। दोष भी प्रवृत्ति का कारण है अतएव दोषों के विनाश होते ही प्रवृत्ति का भी नाश हो जाता है अर्थात् धर्म और अधर्म नष्ट हो जाते हैं। धर्म एवं अधर्म-रूप अदृष्ट के नष्ट होने पर तज्जन्य जन्म का नाश हो जाता है। जन्म के अभाव से आत्मा के भोगसाधन शरीर आदि के न होने से सुख-दुःख-रूप भोग का विनाश हो जाता है। इस प्रकार दुःख का आत्यन्तिक विनाशस्वरूप मोक्ष तत्त्वज्ञान से प्राप्त होता है।[1] यह भी समझ लेना आवश्यक है कि यहाँ 'मिथ्याज्ञान' और 'तत्त्वज्ञान' इन शब्दों का क्या अर्थ है? यहाँ मिथ्याज्ञान का अर्थ संकुचित है। आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग इन द्वादश प्रमेयों का विपरीतज्ञान होना ही मिथ्याज्ञान है और इनका यथार्थज्ञान होना तत्त्वज्ञान है। मिथ्याज्ञान को संसार की सम्पूर्ण पदार्थसम्पत्ति से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि संसार में अनन्त पदार्थ हैं। अनन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करना मानवसामर्थ्य से परे है। अतएव यदि संसार के सभी पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष माना जायेगा तो ऐसे ज्ञान के असम्भव होने से मोक्ष की प्राप्ति भी असम्भव हो जायेगी।[2]

समाधि के अभ्यास से मन इन्द्रियों के विषयों से दूर होकर ज्ञेय पदार्थों की ओर एकाग्र होता है तदनुसार ज्ञेय प्रमेयों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। विघ्नों से बचने के लिए अरण्य गुफा और नदी के किनारे योग का अभ्यास करना चाहिए क्योंकि एकान्त स्थान में सांसारिक विघ्नों की न्यूनता रहती है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हेतु योग्य गुरुओं की शरण में जाना चाहिए और श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त करना चाहिए। उक्त साधनों के द्वारा अपवर्ग की प्राप्ति होती है।[3]

---

१. 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः, (न्यायसूत्र—१।१।२)

२. यद्यपि सामभेदादौ हलशकटादौ च मिथ्याज्ञानमनेकप्रकारकं भवति तथापि न तत्संसारहेतुरपित्वात्मादिद्वादशविधप्रमेयविशेषविषयमिति सूत्रस्थं मिथ्याज्ञानं विशेष्टमाह' (तात्पर्यटीका—१।१।२, पृष्ठ ८२)

३. न्यायसूत्र—३।२।३८-४८

अध्याय ११

न्यायवार्तिक में ईश्वर

न्यायसूत्रों में ईश्वर तत्त्व पर अधिक विचार नहीं हुआ है। केवल तीन सूत्रों में ही ईश्वरसम्बन्धी अस्पष्ट एवं विवादास्पद चिन्तन मिलता है जिससे सूत्रकार की ईश्वरविषयक धारणा का ठीक-ठीक पता नहीं चल पाता[1]। भाष्य एवं वार्तिक में उत्तरोत्तर अधिक स्पष्ट एवं पर्याप्त विचार हुआ है।

ईश्वर की सत्ता में प्रमाण—भाष्य में ईश्वर की सिद्धि अनुमान और आगम प्रमाण के द्वारा मानी गई है। जगत्सृष्टि में अपेक्षित ज्ञान आदि लिङ्ग के द्वारा ईश्वर-रूपी लिङ्गी का अनुमान होता है। आगम ने भी ईश्वर को द्रष्टा, वोद्धा एवं सर्वज्ञ माना है[2]। वार्तिक में ईश्वर की सत्ता पर अल्प विचार हुआ है। वार्तिककार ने सत्ताविषयक जिज्ञासा का समाधान करते हुये कहा है कि यदि ईश्वर की सत्ता न होती तो वह जगत् की सृष्टि में निमित्त कारण कैसे हो पाता? इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति में निमित्त कारण स्वीकार करके उसकी सत्ता मानी गई है[3]। वार्तिककार ने ईश्वर के अस्तित्व की पुष्टि में दो आगम-श्लोकों को भी उद्धृत किया है जिनके अनुसार जीव को सर्वज्ञ, स्वतंत्र और सर्वशक्तिमान न होने के कारण स्वयं अपनी व्यवस्था में असमर्थ माना गया है। उसके सुख एवं दुःख की व्यवस्था ईश्वर के हाथ में है जो जीवों को कभी स्वर्ग और कभी नरक भेजता है। ईश्वर के जागने पर सृष्टि एवं निद्रित होने पर प्रलय होती है[4]।

जगत् की सृष्टि में ईश्वर को निमित्त कारण सिद्ध करते समय सांख्य एवं मीमांसा जैसी ईश्वरविरोधी विचारधारा की आलोचना वार्तिक में पाई जाती है। सृष्टि की रचना करनेवाला कोई चेतन व्यक्ति होना चाहिये। सांख्य की अचेतन प्रकृति, मीमांसकों का अचेतन कर्म एवं नास्तिकों के अचेतन परमाणु ईश्वर जैसे प्रेरक के बिना सृष्टि के प्रारम्भ करने में समर्थ नहीं हो सकते। कुल्हाड़ी आप ही लकड़ी को नहीं काट सकती, उसके काटने के लिये पुरुष—

---

१. न्यायसूत्र—४।१।१९-२१ २. न्यायभाष्य—४।१।२१

३. न्यायवार्तिक—४।१।२१, पृष्ठ ४५७। ४. न्यायवार्तिक—४।१।२१, पृष्ठ ४६७

चेतन—की आवश्यकता होती है जैसा कि प्रत्यक्षसिद्ध है[1]। जिस प्रकार उक्त लौकिक कार्य किसी चेतन कर्ता के द्वारा सम्पन्न होता है उसी प्रकार जगत् की सृष्टि भी किसी पुरुष—ईश्वर की अपेक्षा रखती है।

निरीश्वर सांख्यमत की आलोचना—प्राचीन सांख्य दर्शन में ईश्वर तत्त्व का सर्वथा अभाव है अतएव सांख्यमत में सृष्टि की प्रक्रिया में ईश्वर जैसे चेतन की कारणता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस दर्शन में मूल प्रकृति से महान् आदि क्रम से परिणमन स्वीकार किया जाता है, इस परिणमन-रूप सृष्टि का मूल कारण पुरुषार्थ माना गया है। पुरुषार्थ के दो प्रभेद माने गये हैं—एक तो शब्द आदि लौकिक विषयों का ग्रहण और दूसरे सत्त्व, रज एवं तम इन तीनों गुणों का पुरुष से अन्तर समझकर होनेवाला मोक्ष[2]। अतः उभयविध पुरुषार्थ की सिद्धि प्रधान की प्रवृत्ति अर्थात् उसके परिणमन के बिना नहीं हो सकती क्योंकि जब तक प्रधान का महत् आदि क्रम से परिणमन नहीं होता तब तक न तो शब्द आदि लौकिक विषयों का ग्रहण ही हो सकेगा और न तो त्रिगुण से पुरुष का अन्तर ही समझा जा सकता है। वार्तिक में उक्त सांख्यमत का खण्डन इस प्रकार किया गया है—प्रधान की प्रवृत्ति के पहिले पुरुषार्थभूत (१) शब्द आदि विषयों का ज्ञान एवं (२) 'त्रिगुण से पुरुष का अन्तर' के अस्तित्व के अभाव होने से प्रधान की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि सांख्यमत में उक्त दो पुरुषार्थ ही सृष्टि के कारण माने जाते हैं। वार्तिककार के अनुसार सांख्यमत में आरम्भवाद मान्य न होने के कारण उक्त पुरुषार्थों को सिद्ध ही माननी होगा फिर उस सिद्ध पुरुषार्थ के लिये प्रकृति का परिणमन होता है, ऐसा मानना उचित नहीं। प्रकृति के परिणमन का इस प्रकार खण्डन किया गया है।

वार्तिककार सत्कार्यवाद के अनुसार पुरुषार्थ को पूर्वविद्यमान नहीं मानते क्योंकि यदि पुरुषार्थ को सत्—विद्यमान मान लिया जायेगा तो पुरुषार्थ के लिये किसी व्यक्ति की प्रवृत्ति न हो सकेगी। कारण, जो वस्तु जिस व्यक्ति के पास होती है वह व्यक्ति उसे पाने का प्रयास नहीं करता। दूसरे, यदि पुरुषार्थ को सत् मान भी लें और चूँकि सत् पदार्थ सदैव विद्यमान् ही रहता है, तो सृष्टि की प्रवृत्ति के कारण-रूप पुरुषार्थ के नित्य होने से प्रधान की प्रवृत्ति भी नित्य होगी। किन्तु ऐसी मान्यता सांख्य दर्शन के भी विरुद्ध पड़ेगी। अभिप्राय यह है कि यदि पुरुषार्थ के विद्यमान होने पर भी प्रधान में प्रवृत्ति न हो तो जिस पदार्थ के अस्तित्व से प्रधान में प्रवृत्ति हो और अभाव में प्रवृत्ति

१. न्यायवार्तिक—४।१।२१, पृष्ठ ४५७ २. न्यायवार्तिक—४।१।२१ पृष्ठ ४५७-५८

न हो उसे ही प्रवृत्ति का कारण मानना होगा न कि पुरुषार्थ को। पुरुषार्थ के वर्तमान होने पर भी प्रतिबन्धकविशेष के कारण प्रवृत्ति का अभाव नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि प्रतिबन्धक के अस्तित्व को स्वीकार करके फिर उसकी सत्ता का किसीकाल में अपलाप नहीं किया जा सकता और इसलिये प्रवृत्ति का सदैव अभाव रहेगा। तब फिर सत्त्व, रज एवं तम की साम्यावस्था-रूप प्रकृति का परिणाम किस आधार पर स्वीकार किया जायेगा? सांख्य का मत है कि गुणों के उत्कर्ष—अङ्गीभाव और अपकर्ष—अङ्गभाव के कारण वैषम्य उत्पन्न होता है और उससे प्रवृत्ति होती है किन्तु वैषम्य का कारण किसी गुण की वृद्धि और किसी की न्यूनता ही हो सकती है। वृद्धि का अर्थ होगा असत् का सत् होना और न्यूनता का अर्थ होगा सत् का असत् होना किन्तु उक्त वृद्धि एवं हानि सांख्य सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसलिये सृष्टिविषयक सांख्य का सिद्धान्त भ्रमपूर्ण है। बिना ईश्वर को निमित्त कारण माने सृष्टि-विषयक समस्या नहीं सुलझ सकती।

उक्त विषय से सम्बद्ध एक समस्या और है। प्रश्न यह है कि क्या नये शब्द आदि विषयों के ज्ञान में व्यक्ति को कुछ विशेषता या नवीनता का अनुभव होता है या नहीं? यदि शब्द आदि विषयों में किञ्चित् विशेषता की उत्पत्ति मानी जायेगी तो सांख्य का सिद्धान्त कि असत् वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती खण्डित हो जायेगा और यदि शब्द आदि विषयों में विशेषता की उत्पत्ति न मानी जायेगी तो भी पुरुषार्थ को प्रधान की प्रवृत्ति का कारण नहीं माना जायेगा[1]। अभिप्राय यह है कि यदि शब्दग्रहणरूप पुरुषार्थ नहीं उत्पन्न होता है अपितु सदैव उपस्थित रहता है तो उपस्थित—प्राप्त विषय की प्राप्ति किसी भी व्यक्ति का प्राप्य—पुरुषार्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार ईश्वर की सत्ता को न स्वीकार करके सांख्य मत में जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

निरीश्वर मीमांसक मत की आलोचना—वार्तिक में जीवों के कर्मद्वारा प्रेरित परमाणुओं से जगत् की सृष्टि मानने वाले मत का उल्लेख मिलता है[2]। वस्तुतः यह मत कर्ममीमांसा-दर्शन का है, यद्यपि वार्तिक में 'मीमांसा' शब्द का स्पष्टतः प्रयोग नहीं हुआ है।

भाष्यकार ने ईश्वर को ही पृथिवी आदि भूतों का प्रवर्तक माना है[3]। वार्तिककार ने कर्म की प्रेरणा से जगत् की सृष्टि मानने की आलोचना की है। कर्म के सदैव विद्यमान रहने के कारण परमाणुओं में सृष्टि की प्रवृत्ति सदैव

१. न्यायवार्तिक—४।१।२१ पृष्ठ ४५८—५९

२. न्यायवार्तिक—४।१।२१ पृष्ठ ४५९ ३. न्यायभाष्य—४।१।२१।

होती रहेगी किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। सदैव सृष्टि नहीं हुआ करती। प्रलय और स्थिति की भी दशायें आती हैं। परमाणुओं की प्रवृत्ति का नियामक काल को मानने पर साध्यसम हेत्वाभास का प्रसंग आ जाता है। जैसे विद्यमान कर्म से परमाणुओं में सतत प्रवृत्ति-रूप दोष आ जाता है वैसे काल के सदैव विद्यमान होने के कारण भी पूर्वस्थिति में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। जैसे अनेक परमाणुओं में प्रवृत्ति-कम्पन उत्पन्न करने के लिए बिना चेतन रूप ईश्वर के माने काम नहीं चल सकता वैसे ही अचेतन काल के प्रवर्तन के लिए भी ईश्वर की अपेक्षा होगी।

प्रतिपक्षी की यह युक्ति, कि जिस प्रकार गाय आदि का दूध जो अचेतन होता है बछड़े के पोषण के लिए स्वतः वह निकलता है उसी प्रकार अचेतन परमाणु भी जीवों के भोग के लिए सक्रिय हो उठते हैं, भी उपयुक्त नहीं प्रतीत होती है। कारण, उक्त युक्ति में ही साध्यसम दोष है। अचेतन दुग्ध की स्वतः प्रवृत्ति साध्य है उसी प्रकार परमाणुओं का स्वतः कम्पन भी। दुग्ध की प्रवृत्ति को साध्य इसलिए माना गया है कि यदि दुग्ध की प्रवृत्ति स्वतः होती रहती तो मरी गाय में भी दिखाई पड़ती, किन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। तब तो अगत्या यही सिद्ध होता है कि बुद्धियुक्त चेतन—गाय द्वारा ही दुग्ध की प्रवृत्ति होती है अर्थात् गाय अपनी इच्छा से अपने बछड़े के लिए अचेतन दुग्ध को प्रवृत्त करती है। यही युक्ति जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में भी लागू होती है। ईश्वर जीवों के उपभोग के लिए परमाणुओं को जगत् की सृष्टि में प्रवृत्त करता है।

तात्पर्यटीकाकार ने जगत् के कर्ता को चेतन मानने में युक्ति दी है कि भावपदार्थ के ३ प्रभेद होते हैं[1]:—

१—कुछ ऐसे पदार्थ होते हैं जिनके कर्ता ज्ञात रहते हैं जैसे—प्रासाद, अट्टालिका, गोपुर, तोरण आदि। सर्वसम्मति से इनके कर्ता चेतन ही माने जाते हैं।

२—कुछ ऐसे पदार्थ होते हैं जिन्हें कार्य नहीं माना जाता। जैसे—परमाणु एवं आकाश आदि।

३-कुछ ऐसे पदार्थ होते हैं जिनके बारे में संदेह होता है कि उनके कर्ता चेतन हैं अथवा अचेतन। इन पदार्थों के अन्दर शरीर एवं पर्वत आदि पदार्थ आते हैं।

उक्त तीन प्रकार के भाव पदार्थों में से तीसरे प्रकार के पदार्थों के बारे में यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि उनका कर्ता चेतन है अथवा नहीं।

१: तात्पर्यटीका—४।१।२१, पृष्ठ—५९८-९९।

प्रत्यक्षतः उनका कर्ता न मिलने के कारण उन्हें चेतन के द्वारा उत्पन्न न मानना उचित नहीं। किसी कार्य का कर्ता वही हो सकता है जिसे कार्य के उपादान कारण की जानकारी ठीक तरह से हो। उपादान को भी कार्य का निमित्त-कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह अचेतन होता है। उक्त विवरण से यही सिद्ध होता है कि प्रासाद आदि भाव पदार्थों की भाँति शरीर एवं पर्वत आदि पदार्थ भी किसी चेतन–ईश्वर की रचना हैं। तात्पर्यटीकाकार के विवेचन से जगत् का भी निमित्त-कारण ईश्वर सिद्ध होता है।

वार्तिककार ने महाभूतों का नियामक ईश्वर को माना है।[1] जिस प्रकार रूपयुक्त तुरी जैसे लौकिक पदार्थों का नियन्त्रण बुद्धिमान् व्यक्ति करता है उसी प्रकार रूप आदि गुणों से युक्त महाभूतों का नियन्त्रणकर्ता भी कोई बुद्धिमान् व्यक्ति–ईश्वर होगा। ईश्वर के अतिरिक्त महाभूतों का नियामक धर्म एवं अधर्म भी नहीं हो सकते क्योंकि वे भी चेतन नहीं होते। यदि यह कहा जाये कि प्रत्येक आत्मा अपने धर्म एवं अधर्मरूप कारण से प्रकृति का उपभोग करता है, इस प्रकार ईश्वर तत्त्व के न स्वीकार करने पर भी उपभोग के लिए प्रकृति में परिणमन होता है तो यह कथन भी उपयुक्त नहीं। कारण, जब तक प्रकृति में परिणमन नहीं होता तब तक आत्मा भी शरीर एवं इन्द्रिय से रहित होती है क्योंकि शरीर एवं इन्द्रिय प्रकृति के ही विकार हैं और शरीर एवं इन्द्रिय जैसे करण के बिना आत्मा धर्म एवं अधर्म का नियामक नहीं हो सकती। यह इसलिये कि शरीर एवं इन्द्रिय ज्ञान के साधन होते हैं और इनके अभाव में आत्मा अज्ञ रहती है। अतएव जब शरीर एवं इन्द्रिय के बिना रूप आदि प्रत्यक्ष विषयों का ग्रहण नहीं हो सकता तो उक्त परिस्थितियों में धर्म एवं अधर्म का—जो प्रत्यक्ष हैं—ग्रहण एवं नियन्त्रण कैसे किया जा सकता है? इसलिये चेतन ईश्वर की मान्यता आवश्यक हो जाती है।

ईश्वर का स्वातन्त्र्य—वार्तिक में ईश्वर को स्वतन्त्र कहा गया है। यहाँ स्वतन्त्रता का अर्थ पूर्ण निरपेक्ष होना नहीं है।[2] वार्तिककार के अनुसार ईश्वर की स्वतन्त्रता का अर्थ यही है कि वह किसी अन्य कर्ता द्वारा किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं किया जाता, अपितु वही सभी जीवों को विभिन्न कर्मों में प्रवृत्त कराता है।

वार्तिक में ईश्वर की स्वतन्त्रता की सीमा के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया गया है। क्या ईश्वर को सृष्टि आदि कर्म के लिए किसी पदार्थ की अपेक्षा होती है? यदि ऐसा है तो ईश्वर अपेक्षित पदार्थों का कर्ता नहीं हो सकता और

१. न्यायवार्तिक–४।१।२१ पृष्ठ-४५९-६० २. न्यायवार्तिक–४।१।२१, पृष्ठ ४६१।

इस प्रकार वह सम्पूर्ण जगत् का कर्ता नहीं हो सकता। वार्तिककार ने उक्त प्रश्न का समाधान किया है[1]—यह आवश्यक नहीं कि जिस करण से किसी वस्तु का निर्माण किया जाये वह करण उसी कर्ता के द्वारा निर्मित न हुआ हो। उदाहरण के लिये कई कलाओं में निपुण कोई शिल्पी यन्त्रों की सहायता से कुल्हाड़ी बनाता है, पुनः उसी कुल्हाड़ी से दण्ड तैयार करता है और फिर उस दण्ड की सहायता से घट का निर्माण करता है। प्रकृत स्थल में कुल्हाड़ी और दण्ड यद्यपि दण्ड और घट के प्रतिकरण हैं तो भी सम्बद्ध कर्ता द्वारा ही निर्मित हैं।

वार्तिककार ने यहाँ सृष्टिसम्बन्धी निमित्तकारण के कर्ता के प्रश्न को लेकर विचार किया है किन्तु समवायिकारण परमाणु आदि का कर्ता न होने के कारण ईश्वर की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में शंका नहीं प्रकट की गई है। ईश्वर जगत् का केवल निमित्तकारण है। निमित्तकारण होने से उसे समवायिकारण और असमवायिकारण का अनुग्राहक माना गया है।[2] ईश्वर परमाणु आदि नित्य द्रव्य का उत्पादक नहीं है और ये ही परमाणु जगत् के समवायिकारण हैं। इस प्रकार सृष्टिकर्म में ईश्वर पूर्ण निरपेक्ष नहीं सिद्ध हुआ।[3] और पूर्ण निरपेक्ष न होने के कारण वह पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हो सकता।

यद्यपि उक्त प्रश्न वार्तिक में नहीं पाया जाता परन्तु वार्तिक में हुए ईश्वर सम्बन्धी विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वार्तिककार ईश्वर को सृष्टिकर्म में परमाणु आदि से निरपेक्ष निमित्तकारण नहीं मानते हैं। उन्होंने कार्य की उत्पत्ति में ईश्वर को निम्नलिखित पाँच विषयों की अपेक्षा मानी है:—

१—धर्म एवं अधर्म के परिपाक का काल
२—अन्य सहायक कार्यों की उपस्थिति
३—कार्य द्रव्यों के भोक्ता जीवात्माओं का अस्तित्व
४—सम्बद्ध जीवों के धर्म एवं अधर्म का परिपाक
५—उक्त परिस्थितियों के प्रतिबन्धक का अभाव

उक्त अपेक्षित पाँच विषयों के कारण ईश्वर की शक्ति सीमित हो जाती है और इसलिये वह सृष्टि करने एवं प्राणियों को फल देने में पूर्णतः निरंकुश नहीं है। सृष्टि का क्रम भी उक्त कारणों द्वारा नियन्त्रित रहता है।

ईश्वर का सृष्टि में प्रयोजन—यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जगत् की सृष्टि में ईश्वर का क्या प्रयोजन है? भाष्यकार ने ईश्वर को पिता के समान

१. न्यायवार्तिक—४।१।२२, पृष्ठ ४६२
२. न्यायवार्तिक—४।१।२१, पृष्ठ ४५७ ३. न्यायवार्तिक—४।१।२१, पृष्ठ ४६२

माना है जो अपने सन्तानतुल्य जीवों के लिये जगत् की सृष्टि करता है।[1] तात्पर्यटीकाकार ने ईश्वर को दयालु मानने पर भी सभी जीवों को समान सुखी न करने का कारण जीवों के कर्मों के अनुसार सुख-दुःखमय जगत् की सृष्टि को माना है।[2] वार्तिककार ने प्रत्येक प्राणी का उद्देश्य सुख की प्राप्ति अथवा दुःख की निवृत्ति माना है।[3] परन्तु ईश्वर के लिये कोई भी पदार्थ हेय नहीं है जिसको त्यागने के लिये वह प्रयत्न करे। हेय इसलिये नहीं कि वह दुःखों से अतीत है। रहा दूसरा विकल्प कि ईश्वर सुख की प्राप्ति के लिए चेष्टा करता हुआ सृष्टि करता है। यह भी सम्भव नहीं क्योंकि उसके लिए कोई भी पदार्थ उपादेय नहीं है जिसे प्राप्त करने के लिए वह चेष्टा करे। उसे सभी पदार्थ प्राप्त रहा करते हैं।

ईश्वर का क्रीडा (लीला) के लिये जगत् की सृष्टि करना वार्तिकसम्मत नहीं। क्रीडा में भी वही व्यक्ति प्रवृत्त होते हैं जिन्हें क्रीडा करने में आनन्द आता है और क्रीडा न करने से किञ्चित् आनन्द का, चाहे वह कितना ही स्वल्प क्यों न हो, अभाव मानना ही पड़ेगा। यदि क्रीडार्थी में सुख का अभाव न होता तो वह क्रीडा करने की इच्छा ही न करता। अतएव लीलाप्रयुक्त सृष्टिविषयक प्रकृत मान्यता उचित नहीं[4]। यह मत कि ईश्वर अपनी नाना प्रकार की विभूतियों का प्रदर्शन करने के लिये सृष्टि करता है, पूर्व आलोचित मत के समान होने के कारण अमान्य है[5]।

फिर सृष्टि में ईश्वर का क्या प्रयोजन है? वार्तिककार ने सृष्टि करना ईश्वर का स्वभाव माना है[6]। अर्थात् वे किसी निजी प्रयोजन से जगत् की सृष्टि नहीं करते, किन्तु जैसे किसी परोपकारी व्यक्ति का यह स्वभाव होता है कि वह किसी निजी स्वार्थ के न होते हुए भी परोपकार के लिए प्रवृत्त होता है इसी प्रकार ईश्वर भी परोपकारार्थ जगत् की रचना करता है। स्वभाव को कारण मानकर वार्तिककार ने हेय और उपादेय के भाव का निराकरण किया है तथा उदाहरण-रूप में उन्होंने अभिप्रायशून्य भूमि आदि जड़ पदार्थों को भी उपस्थित किया है। जिस प्रकार भूमि आदि जड़ पदार्थ में धारण आदि क्रिया देखी जाती है जब कि भूमि आदि के लिए कोई हेय और उपादेय पदार्थ नहीं होते, उसी प्रकार ईश्वर भी सृष्टि करता है किन्तु किसी भी क्रिया में उसका अपना स्वार्थ नहीं होता।

---

१. न्यायभाष्य–४।१।२१ २. तात्पर्यटीका–४।१।२१, पृष्ठ ५९६
३. न्यायवार्तिक–४।१।२१ पृष्ठ ४६२-६३। ४. न्यायवार्तिक-४।१।२१ पृष्ठ ४६२।
५. न्यायवार्तिक–४।१।२१ पृष्ठ ४६३। ६. न्यायवार्तिक–४।१।२१ पृष्ठ ४६३।

सृष्टि को ईश्वर का स्वभाव मानने पर भी कुछ आपत्तियाँ उठ खड़ी होती हैं। स्वभाव यावद्द्रव्यभावी होता है अतएव ईश्वर के विद्यमान रहने पर सदैव सृष्टि होती रहनी चाहिए, जैसा कि नहीं होता अर्थात् सृष्टिविषयक प्रवृत्ति एवं निवृत्ति ये दोनों दशायें ईश्वर में पाई जाती हैं, न कि केवल सृष्टिसम्बन्धी प्रवृत्ति ही। उक्त समस्या का समाधान वार्तिककार ने किया है। ईश्वर बुद्धिविशिष्ट आत्मा है जो धर्म और अधर्म आदि पूर्वप्रतिपादित कारणों का आश्रय लेकर सृष्टि में प्रवृत्त होता है। अतएव सृष्टि के अनुकूल स्वभावरूप कारण की एकरूपता जैसा दोष ईश्वर में नहीं माना जा सकता।

किन्तु उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर में सृष्ट्यनुकूल स्वभाव की सिद्धि करते हुए उसे हेय एवं उपादेय से अलग रखते हुए एक स्थान पर पृथिवी जैसी जड़ वस्तु से तुलना करके एवं स्वभाव की अपरिहार्यता देखकर उसे बुद्धिविशिष्ट-पृथिवी आदि से विपरीत मानकर वार्तिककार ने विरुद्ध वक्तव्य देकर अपनी युक्ति को लचर बना दिया है। प्रकृत विवेचन बुद्धि को संतोष नहीं दे पाता।

ईश्वर के गुण—'ईश्वर आत्मा का प्रभेद है' इसके संबन्ध में सूत्रकार ने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। परन्तु उन्होंने यह भी स्पष्टतः नहीं कहा है कि ईश्वर आत्मा का प्रभेद नहीं है। सूत्रगत मुख्य प्रमेयों के अन्तर्गत भी ईश्वर नहीं आ पाता[1]। भाष्यकार ने ईश्वर को गुणविशिष्ट आत्मा माना है। ज्ञान, धर्म और समाधि ईश्वर के गुण हैं। ईश्वर में अधर्म, मिथ्याज्ञान और प्रमाद नहीं होते। ईश्वर में अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य भी होते हैं[2]। वार्तिककार ने ईश्वर के धर्म एवं ऐश्वर्य को नित्य माना है। ईश्वर में नित्य ज्ञान एवं क्रियाशक्ति होने के कारण तात्पर्यटीकाकार उसमें अतिरिक्त ऐश्वर्य को आवश्यकता नहीं मानते[3]। भाष्यकार के अनुसार ईश्वर को आत्मा का प्रभेद मानने का कारण उसमें विशिष्ट बुद्धि होना है। बुद्धि आत्मा का ही गुण होता है और किसी का नहीं। ईश्वर में बुद्धि है अतएव ईश्वर एक प्रकार की आत्मा है। ईश्वर की बुद्धि विशेष प्रकार की होती है अतएव ईश्वर एक विशेष प्रकार की आत्मा है[4]।

वार्तिककार ने भी गुण विशेष का आश्रय होने के कारण ईश्वर को द्रव्यविशेष माना है[5] जिसका अभिप्राय यह होता है कि परमेश्वर आत्माओं

---

१. न्यायसूत्र—१।१।९ २. न्यायभाष्य—४।१।२१

३. तात्पर्यटीका—४।१।२१ पृष्ठ ५९७ ४. न्यायभाष्य—४।१।२१

५. न्यायवार्तिक—४।१।२१ पृष्ठ ४६४

के अन्दर ही जीवात्माओं से अतिरिक्त एक परमात्मा है, जैसा कि भाष्यकार के कथन से प्राप्त होता है, सही नहीं है किन्तु वह पृथिवी, जल, तेज आदि नौ द्रव्यों से अतिरिक्त उन नौ द्रव्यों का नियन्ता एक स्वतंत्र द्रव्य है। आशय यह है कि वह वैशेषिक दर्शन में उल्लिखित नौ द्रव्यों के अन्तर्गत नहीं है किन्तु स्वतंत्र दसवाँ द्रव्य है। वार्तिक में बुद्धि के अतिरिक्त संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग भी ईश्वर के गुण माने गये है[1]। धर्म और ऐश्वर्य आदि गुण भी ईश्वर में माने गये हैं।

वार्तिक में ईश्वर की संख्या के सम्बन्ध में यह शंका उठाई गई है कि जिस प्रकार बुद्धि का आधार होने के कारण ईश्वर को आत्मा माना जाता है उसी प्रकार बुद्धिमान् होने के कारण ईश्वर अनेक भी हो सकते हैं क्योंकि बुद्धिविशिष्ट आत्मा अनेक देखे जाते हैं[2]। वार्तिक में इस शंका का समाधान पाया जाता है—जिस प्रकार गुणविशिष्ट बुद्धि के अभाव होने के कारण पृथिवी आदि द्रव्य आत्मा नहीं माने जाते हैं उसी प्रकार आत्माओं में अतिशय बुद्धिविशेष न होने के कारण वे ईश्वर नहीं माने जा सकते। यद्यपि बुद्धि का आधार होने के कारण ईश्वर आत्मा है परन्तु ईश्वर जैसी विशेष बुद्धि उस एक ईश्वर को छोड़कर अन्यत्र नहीं है, अन्यथा पूर्वोक्त किसी विषय पर असहमति आदि दोष आपन्न होंगे। अतएव ईश्वर एक ही है और उसकी बुद्धि जीवों से विलक्षण है।

नित्यता ही ईश्वर की बुद्धि की विशेषता है। यदि ईश्वर की बुद्धि क्षणिक होती तो वह अवश्य ही विनाश्य होती और जीवात्मा की भांति विभिन्नकाल में विभिन्न बुद्धियाँ उत्पन्न होतीं। परन्तु ईश्वर प्रत्येककाल में अनन्तविषयक एक बुद्धि से युक्त रहता है क्योंकि एक काल में विश्व में अनेक क्रियायें उत्पन्न की जाती हैं। जैसे एक क्षण में ही ईश्वर द्वारा अनेकों वृक्ष उत्पन्न किये जाते हैं। ईश्वर में इन सब क्रियाओं का ज्ञान रहा करता है। इसलिए ईश्वर की बुद्धि नित्य है। तात्पर्यटीकाकार ने ईश्वर के ज्ञान को नित्य एवं सर्वविषयक मानने में युक्ति दी है। ईश्वर का ज्ञान अनित्य नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान के उत्पन्न होने के पूर्व विभिन्न कार्यों का सम्पादन करने के लिए दूसरे ईश्वर की कल्पना करनी पड़ेगी और उसका भी ज्ञान जन्य होने के कारण पहिले अन्य ईश्वर की कल्पना आवश्यक होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा[3]। इस दोष को स्वीकार करने की अपेक्षा ईश्वर के ज्ञान को नित्य मान लेना कहीं अधिक अच्छा होगा।

---

१. न्यायवार्तिक—४।१।२१ पृष्ठ ४६५ २. न्यायवार्तिक—४।१।२१ पृष्ठ ४६४
३. तात्पर्यटीका—४।१।२१, पृष्ठ ६०१

वार्तिककार के अनुसार ईश्वर का ज्ञान भूत, वर्तमान एवं भविष्य इन तीनों कालों से सम्बद्ध रहता है। यह त्रैकालिक ज्ञान प्रत्यक्षात्मक होता है। इसे अनुमानज नहीं मान सकते और न तो आगम आदि प्रमाणों से उत्पन्न हुआ ही। ईश्वर के ज्ञान को अनुमान प्रमाण से उत्पन्न होनेवाला न मानने का कारण वार्तिककार ने यह बतलाया है कि लिङ्गस्मरण भी अनुमान में कारण होता है, स्मरणज्ञान के लिए भूतकाल में प्रत्यक्ष किये गये विषय के संस्कार की अपेक्षा होती है। संस्कार तभी उत्पन्न हो सकता है जब प्रत्यक्षभूत वस्तु का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नष्ट हो जाये। परन्तु ईश्वर का ज्ञान नित्य होता है इसलिए जब प्रत्यक्षज्ञान का विनाश ही नहीं होता तो संस्कार की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। इस प्रकार परम्परया अनुमान-ज्ञान की भी ईश्वर में उपपत्ति नहीं होती[1]।

वार्तिककार ईश्वर को शरीरी नहीं मानते[2]। यद्यपि यह सत्य है कि जिसमें बुद्धि होती है वह शरीरी हुआ करता है। किन्तु शरीर सदा जन्य धर्म एवं अधर्म से उत्पन्न हुवा माना जाता है। अतएव जन्य धर्म एवं अधर्मरूप कारण द्वारा शरीर को प्राप्त करने वाला ईश्वर परतंत्र होता हुआ ईश्वर की संज्ञा से विभूषित नहीं हो सकता। यदि ईश्वर के शरीर को नित्य माना जाये तो भी दृष्टविरोध की आपत्ति होती है क्योंकि सभी शरीर अनित्य देखे जाते हैं। ज्ञान और शरीर में व्याप्यव्यापक संबन्ध न होने के कारण तात्पर्यटीकाकार ईश्वर को शरीरी नहीं मानते[3]। ईश्वर को शरीरी मानने वाला व्यक्ति उत्कर्ष-सम जाति का प्रयोग करता है। उत्पत्तिशील होने के कारण घट के समान शब्द को अनित्य कहने पर घट की शब्द में समानता दिखलाकर घट के समान शब्द को भी रूपवान् सिद्ध करने का प्रयास करना उत्कर्षसम जाति होता है। इसी प्रकार लौकिक प्राणियों की समानता-मात्र से ज्ञानयुक्त होने के कारण ईश्वर को शरीरी कहना उत्कर्षसम जाति है।

वार्तिककार ने ईश्वर के ऐश्वर्य को नित्य माना है[4]। ईश्वर का ऐश्वर्य अनित्य नहीं हो सकता है। अनित्य ऐश्वर्यों में परस्पर भेद होता है। अणिमा आदि सिद्धियों में परस्पर अतिशय होता है, अतएव उनसे विभूषित ईश्वरों में परस्पर अतिशय होगा। इस प्रकार अनेक ऐश्वर्यों से युक्त अनेक ईश्वरों का किसी विषय पर मतभेद हो सकता है। तदनुसार अपेक्षाकृत अधिक ऐश्वर्यवान् ही ईश्वर माना जा सकेगा। नित्य ऐश्वर्य मानने में उक्त समस्या नहीं उत्पन्न

१. न्यायवार्तिक४।१।२१ पृष्ठ ४६५-६६। २. न्यायवार्तिक–४।१।२१पृष्ठ ४६५
३. तात्पर्यटीका–४।१।२१ पृष्ठ ६००। ४. न्यायवार्तिक–४।१।२१ पृष्ठ ४६३-६४

होती है इसलिए ईश्वर का ऐश्वर्य नित्य ही माना जाना चाहिए। वार्तिककार के मत से जीवों के कर्मफल का व्यवस्थापक होना ही ईश्वर का ऐश्वर्य है। इसके अतिरिक्त लोकप्रसिद्ध ऐश्वर्य का ईश्वर में सर्वथा अभाव है।

वार्तिक में ईश्वर का धर्म नित्य माना गया है। ईश्वर का धर्म जीवात्माओं के कर्म से उत्पन्न हुए धर्म के समान विनाश्य नहीं है। ईश्वर का नित्य धर्म उसमें ऐश्वर्य उत्पन्न करने के लिए नहीं है अपितु जीवात्माओं के धर्म एवं अधर्म के परिपाक होने पर उनको फल देने के लिए है[1]। भाष्यकार ने भी ईश्वर को जीवों के कर्मानुसार उन्हें फल देने वाला माना है[2]।

वार्तिककार ईश्वर में अधर्म और विराग का अभाव मानते हैं[3]। ईश्वर में अधर्म नहीं होता अतएव वह दुःखी नहीं माना जाता। न तो उसमें विराग नामक गुण ही होता है क्योंकि वैराग्य दुःखपूर्वक ही होता है। ईश्वर में दुःख का अभाव है। दुःख के अभाव होने के कारण ईश्वर में द्वेष का अभाव माना गया है। ईश्वर में इच्छा नामक गुण भी माना गया है। परंतु ईश्वर की इच्छा क्लिष्ट नहीं होती। क्लिष्ट इच्छा उसे कहते हैं जो पूर्ण न होने के कारण दुःख का कारण बने। ईश्वर की गति सभी विषयों में अबाध रहती है अतएव उसकी इच्छा का पूर्ण न हो पाना किसी प्रकार मान्य नहीं हो सकता। तात्पर्यटीकाकार ने ईश्वर की इच्छा और प्रयत्न को भी उसके ज्ञान की भांति नित्य माना है[4]।

ईश्वर दुःख से रहित होने के कारण बद्ध आत्मा नहीं माना जा सकता और चूँकि जो आत्मा कभी बद्ध होती है वही कालान्तर में मुक्त हो सकती है। ईश्वर किसी भी काल में बद्ध नहीं होता, अतएव वार्तिककार उसे मुक्त की संज्ञा से अभिहित करना उचित नहीं मानते[5]। बद्ध एवं मुक्त शब्दों का प्रयोग जीवात्माओं तक ही सीमित है। इन्हें ईश्वर से नहीं जोड़ना चाहिए।

ईश्वर का जीवात्मा से संबन्ध—वार्तिककार ने ईश्वर और जीव का संबन्ध 'अज' माना है[6]। अज का अर्थ है अनादि अर्थात् नित्य। लौकिक मूर्त पदार्थों के सम्बन्ध उत्पत्तिशील हुआ करते हैं किन्तु व्यापकद्वय का संबन्ध अज मानना चाहिए। प्रकृत स्थल में अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति नहीं होती अपितु दोनों पदार्थ अनादि काल से प्राप्त ही रहते हैं। घट एवं आकाश के संबन्ध-स्थल में यद्यपि आकाश व्यापक होता है तो भी उसका घट के साथ

---

१. न्यायवार्तिक—४।१।२१, पृष्ठ ४६४। २. न्यायभाष्य—४।१।२१
३. न्यायवार्तिक—४।१।२१, पृष्ठ ४६६। ४. तात्पर्यटीका—४।१।२१ पृष्ठ६०४।
५. न्यायवार्तिक-४।१।२१। पृष्ठ ४६६। ६. न्यायवार्तिक—४।१।२१। पृष्ठ४६६

संबंध माना जाता है उसी प्रकार व्यापक ईश्वर का संबंध घट-पट आदि सांसारिक पदार्थों से भी रहता है। घट और ईश्वर के संबन्ध की भांति ईश्वर का संबन्ध व्यापक जीवों के धर्म एवं अधर्म से भी हो सकता है।

वार्तिककार ने ईश्वर और जीव का संबन्ध प्रकारान्तर से भी माना है। घट एवं आकाश की भांति ईश्वर का जीवात्मा के अणुपरिमाण वाले मन से संयोग मान्य हो सकता है और जीवात्मा के मन एवं जीवात्मा का संयोग मान्य ही होता है। इस प्रकार ईश्वर का जीवात्मा के मन से और मन का जीवात्मा से संबन्ध होने से ईश्वर और जीवात्मा के बीच संयुक्तसंयोग सबन्ध स्थापित हुआ[1]। यह संबन्ध परम्परया होता है न कि साक्षात्।

तात्पर्यटीकाकार ईश्वर को परमाणुओं से और परमणुओं को जीव से संयुक्त मानकर भी ईश्वर एवं जीव के बीच परम्परया सम्बन्ध मानते हैं।[2] जीव से सम्बन्ध होने के कारण जीवगत धर्म एवं अधर्म के ज्ञान से ईश्वर यथोचित सृष्टि करता है।

वार्तिककार के अनुसार ईश्वर सृष्टिकाल के अतिरिक्त स्थितिकाल में भी जीवों के धर्म एवं अधर्म से सम्बद्ध होता है।[3] धर्म एवं अधर्म के परिपाक होने पर सम्बद्ध जीवों को ईश्वर फल देता है। अचेतन होने के कारण धर्म एवं अधर्म ईश्वर द्वारा अधिष्ठित होते हैं। सम्पूर्ण जगत् में पाये जाने वाले रूप आदि भोग जीवों को प्राप्त होते रहते हैं। जीवों को कर्म के अनुसार ही ईश्वर फल देता है।

तात्पर्यटीकाकार ने ब्रह्मपरिणामवाद और ब्रह्मविवर्तवाद का खण्डन किया है :—

ब्रह्मपरिणामवाद की आलोचना—मिट्टी ही जिस प्रकार विभिन्न घट, शराव (कुल्हड़) आदि रूपों में परिणत होती है, एक ब्रह्मस्वरूप परमेश्वर जागतिक विभिन्न समग्र वस्तुओं के रूप में परिणत होते हुए जगत्-रूप में परिणत होता है।[4] यह मत इसलिए मान्य नहीं कि परिणाम या तो पूरे ब्रह्म का माना जायेगा अथवा उसके एक भाग का। पूरे ब्रह्म का परिणाम मानने पर ब्रह्म-तत्त्व का ही विनाश मानना पड़ेगा और एक भाग का परिणाम मानने पर ब्रह्म को सावयव मानना पड़ेगा[5]। सावयव पदार्थ अनित्य होता है इसलिए ब्रह्म को भी अनित्य मानना होगा। अतएव प्रकृत मत समीचीन नहीं।

---

१. तात्पर्यटीका—४।१।१९, पृष्ठ ५९३। २. तात्पर्यटीका—४।१।२०, पृष्ठ ५९४
३. तात्पर्यटीका—४।१।१९, पृष्ठ ५९३। ४. तात्पर्यटीका—४।१।१९, पृष्ठ ५९३
५. तात्पर्यटीका—७।१।२०. पृष्ठ ५९४

विवर्तवाद की आलोचना—विवर्तवाद के अनुसार अविद्या अनादि और मिथ्या है इसलिए एक ब्रह्म में अनेक रूप तथा नामस्वरूप जगत् का आरोप होता है। वस्तुतः जगत् की पारमार्थिक सत्ता ही नहीं है। जिस प्रकार एक मुख ही तेल, मणि एवं तलवार आदि भिन्न-भिन्न आधारों में भिन्न-भिन्न आकृति-युक्त दिखाई देता है किन्तु तद्गत भिन्नतायें मिथ्या हैं केवल मुख ही सत्य है। इसी प्रकार ब्रह्म में जगत् की भ्रामक प्रतीति होती है[1]। विवर्तवाद द्वारा भी सृष्टि की व्याख्या नहीं हो सकती। ब्रह्म एक, स्वयंप्रकाश्य और भागरहित माना जाता है। फिर उसमें जगत् का भ्रम कैसे हो सकता है। भ्रम के लिए दो पदार्थों का होना आवश्यक होता है। उन दोनों के समान गुणों का ज्ञान होना आवश्यक होता है। ब्रह्म एक और केवल एक ही है। वह स्वयं प्रकाश भी है फिर वहाँ भ्रम की गुञ्जाइश कहाँ[2]? इस प्रकार विवर्तवाद का खण्डन हो जाता है।

इन वादों की आलोचना से यही सिद्ध होता है कि जगत् सत्य है और ईश्वर उसका निमित्तकारण है।

१. तात्पर्यटीका—४।१।१९ पृष्ठ ५९३। २. तात्पर्यटीका—४।१।२० पृष्ठ ५९४



अध्याय १२

न्यायवार्तिक में अन्य विभिन्न मतों की आलोचना

न्यायवार्तिक में न्यायसिद्धान्तों की पुष्टि के अतिरिक्त अपर दार्शनिक मतों की आलोचना मिलती है। पिछले अध्यायों में प्रसङ्गानुसार अन्य दार्शनिक मतों की वार्तिकसम्मत आलोचना दी गई है। आलोच्य विषयों का संकेत प्राक्कथन में भी दिया गया है। इस अध्याय में आलोचना के लिए केवल उन्हीं विषयों को लिया गया है जिनकी आलोचना पिछले अध्यायों में नहीं हो पाई है। यद्यपि ये विषय सूत्रों से ही मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं किन्तु इनकी आलोचना में वार्तिककार ने भी मौलिक चिन्तन किया है।

आकस्मिकत्ववाद की आलोचना

आकस्मिकत्ववादी पदार्थों की उत्पत्ति बिना किसी कारण के ही अर्थात् अकस्मात् मानते हैं। आकस्मिकत्ववादियों की युक्ति है कि जिस प्रकार 'काँटा नुकीला होता है', 'पत्थर चिकना होता है' किन्तु इनकी रचना कोई व्यक्ति नहीं करता है उसी प्रकार शरीर आदि की उत्पत्ति का भी कोई कारण नहीं होता[1]। आकस्मिकत्ववादी के मत का खण्डन एकदेशी इस प्रकार करता है—'अकारण पदार्थों की उत्पत्ति होती है' वाक्य से ही सिद्ध होता है कि उत्पत्ति का कारण 'अकारण' है[2]। इस प्रकार उत्पत्ति का कुछ न कुछ कारण अवश्य प्राप्त होता है। सिद्धान्ती आकस्मिकवादी एवं एकदेशी की इस आलोचना का उत्तर देता है। प्रत्याख्यान (प्रतिषेध) और प्रत्याख्येय (प्रतिषेध का विषय) अभिन्न नहीं हो सकता। 'अनुदकः कमण्डलुः' इस वाक्यप्रयोग-स्थल में उदक का अभाव (अनुदकः) उदक कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार अकारण को कारण नहीं माना जा सकता[3] अपितु कारण और कुछ होना चाहिए।

वार्तिक में प्रकृत वाद की आलोचना निम्नलिखित–रूप में गई है[4]—

---

१. न्यायभाष्य–वार्तिक–४।१।२२, (वार्तिक, पृष्ठ ४६७)
२. न्यायसूत्र—४।१।२३। ३. न्यायभाष्य—४।१।२४
४. न्यायवार्तिक—४।१।२४, पष्ठ ४६८-६९

आकस्मिकत्ववादी या तो काँटे जैसे कुछ पदार्थों की उत्पत्ति अकारण मानेगा अथवा सभी पदार्थों की उत्पत्ति को। यदि कुछ पदार्थ ही आकस्मिक उत्पन्न होते माने जायें तो अवशिष्ट पदार्थों की उत्पत्ति किन्हीं निमित्तों से हुई मानी जायेगी। इस प्रकार सर्वत्र आकस्मिकत्ववाद की सिद्धि न हो सकेगी। दोनों विकल्पों के अनुसार सभी पदार्थों की अनिमित्तता का प्रतिपादन भी समीचीन नहीं क्योंकि ऐसी स्थिति में (अनिमित्तता का प्रतिपादन करने पर) प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव मानना होगा। प्रतिपाद्य का अर्थ है 'कर्म' अर्थात् प्रतिपादन का विषय और प्रतिपादक का अर्थ है प्रतिपादन करनेवाला व्यक्ति ('कर्ता')। 'कर्म' और 'कर्ता' ये दोनों कारक हैं और कारक सदा क्रिया का निमित्त अर्थात् करण होता है[1]। निमित्त के सिद्ध होने से अनिमित्तता अर्थात् आकस्मिकत्ववाद का खण्डन हो जाता है। अभिप्राय यह है कि उक्त प्रकार से क्रिया के करण की सिद्धि हो जाने पर पदार्थों की उत्पत्ति को आकस्मिक नहीं माना जा सकता।

'पदार्थों की उत्पत्ति आकस्मिक होती है' और 'पदार्थों की उत्पत्ति आकस्मिक नहीं होती है' इन दो वाक्यों का अर्थ भिन्न भिन्न है अथवा नहीं? यदि नहीं तो आकस्मिकत्ववादी दूसरे वाक्य को मानकर अपनी प्रतिज्ञा की हानि कर बैठेगा। यदि वाक्यों की भिन्नता के कारण अर्थों की भिन्नता स्वीकार की जायेगी तो वाक्य की भिन्नता का कारण और अर्थ की भिन्नता को कार्य मानना पड़ेगा। इस प्रकार आकस्मिकत्ववाद का खण्डन हो जाता है।

लोकव्यवहार द्वारा भी कारणवाद की ही पुष्टि होती है। किसी अर्थ-विशेष को व्यक्त करने के लिये वाक्य का प्रयोग होता है, अन्यथा किसी भाव को व्यक्त करने के लिये जिस किसी भी वाक्य का प्रयोग कर दिया जाया करता। दूसरे, पदार्थों की उत्पत्ति को आकस्मिक मानने पर सभी पदार्थ पक्ष में आ जाते हैं। इस प्रकार दृष्टान्त नहीं मिलता जिससे साध्य की सिद्धि हो सके। कार्यकारणवादी तो कण्टकतैक्ष्ण्य आदि को भी आकस्मिक नहीं सकारण ही मानता है, अतः उसे दृष्टान्त बनाने के लिये पहिले आकस्मिकता अनुमान के द्वारा ही सिद्ध करनी होगी। फिर उस समय दृष्टान्त रूप में किसे लिया जायेगा? क्योंकि अवशिष्ट घट आदि पदार्थ तो कारण द्वारा ही उत्पन्न होते हुए पाये जाते हैं अतः सब को पक्ष बनाकर तथा कण्टकतैक्ष्ण्य को दृष्टान्त बनाकर आकस्मिकत्ववाद की सिद्धि अनुमान द्वारा नहीं हो सकती।

---

१. तात्पर्यटीका—४।१।२४, पृष्ठ ६०५

सर्वानित्यत्ववाद की आलोचना

सर्वानित्यत्ववादी जगत् के सभी भौतिक (जैसे शरीर) एवं अभौतिक (जैसे बुद्धि) पदार्थों को अनित्य मानता है क्योंकि सभी पदार्थ उत्पन्न एवं नष्ट होते रहते हैं[1]।

सर्वानित्यत्ववाद का खण्डन एकदेशी ने भी किया है जिसका भी खण्डन सिद्धान्ती ने किया है किन्तु अभी बीच में पूर्वपक्षी सर्वानित्यत्ववादी की ओर से सिद्धान्तपक्ष के एकदेशी का खण्डन इस प्रकार किया जा रहा है कि 'सभी पदार्थों में रहने वाली अनित्यता या तो नित्य होगी अथवा अनित्य। यदि अनित्यता नित्य होगी तो उसी के नित्य हो जाने के कारण सर्वानित्यत्ववाद का खण्डन हो जायेगा और यदि अनित्यता अनित्य होगी तो भी पदार्थों की अनित्यता के अभाव होने के कारण उसके विपरीत नित्यता की सिद्धि होगी[2]' यह एकदेशी की युक्ति तर्कसंगत नहो क्योंकि पदार्थों की अनित्यता अग्नि की दाहशक्ति के समान है। अग्नि-ईंधन को जलाकर स्वयं नष्ट हो जाती है वैसे ही सभी पदार्थों में रहने वाली अनित्यता सभी पदार्थों को नष्ट करके स्वयं भी विनष्ट हो जाती है[3], अतः अनित्यता को नित्य मानकर सर्वानित्यत्ववाद का खण्डन नहीं किया जा सकता।

उक्त सर्वानित्यत्ववाद का खण्डन वार्तिक में इस प्रकार पाया जाता है :—

'सब अनित्य है' वाक्य के द्वारा सब कुछ पक्ष में ही आ जाता है। इस प्रकार पक्ष के अतिरिक्त दृष्टान्त न मिलने से सर्वानित्यत्ववादी का अनुमान खण्डित हो जाता है। दूसरा कारण यह है कि परमाणु एवं आकाश आदि भौतिक एवं अभौतिक कुछ ऐसे पदार्थ हैं जिनकी न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश। फिर उन्हें क्योंकर अनित्य माना जाये[4] ? हेतु द्वारा जो पदार्थ अनित्य सिद्ध होते हैं उन्हें अनित्य और जो नित्य सिद्ध होते हैं उन्हें नित्य माना जायेगा। बिना हेतु के ही यदि सभी पदार्थ अनित्य सिद्ध हो जाते तो सर्वानित्यत्ववादी को अपने मत की पुष्टि के लिये 'उत्पत्ति एवं विनाशशील होने के कारण, यह हेतु न देना पड़ता। फिर अनित्य शब्द में प्रयुक्त 'नञ्' या तो विद्यमान के प्रतिषेध अथवा पर्युदास के अर्थ में आया है ऐसा मानना होगा। अतः अनित्य पद की निष्पत्ति बिना उत्तरवर्ती 'नित्य' पद के मान्य हुये नहीं हो सकती। इस प्रकार 'नित्य' के सिद्ध हो जाने पर सर्वानित्यत्वाद सदोष सिद्धान्त है।

---

१. न्यायभाष्य—४।१।२५। २. न्यायवार्तिक—४।१।२६, पृष्ठ ४७०।
३. न्यायसूत्र—४।१।२७। ४. न्यायवार्तिक-४।१।२५, पृष्ठ ४७०।

सर्वनित्यत्ववाद की आलोचना

सर्वनित्यत्ववादी जगत् के सभी पदार्थों को नित्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में जगत् का कोई भी पदार्थ न तो उत्पन्न होता है और न विनष्ट। दो प्रकार के सर्वनित्यत्ववाद का विवेचन मिलता है जिसे तात्पर्यटीकाकार ने क्रमशः सांख्यों और स्वायंभुवों का मत कहा है[1]।

(क) सांख्यमत की आलोचना—इस मत में जगत् (प्रकृति) के समस्त पदार्थ भूतात्मक हैं। भूतों का विनाश नहीं होता अतएव सभी पदार्थ नित्य हैं। वार्तिककार के अनुसार इस मत की आलोचना निम्नलिखित प्रकार से है—

१—पुरुष के किसी कार्य में प्रवृत्त होने का उद्देश्य हित की प्राप्ति एवं अहित का विनाश होता है। यदि हित की प्राप्ति एवं अहित का विनाश नित्य होता अर्थात् सर्वदा सुलभ होता तो पुरुष किसी भी कार्य में प्रवृत्त न होता[2]।

२—सभी पदार्थों को नित्य मान लेने पर पक्ष से अतिरिक्त दृष्टान्त नहीं मिलता जिसे लेकर साध्य की सिद्धि की जाये।

३—'सब नित्य है' वाक्य का प्रयोग ज्ञान कराने के लिए होता है। यदि ज्ञान को पहिले से ही विद्यमान मान लिया जाये तो वाक्य का प्रयोग व्यर्थ हो जाएगा।

४—पदार्थों की उत्पत्ति एवं विनाश प्रत्यक्षसिद्ध है। विभिन्न कारणों से विभिन्न कार्य होते देखे जाते हैं। कार्य एवं कारण तथा उत्पत्ति एवं विनाश के प्रत्यक्षसिद्ध होने से सब पदार्थों को नित्य नहीं माना जा सकता है[3]।

५—भूतों के नित्य होने पर भी कर्म, बुद्धि एवं शब्द आदि पदार्थों को नित्य नहीं मान लेना चाहिए, क्योंकि सर्वनित्यता की सिद्धि में दिया गया हेतु अव्यापक होने के कारण कर्म आदि की नित्यता को नहीं सिद्ध कर सकता।

६—पदार्थों की उत्पत्ति एवं विनाश को स्वप्नवत् मिथ्या भी नहीं माना जा सकता, अन्यथा भूतों की सत्ता का भी स्वाप्न पदार्थों के समान अपलाप माना जा सकेगा।

७—पदार्थों की उत्पत्ति एवं विनाश को भ्रम भी नहीं माना जा सकता क्योंकि भ्रमज्ञान अनुकारी प्रत्यय (अनुकरणात्मक ज्ञान) होता है। इसको इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है:—सीप में रजत का ज्ञान अनुकारी

१. तात्पर्यटीका–४।१।३२, पृष्ठ ६०८ २. न्यायवार्तिक–४।१।३१, पृष्ठ ४७२।
३. न्यायवार्तिक—४।१।३२, पृष्ठ ४७३-७४

प्रत्यय होता है। यदि उत्पत्ति एवं विनाश का अत्यन्ताभाव माना जायेगा तो अनुकार्य के अभाव में अनुकरण हो ही कैसे सकेगा, जिसे हम भ्रम मानेंगे। किसी काल में विद्यमान होने वाले पदार्थ का ही अनुकरण किया जा सकता है।

स्वायंभुव मत की आलोचना—इस मत में उपादान (धर्मी) को स्थिर एवं धर्मों के आविर्भाव और तिरोभाव को स्वीकार किया जाता है, किन्तु धर्मों को उत्पन्न एवं विनष्ट नहीं माना जाता अपितु उन्हे आविर्भाव और तिरोभाव से पूर्व और पश्चात् भी विद्यमान माना जाता है।

यह मत भी तर्कसंगत नहीं। यदि धर्म पहिले से ही विद्यमान रहे तो फिर उसके आविर्भाव की आवश्यकता ही न पड़े। प्रकृत मत इसलिये भी मान्य नहीं है कि 'आविर्भाव' और 'पहिले से विद्यमान' होने में परस्पर विरोध है[1]।

संख्यैकान्तवाद की आलोचना

संख्यैकान्तवाद में विश्व के सभी पदार्थों की गणना निश्चित संख्या में की जाती है। वेदान्ती ब्रह्मरूप एक तत्त्व की ही पारमार्थिक सत्ता मानते हैं। दूसरे लोग नित्य एवं अनित्य के भेद से दो प्रकार के पदार्थ मानते हैं। इसी प्रकार विभिन्न निश्चित संख्याओं में संसार के सभी पदार्थों को विभन्न दार्शनिक विभक्त करते हैं[2]।

प्रकृत मत की आलोचना इस प्रकार की गई है :—१—किसी मत को सिद्ध करने के लिए साधन की अपेक्षा होती है। संख्यैकान्तवाद की सिद्धि के लिए कोई साधन नहीं मिलता क्योंकि संसार के सभी पदार्थ निश्चित संख्या के अन्तर्गत आ जाने के कारण प्रतिज्ञा में स्वीकृत हो जाते हैं। अतएव अन्य कोई पदार्थ नहीं बचता जिसे हेतु माना जाये। साध्य को साधन नहीं माना सकता, क्योंकि साध्य और साधन में स्वाभाविक भेद होता है[3]। साधन सदैव सिद्ध रहा करता है और साध्य असिद्ध।

२—साध्य के एक देश को साधन मानकर भी अभिमत साध्य की सिद्धि नहीं की जा सकती क्योंकि इस प्रकार साध्य के विभिन्न देश मान लेने पर निश्चित संख्या स्थिर नहीं रह सकती। जैसे संख्यैकान्तवादी एक संख्या स्वीकार करके उसके अवयव को साधक (हेतु) माने तो अवयवों

---

१. न्यायवार्तिक—४।१।३३, पृष्ठ ४७४-७५।
२. न्यायभाष्य—४।१।४१ की प्रस्तावना
३. न्यायवार्तिक—४।१।४१ पृष्ठ ४८२।

की संख्या एक से अधिक बढ़ जाने के कारण एक संख्या की सिद्धि नहीं सकती[1]।

३—गाय और घट का अन्तर प्रत्यक्ष सिद्ध है। उक्त भेद को अस्वीकार करके केवल निश्चित संख्याओं में जगत् के पदार्थों का विभाजन मानना उचित नहीं।

४—सभी पदार्थों की सत्ता है इसलिए सत्ता-रूप सामान्य को तात्त्विक एवं भेद को काल्पनिक मानकर संख्यैकान्तवादी अपना अभिप्रेत सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि सामान्य का आधार भेद ही होता है।

अदृष्टविरोधी मान्यताओं की आलोचना

शरीर की उत्पत्ति में महाभूतों के अतिरिक्त अदृष्ट को भी कारण माना गया है। पूर्व जन्म के मानस, वाचिक और कायिक कर्मों से धर्म एवं अधर्म की उत्पत्ति होती है। इसी धर्म एवं अधर्म को अदृष्ट कहा जाता है। अदृष्ट आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहता है। अदृष्ट से अनपेक्ष स्वतंत्र भूतों से शरीर को उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती।

कर्म के समाप्त होते ही फल का मिलना निश्चित नहीं है[2]। जब कर्म का परिपाक हो जाये और फल की प्राप्ति में अन्य प्रतिबंधक न हों तब फल की प्राप्ति होती है। फल की प्राप्ति में अपने साथ रहने वाले कर्मफल के सहभोक्ता लोगों का कर्म भी बाधक होता है। तात्पर्यटीकाकार के अनुसार स्त्री, भाई आदि भी पुरुष के कर्म के फल में भाग लेते हैं अतएव उनके अननुकूल कर्म पुरुष के कर्मफल की प्राप्ति में बाधक बने रहते हैं[3]।

वार्तिककार ने कर्म की गति को दुर्विज्ञेय बतलाया है[4]। अदृष्ट की सिद्धि में दी गई वार्तिक की युक्तियों में एक यह भी है कि पुरुष के काम आने वाली वस्तु का निर्माण पुरुष के विशेष गुण से प्रेरित भूतसमुदाय से होता है, जैसे रथ का निर्माण पुरुष के प्रयास-रूप गुण से प्रभावित लकड़ी आदि भूत-समुदाय से होता है। इसी प्रकार अदृष्ट-रूप गुण द्वारा शारीरिक फल की प्राप्ति होती है।

अदृष्ट को न मानने वाला भूतवादी नास्तिक अपने मत की पुष्टि में यह एक युक्ति उपस्थित करता है—रेत, कंकड़, गेरू और अंजन आदि पदार्थ केवल भूतों द्वारा ही उत्पन्न होते हुए पाये जाते हैं। इनकी उत्पत्ति में भूतों

---

१. न्यायवार्तिक—४।१।४३ पृष्ठ ४८२ तात्पर्यटीका—४।१।४३ पृष्ठ ६१९
२. न्यायवार्तिक—३।२।६१ पृष्ठ ४३८। ३. तात्पर्यटीका—३।२।६१ पृष्ठ५८०।
४. न्यायवार्तिक—३।२।६१ पृष्ठ ४३९।

को कर्म या अदृष्ट की आवश्यकता नहीं होती। ये पदार्थ मूर्त होते हैं और पुरुष के काम भी आते हैं[1]। नास्तिक की उक्त युक्ति इसलिए ठीक नहीं कि रेत, कंकड़ गेरू और अंजन आदि पदार्थों की उत्पत्ति एवं रथ का निर्माण ये दोनों दृष्टान्त एक जैसे नहीं हैं[2]। दूसरे, शरीर की उत्पत्ति का बीज माता-पिता का शुक्र-शोणित होता है। रेत की उत्पत्ति में शुक्र आदि का प्रसंग नहीं आता। शरीरी की उत्पत्ति में माता-पिता एवं शरीरी के कर्म मिलकर निमित्त होते हैं[3]। माता के भोजन से गर्भस्थ शरीर की वृद्धि आदि होती है, किन्तु रेत आदि की उत्पत्ति एवं वृद्धि में यह स्थिति नहीं होती[4]। स्त्री-पुरुष के प्रत्येक संयोग में गर्भ स्थिर नहीं होता। यदि प्रत्येक संयोग में गर्भ स्थिर रह जाता तो अदृष्ट के मानने की आवश्यकता न पड़ती और केवल भूतों द्वारा ही शरीर की उत्पत्ति मान ली जाती। किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि कर्म का परिपाक होने पर स्त्री-पुरुष का संयोग गर्भस्थिति का कारण बनता है[5]।

भाष्यकार ने अदृष्ट की सिद्धि में एक यह युक्ति दी है कि रेत आदि भौतिक पदार्थों से सामान्यरूपेण सभी आत्मा सुख-दुःख का अनुभव करते हैं किन्तु शरीर की विशेषता यह है कि एक शरीर केवल एक व्यक्ति के अनुभव के साधन के रूप में नियत रहता है[6]।

एक आत्मा के एक शरीर से सम्बद्ध होने में मन नियामक है। मन का नियामक कर्म है और कर्म का नियामक शरीर और आत्मा का तथाकथित संयोग है। संसार के अनादि होने के कारण उक्त नियमन में अन्योन्याश्रय दोष नहीं माना जा सकता[7]। प्राणियों के जन्म की विभिन्न विशेषतायें यह सिद्ध करती हैं कि विभिन्न कर्मों द्वारा ऊँच-नीच कुल, सुख-दुःख, स्वस्थता, निर्बलता आदि की प्राप्ति होती है। केवल भूत समुदायों से शरीर की उत्पत्ति होने पर ये भेद न होते[8]।

वार्तिककार शरीर की दो प्रकृतियाँ मानते हैं—व्यक्त और अव्यक्त। व्यक्त का अर्थ है—भूतसमुदाय और अव्यक्त का अर्थ है—अदृष्ट। जब अदृष्ट की समाप्ति से भूतसमुदाय शरीर रचना के लिए प्रेरित नहीं होता तभी अपवर्ग की प्राप्ति होती है। यदि केवल भूतसमुदाय ही शरीर की उत्पत्ति

१. न्यायवार्तिक—३।२।६२ पृष्ठ ४४०। २. न्यायवार्तिक—३।२।६३ पृष्ठ ४४०।
३. न्यायवार्तिक—३।२।६४पृष्ठ४४०। ४. न्यायवार्तिक—३।२।६५पृष्ठ४४०-४१।
५. न्यायवार्तिक—३।२।६६ पृष्ठ ४४१। ६. न्यायभाष्य—३।२।६६।
७. न्यायवार्तिक—३।२।६७ पृष्ठ ४४१-४२। ८. न्यायभाष्य—३।२।६७।

में कारण होता तो अपवर्ग में भी आत्मा शरीरी होता। किन्तु ऐसी स्थिति मान्य नहीं है। इसलिए अदृष्ट का अपलाप नहीं हो सकता[1]।

सांख्य शरीर की उत्पत्ति में अदृष्ट को कारण मानता है। दृश्य दो प्रकार का होता है—विषय और प्रकृति एवं पुरुष का विवेक। इन्हीं दृश्यों के ज्ञान के लिए प्रकृति से महत् आदि का परिणमन होता है एवं शरीर की प्राप्ति होती है। जब तक इन दृश्यों का दर्शन सम्पन्न नहीं हो जाता अदर्शन की स्थिति रहती है। यही स्थिति शरीर के सर्ग का कारण है[2]।

सांख्य की आलोचना वार्तिक में निम्नलिखित प्रकार से की गई है। जिस प्रकार प्रवृत्ति के पूर्व अदर्शन की स्थिति थी अपवर्ग में भी किसी प्रकार के दृश्य का ज्ञान न होने के कारण अदर्शन की स्थिति रहती है। अतएव अपवर्गावस्था में भी शरीर के उत्पन्न होने का प्रसंग उठ खड़ा होगा। दिदृक्षा (देखने की इच्छा) को अदर्शन मानकर भी शरीर की उत्पत्ति कैसे मानी जाये? क्योंकि जब तक शरीर की उत्पत्ति नहीं हुई है दिदृक्षा भी नहीं हो सकती। सत्कार्यवाद के अनुसार दिदृक्षा को नित्य मानकर भी समस्या का हल नहीं किया जा सकता क्योंकि तब अपवर्गावस्था में भी दिदृक्षा होने से शरीर आदि की उत्पत्ति का प्रसंग आपन्न होगा। अदर्शन का अर्थ न तो ज्ञानाभाव और न ही मिथ्याज्ञान लिया जा सकता है क्योंकि ज्ञानाभाव जैसे शरीर की प्राप्ति के पहिले रहता है वैसे अपवर्ग में भी। मिथ्याज्ञान का अस्तित्व शरीर की प्राप्ति के पहिले मान्य नहीं हो सकता। अज्ञान को बुद्धि का धर्म मानकर सत्कार्यवाद के अनुसार उसे शरीरप्राप्ति के पूर्व मानने से मोक्षावस्था में भी अज्ञान होने के कारण मोक्ष की सिद्धि न हो पायेगी। सत्कार्यवाद के अनुसार मोक्ष की सिद्धि किसी प्रकार भी नहीं हो सकती और न शरीर आदि की उत्पत्ति के निमित्त का ही निश्चय किया जा सकता[3]।

भाष्य में शरीर की उत्पत्ति से सम्बद्ध एक ऐसे मत का उल्लेख पाया जाता है जो परमाणुओं में अदृष्ट मानकर शरीर की उत्पत्ति मानता है[4]। इसके अनुसार मन अपने विशेष गुण—नित्य अदृष्ट से युक्त होने के कारण शरीर में प्रविष्ट होता है। वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट रूप से इसे आर्हत (जैन) दर्शन का सिद्धान्त माना है[5]।

---

१. न्यायवार्तिक–३।२।६८पृष्ठ४४२। २. न्यायवार्तिक–३।२।६९पृष्ठ४४२-४३। ३. न्यायवार्तिक—३।२।६९ पृष्ठ ४४३-४४-४५। ४. न्यायभाष्य—३।२।६८। ५. तात्पर्यटीका—३।२।६९ पृष्ठ ५८४।

किन्तु मन का एक शरीर में प्रवेश करना और उससे बाहर निकलना ये दो परस्पर विरोधी स्वभाव किसी प्रकार मान्य नहीं हो सकते। मन में स्थित नित्य अदृष्ट, जिससे वह शरीर में प्रवेश करता है, मोक्ष का बाधक है क्योंकि नित्य अदृष्ट शरीर में प्रवेश करने का कार्य नित्य ही करता रहेगा और जब तक शरीर से मन का सम्बन्ध होगा मोक्ष की स्थिति न हो सकेगी[1]। उक्त मत के अनुसार मन एवं शरीर का नित्य सम्बन्ध होना चाहिए और व्यक्ति की मृत्यु नहीं होनी चाहिए किन्तु मृत्यु होती है। उक्त समस्या का समाधान आकस्मिकवाद के आधार पर भी नहीं किया जा सकता क्योंकि इससे मुक्त व्यक्ति भी अकस्मात् बद्ध होने लगेगा।

भाष्यकार ने शरीर की उत्पत्ति को कर्मनिमित्तक सिद्ध करने में नैतिक नियमों की व्यवस्था को हेतु माना है। इसके अतिरिक्त ऋषियों एवं शास्त्रों के उपदेशों द्वारा भी शरीर की उत्पत्ति को क्रियानिमित्तक सिद्ध होने का उल्लेख किया है[2]।

सर्वपृथक्त्ववाद की आलोचना

यह मत सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक बौद्धों का है[3]। ये लोग अवयवी जैसा कोई पदार्थ नहीं मानते। 'कुंभ' शब्द का अर्थ 'अवयवसमूह एवं गन्ध, रूप, रस, स्पर्श आदि का समूह' होता है। इसी प्रकार 'सेना' शब्द का अर्थ 'जन-समूह' होता है। सभी पदार्थों के बारे में यही स्थिति समझनी चाहिए[4]।

प्रकृत मान्यता अनुपयुक्त है[5]। क्योंकि—

१—'सब अनेक हैं' इस वाक्य में 'सब' शब्द द्वारा सभी विषय पक्ष में आ जाने के कारण दृष्टान्त नहीं मिलता।

२—'एक' के सिद्ध हुए बिना 'अनेक' की सिद्धि नहीं हो सकती।

३—'कुम्भः' शब्द के एकवचनान्त होने के कारण एकत्व की असिद्धि नहीं हो सकती।

४—जब व्यक्ति 'घड़ा लाओ' सुनता है तब उसे एक घड़े का ज्ञान होता है और एक ही घड़ा लाया जाता है।

५—'घट' शब्द का अर्थ एक अवयवी है, रूप, स्पर्श एवं अवयव आदि नहीं। ये अर्थ आनुषंगिक हैं। 'रूप' शब्द का अर्थ रूप एवं 'अवयव' शब्द का अर्थ अवयव होता है।

---

१. न्यायवार्तिक–३।२।७० पृष्ठ ४४५। २. न्यायभाष्य—३।२।७२।
३. तात्पर्यटीका–४।१।३४। ४. न्यायवार्तिक–४।१।३४; न्यायभाष्य-४।१।३४।
५. न्यायवार्तिक–४।१।३६ पृष्ठ ४७६–७७

६—'अवयवसमूह' तभी निष्पन्न हो सकता है जब एक-एक अवयव की सत्ता मान ली जाये। इस प्रकार भी एकत्व की सिद्धि होती है। एक अवयव को भी समूह नहीं माना जा सकता क्योंकि इससे समस्या पूर्ववत् बनी रहेगी। 'समूह' शब्द स्वयं एकवचनान्त है। समूह का अर्थ अनेक नहीं लिया जा सकता क्यों कि तब 'एक समूह' का अर्थ 'एक अनेक' हो जायेगा जो कि विरुद्ध होने के कारण सर्वथा असम्भव है।

बाह्यार्थभङ्गवाद की आलोचना

विज्ञानवादी बौद्ध बाह्यपदार्थों की सत्ता नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार पट का उदाहरण लेकर पदार्थों के अस्तित्व का निराकरण इस प्रकार होगा—बुद्धिपूर्वक विवेचन करने पर पट की वास्तविक सत्ता नहीं सिद्ध होती है। एक-एक तन्तु को अलग-अलग समझने पर पट कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं ठहरता। तन्तु भी रेशों से अतिरिक्त पदार्थ नहीं; रेशे भी परमाणुओं से पृथक् नहीं और परमाणु भी विभक्त होते-होते विलीन हो जाते हैं। पट का ज्ञान मिथ्या-बुद्धि है। इस प्रकार सभी बाह्य पदार्थ असत् हैं। विज्ञानमात्र ही सत् है[1]।

प्रकृत बौद्धमत की आलोचना निम्नलिखित रूप में की गई है—

१—यदि बुद्धिपूर्वक विवेचन किया जाये तो बाह्य पदार्थों की सत्ता स्थिर होती है। अंग का आच्छादन पट से होता है, तन्तुओं से नहीं, फिर पट की सत्ता क्यों न मानी जाये[2]?

२—बौद्धों की युक्ति है कि यदि पट तन्तुओं से अतिरिक्त द्रव्य होता तो तन्तुओं से पृथक् ज्ञात होता। नैयायिक की दृष्टि में तन्तु उपादान कारण है और पट कार्य। कोई भी कार्य अपने उपादान कारण के आश्रित रहता है, पृथक् नहीं। इससे पट की असत्ता का प्रश्न नहीं उठता[3]।

३—बाह्यपदार्थ की सत्ता प्रमाणों द्वारा सिद्ध होती है। बौद्धों की यह युक्ति कि प्रमाणप्रमेयव्यवहार को स्वप्न के पदार्थों की भाँति अथवा भ्रामक विषयों की भाँति मिथ्या मान लेना चाहिये, भी तर्कसंगत नहीं। स्वप्नपदार्थों की सत्ता का निषेध जागने पर ही होता है, परन्तु जागने पर बाह्य विषयों की सत्ता स्वीकृत होती है। इस प्रकार बाह्य विषयों की सत्ता सिद्ध हुई[4]।

---

१. न्यायवार्तिक—४।२।२६, पृष्ठ ५१९। २. न्यायसूत्रवृत्ति—४।२।२७।
३. न्यायवार्तिक-४।२।२८,पृष्ठ५२०। ४. न्यायवार्तिक-४।२।३१,पृष्ठ५२०-२१। न्यायवार्तिक—४।२।३३-३४ पृष्ठ ५२१।

४—बौद्ध वेदना आदि के समान ग्राह्य विषयों को भी चित्त से पृथक् नहीं मानते, इसी प्रकार अन्य विषयों को भी चित्तरूप मानकर बाह्यार्थ की सत्ता का खण्डन करते हैं। किन्तु इस युक्ति में दोष यह है कि वेदना (सुख एवं दुःख) ग्राह्य-विषय है और चित्त का अर्थ ज्ञान होता है। ग्राह्य और ग्रहण (ज्ञान) एक ही नहीं हो सकते[1]।

५—यदि विज्ञान मात्र की ही सत्ता को स्वीकार किया जायेगा न कि विभिन्न बाह्य विषयों की सत्ता को तो ज्ञानों के बीच प्रतीयमान विभिन्नताओं का सम्पादन किस आधार पर किया जा सकेगा ? यद्यपि स्वप्नकाल में विषयों का अभाव होने पर विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान होता है किन्तु उनका आधार बाह्य पदार्थ हैं, जिनके संस्कार उद्बुद्ध होने पर स्वप्नकाल में ज्ञानभेद होता है। फिर स्वप्नकाल में भाव्य (ज्ञान) और भावक (ज्ञाता) को स्वीकार ही करना पड़ेगा। इस प्रकार विज्ञानाद्वैतवाद की सिद्धि नहीं होगी[2]।

६—बाह्य पदार्थों के ज्ञान को मिथ्याज्ञान नहीं माना जा सकता, क्योंकि मिथ्याज्ञान अर्थात् भ्रम के होने के लिये उससे पूर्व यथार्थज्ञान भी आवश्यक है। बिना यथार्थज्ञान हुए भ्रमज्ञान का स्वरूप ही नहीं समझा जा सकता। भ्रमज्ञान का आधार 'सत्' होता है। प्रकृत स्थल में बौद्धों की युक्तियाँ पूर्णतः निःसार सिद्ध होती हैं।

७—यदि जाग्रदवस्था एवं स्वप्नावस्था दोनों के विषय मिथ्याज्ञान हैं तो इनमें अनुभूयमान अन्तर का कारण भी स्पष्ट होना चाहिये। वार्तिककार ने प्रकृतस्थल में धर्म एवं अधर्म, निद्रा का उपघात एवं अनुपघात, विज्ञान की स्पष्टता एवं अस्पष्टता को निमित्त मानने का खण्डन किया है। यह युक्ति, कि एक ही अविद्यमान नदी को विभिन्न प्रेतों में से कोई जल से भरी, कोई रक्त से भरी और कोई पूय से भरी देखते हैं, जब कि वहाँ न कोई नदी है, न पूय, न जल और न रुधिर, इसी प्रकार अविद्यमान विषय का ज्ञान हुआ करता है, भी तर्कसंगत नहीं। कारण, यदि बाह्य विषयों की सत्ता नहीं है तो फिर रुधिर, जल और नदी इन सब शब्दों का क्या अर्थ है ? कहने का तात्पर्य यही है कि मिथ्याज्ञान के लिये प्रधानभूत यथार्थज्ञान की आवश्यकता होती है[3]। मिथ्याज्ञान में जो प्रतीत होता है वह उस स्थान में नहीं होता किन्तु उसकी सत्ता का

१. न्यायवार्तिक ४।२।३४-३५, पृष्ठ ५२१।
२. न्यायवार्तिक—४।२।३४-३५, पृष्ठ ५२२।
३. न्यायवार्तिक—४।२।३४-३५, पृष्ठ ५२३-२५।

निश्चय एवं उसके स्वरूप का ज्ञान पहिले से हुआ रहता है। पूर्वज्ञात होने के कारण उसे प्रधान कहते हैं और मिथ्याज्ञान को गौण कह सकते हैं। तस्मिंस्तत्प्रत्यय को प्रधान और अतस्मिंस्तत्प्रत्यय को गौण कहा जाता है।

बौद्ध बाह्यजगत् की सत्ता का निराकरण तत्त्वज्ञान द्वारा मानते हैं, जैसे स्वप्न के बाद जागने पर स्वाप्नपदार्थों की सत्ता का निषेध होता है, जैसे ही तत्त्वज्ञान के द्वारा बाह्य पदार्थों का निषेध होता है, किन्तु यह युक्ति भी न्यायसंगत नहीं। तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का निराकरण होता है, न कि पदार्थों का[1]।

सर्वशून्यतावाद की आलोचना

शून्याद्वैतवादी बौद्धों की दृष्टि में प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति आदि सब का पारमार्थिक अभाव अर्थात् शून्य ही है क्योंकि सभी भाव पदार्थ एक दूसरे के अभाव से आक्रान्त हैं। गाय में गाय से अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों का अभाव रहता है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि गाय अश्वरूप से असत् (नहीं) है। इसी प्रकार अश्व गायरूप से असत् (अविद्यमान-शून्य) है। सभी पदार्थों की यही स्थिति होने के कारण बौद्ध सभी पदार्थों का अत्यन्त अभाव मानते हैं[2]।

सभी पदार्थ एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। भिन्नता के आधार पर भी पदार्थों की शून्यता सिद्ध होती है। विषयगत ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि भी भाव—स्वतंत्र नहीं अपितु सापेक्ष हैं। किसी पदार्थ की अपेक्षा कोई दीर्घ या ह्रस्व होता है। इसी प्रकार स्वयं कोई पदार्थ नीला नहीं होता, पीले से भिन्न होने के कारण वह नीला कहा जाता है। यदि संसार में केवल नीला ही रंग होता तो कोई उसे नीला न कहता। यह तो दूसरे रंगों का अस्तित्व है जिनसे भिन्न होने के कारण नीले को नीला कहा जाता है। यह नियम परत्व-अपरत्व, पिता-पुत्र आदि के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होता है। सापेक्ष पदार्थ स्वाभाविक नहीं होता, जैसा जपाकुसुम की अपेक्षा रखनेवाली स्फटिक की रक्तिमा[3]।

बौद्धों के प्रकृत शून्यवाद की आलोचना इस प्रकार है—

१—शून्यवाद की सिद्धि में 'एक के दूसरे रूप में न होने' को हेतु माना गया है। यहाँ 'एक दूसरे' पद अवश्य भाव पदार्थ के लिये प्रयुक्त हुए हैं[4]।

---

१. न्यायभाष्य—४।२।३५। २. न्यायसूत्र-भाष्य—४।१।३७।
न्यायवार्तिक—४।१।३७, पृष्ठ ४७८। तात्पर्यटीका—४।१।३७, पृष्ठ ६११।
३. तात्पर्यटीका—४।१।३९, पृष्ठ ६१३-१४।
४. न्यायवार्तिक—४।१।३६, पृष्ठ ४७८।

यहाँ हम देखते हैं कि अभाव की सिद्धि भाव के माध्यम से की जा रही है, फिर भाव की सत्ता का अपलाप कैसे हो सकता है ? अभाव की सिद्धि भाव पदार्थ से मानकर अभाव के माध्यम से भी नहीं की जा सकती, क्योंकि अभाव जो स्वयं साध्य है, साधन कैसे हो सकता है ?

२—'अभाव' पद में 'नञ्' का प्रयोग हुआ है। बिना 'भाव' पद की सार्थकता सिद्ध हुए 'नञ्' द्वारा अभाव शब्द का अर्थ नहीं सम्पन्न हो सकता, जैसे 'अनेक' और 'अनित्य' शब्द के अर्थ को समझने के लिये इनके उत्तर पद 'एक' और 'नित्य' पदों के अर्थ को समझना आवश्यक होता है।

३—भाव पदार्थों की सिद्धि उनके निजी धर्मों की सत्ता से होती है। इन धर्मों की सत्ता का सर्वथा अपलाप नहीं किया जा सकता। द्रव्य, गुण एवं कर्म के पर सामान्य (सत्ता) एवं द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदि अपर सामान्य का, पृथिवी के रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श गुणों का तथा सामान्य, विशेष एवं समवाय के धर्मों का ग्रहण होता ही है। इन्हीं धर्मों के आधार पर विभिन्न पदार्थ भिन्न माने जाते हैं। इनकी भिन्नता को अनुभव के आधार पर स्वीकार करना चाहिये। किन्तु उक्त प्रकार के भिन्नतासूचक गुण, जिनसे अपने लौकिक अनुभव की पुष्टि की जा सकती है, अभाव में नहीं रहते। भला अभाव में, गन्धादि गुण, जो भाव पदार्थ पृथिवी आदि में रहते हैं, कैसे मान्य हो सकते हैं ? इसलिये भावपदार्थों की सत्ता सिद्ध होती है।

४—'गाय' शब्द का अर्थ एक द्रव्यविशेष ही समझा जाता है, न कि अभाव। यदि गाय शब्द का अर्थ अभाव होता तो 'अभाव' शब्द व्यर्थ होता।

५—यदि 'गाय' एवं 'अश्व' दोनों शब्दों का अर्थ अभाव होता तो बौद्ध 'गाय' की व्याख्या में 'गाय अश्वरूप से असत् है' के स्थान पर 'गाय गाय रूप से असत् है' भी कह सकते हैं, किन्तु बौद्ध भी उक्त दोनों वाक्यों में भेद मानेंगे।

६—ह्रस्वत्व एवं दीर्घत्व की सिद्धि सापेक्षवाद के आधार पर नहीं की जा सकती क्योंकि अन्योन्याश्रित होने के कारण दोनों की ही असिद्धि हो जायेगी[1]।

७—रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श आदि के ज्ञान की सिद्धि के लिये किन विषयों की अपेक्षा मानी जायेगी जिनके आधार पर उन्हें सापेक्ष सिद्ध करके अभाव के अन्तर्गत माना जाये।

८—सब कुछ अभाव के अन्तर्गत आ जाने पर साध्य की सिद्धि का आधार क्या होगा ? प्रमाण को आधार मानने पर शून्यवाद का खण्डन होगा क्योंकि

१. न्यायवार्तिक—४।१।४०, पृष्ठ ४८० ।

प्रमाण को हम शून्य नहीं मान सकते। प्रमाण के बिना ही साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि साधन के द्वारा ही साध्य की सिद्धि होती है।

क्षणभङ्गवाद की आलोचना

क्षणभङ्गवाद—बौद्धों के क्षणभङ्गवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य प्रतिक्षण विनष्ट होनेवाला होता है। शरीर में प्रतिक्षण रस आदि द्रव्य विनष्ट होते रहते हैं एवं रक्त आदि द्रव्य उत्पन्न होते रहते हैं। रक्त भी विनष्ट होता रहता है और दूसरा द्रव्य उत्पन्न होता रहता है। यह प्रक्रिया पूरे शरीर में प्रतिक्षण हुआ करती है अर्थात् विभिन्न द्रव्य उत्पन्न होते ही विनष्ट हो जाते हैं[1]। इसी प्रकार स्फटिक आदि द्रव्य, जो प्रत्यक्षतः क्षण-क्षण विनाशशील से नहीं प्रतीत होते हैं, क्षण-क्षण उत्पन्न एवं विनष्ट होते रहते हैं। पहिला स्फटिक नष्ट हो जाता है और दूसरा उत्पन्न होता है और वह भी उत्पन्न होते ही विनष्ट हो जाता है। यहाँ उत्पत्ति-विनाश की प्रक्रिया प्रतिक्षण होती रहती है।

यद्यपि स्फटिक आदि पदार्थ क्षण-क्षण विनष्ट होते हुये प्रत्यक्षतः दिखाई नहीं पड़ते तो भी उन्हें क्षणभंग का विषय मानना चाहिये। दूध के विनाश और दही की उत्पत्ति के कारण प्रत्यक्षतः नहीं सिद्ध होते हैं तो भी माने जाते हैं[2]। हाँ, अनेक युक्तियों के आधार पर स्फटिक को भी क्षणिक सिद्ध किया जा सकता है[3]।

क्षणिकवाद में एक ही क्षण में पदार्थ की उत्पत्ति एवं विनाश के सिद्ध करने की युक्ति दी गई है। पदार्थ का विनाश कारण होता है और उत्पत्ति कार्य। तराजू के डांड़े में झुकने और उठने की क्रियायें साथ ही साथ होती हैं। एक ओर का झुकना दूसरी ओर के उठने में कारण है। इसी प्रकार सभी पदार्थ कार्यकारणभाव से एक ही क्षण में उत्पन्न एवं विनष्ट होते रहते हैं।[4]

आलोचना १—नैयायिक सभी पदार्थों को क्षण-क्षण उत्पन्न एवं विनाश होनेवाला नहीं मान सकता। स्फटिक आदि पदार्थ तो क्षणिक हो ही नहीं सकते, क्योंकि वे क्षण-क्षण उत्पन्न एवं विनष्ट होते हैं यह किसी भी प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं हो पाता[5]। शरीर आदि विषयों को भी क्षणिक नहीं माना जा सकता। शरीर में भोज्य पदार्थों के एकत्र होने या कम पड़ने से अथवा शरीर गत पदार्थों का एक नवीन व्यूह बन जाने से यद्यपि शरीर की आकृति आदि वही नहीं रहती किन्तु प्रतिक्षण पूर्व शरीर का विनाश और एक नये शरीर की उत्पत्ति मानकर

---

१. न्यायवार्तिक—३।२।१०, पृष्ठ ४०७। २. न्यायभाष्य—३।२।१३।
३. न्यायवार्तिक—३।२।१४। ४. न्यायवार्तिक—३।२।१२, पृष्ठ४०९।
५. न्यायवार्तिक—३।२।११, पृष्ठ४०७।

उन्हें उक्त हेतु से क्षणिक नहीं सिद्ध किया जा सकता। विभिन्न पदार्थों के नवीन व्यूह बनने से उन्हें विनष्ट नहीं माना जा सकता[1]।

२—क्षणिकवाद में पदार्थों की उत्पत्ति एवं उनके विनाश की भी सिद्धि न हो सकेगी। वृद्धि एवं ह्रास से ही पदार्थ उत्पन्न एवं नष्ट होते हैं। वृद्धि एवं ह्रास पहिले से विद्यमान सावयव शरीर आदि पदार्थों का ही हो सकता है[2]। अतः शरीर आदि को ह्रास एवं वृद्धि के पहिले स्थायी ही मानना होगा, फिर क्षणभंग कैसे सिद्ध हो सकता है।

३—एक ही क्षण में किसी पदार्थ की उत्पत्ति एवं विनाश नहीं माना जा सकता। कार्यकारणभाव द्वारा तराजू के डाँड़े का उदाहरण भी सर्वसम्मत नहीं। तराजू के डाँड़े का झुकना और ऊपर उठना ये दो क्रियायें ही नहीं हैं, वहाँ वस्तुतः एक ही क्रिया है, उसी में दो की कल्पना कर ली जाती है। तराजू के पलड़े और डाँड़े के झुकने और उठने में भी कार्यकारणभाव नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर पदार्थ की समानता नहीं सिद्ध हो सकेगी। 'झुकना' क्रिया का आधार पलड़ा और 'उठना' क्रिया का आधार डाँड़ा होगा। अतएव 'एक' ही पदार्थ में कार्यकारणभाव से दो क्रियायें नहीं उत्पन्न हो सकेंगी[3]।

४—नैयायिक—स्फटिक को क्षण-क्षण में भिन्न-भिन्न रूप से उत्पन्न हुआ नहीं माना जा सकता[4]।

बौद्ध—स्फटिक छूने में कभी ठंडी और कभी गर्म लगती है। यदि दोनों स्थितियों में स्फटिक अभिन्न होती तो उक्त अन्तर न आता। किन्तु अन्तर प्रतीत होने के कारण जैसे अग्नि और जल भिन्न माने जाते हैं उसी प्रकार पूर्वक्षण के स्फटिक से परक्षण की स्फटिक भिन्न सिद्ध होती है। इसी प्रकार अन्य पदार्थ या पदार्थों की विभिन्न स्थितियों के द्वारा भी क्षणिकवाद की ही पुष्टि होती है।

नैयायिक—स्फटिक के ठण्डे और गर्म होने का कारण पदार्थों की विभिन्नता नहीं अपितु जलीय एवं तैजस अवयवों का स्फटिक में प्रवेश है।

बौद्ध—उक्त कथन उचित नहीं। अन्यथा हेमन्त ऋतु में काष्ठ, मिट्टी, पत्थर और लोहे में क्रमशः अधिक उष्णता क्यों होती। यह नहीं माना जा सकता कि किसी पदार्थ में वातावरण की सर्दी अथवा गर्मी कम प्रविष्ट होती है और किसी में अधिक। इसलिए यही मानना चाहिए कि पदार्थ क्षणिक है।

---

१. न्यायवार्तिक–३।२।११, पृष्ठ ४०८। २. न्यायवार्तिक–३।२।१२, पृष्ठ ४०८।
३. न्यायवार्तिक–३।२।१२, पृष्ठ ४०९–१०।
४. न्यायवार्तिक–३।२।१४, पृष्ठ ४११–१२।

नैयायिक—बौद्धों की दृष्टि में विभिन्न भूतों की प्रकृति भिन्न होती है, जैसे पृथ्वी खर अर्थात् कठिन होती है; जल स्निग्ध होता है; तेज उष्ण एवं वायु गतिमान् होती है[1]। स्फटिक जिसे कठिन ही होना चाहिए किसी समय उष्ण, किसी समय शीतल और किसी समय गतिमान् देखी जाती है। इस प्रकार कठिन स्वभाव वाली वस्तु अनेक स्वभाव वाली हो गई किन्तु ऐसा होना सर्वथा संभव है। उष्ण स्फटिक को हम पृथ्वी कहेंगे या अग्नि अथवा वायु अथवा जल? न्यायमत में स्फटिक के अन्दर अन्य भौतिक अवयवों का प्रवेश मानने के कारण प्रकृतदोष नहीं आपन्न होगा। बौद्धों की यह शङ्का, कि गर्म जल में तैजस अवयवों का प्रवेश इसलिए नहीं मान्य होना चाहिए कि गर्म जल में अग्नि का रूप नहीं देखा जाता, वस्तुस्थिति के न जानने के कारण ही होती है। तेज चार प्रकार का होता है जिसमें से एक प्रकार का तेज ऐसा भी होता है जिसमें रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता।

५—बौद्ध दीपक की भाँति प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक मानते हैं। ये लोग दीपक को असमकालिक ज्ञानों का विषय न मानते हुए उसे सत् मानते हैं। किन्तु उक्त दीपक का उदाहरण समीचीन नहीं। दीपक एक क्षण तक ही स्थिर नहीं रहता अपितु लगभग पाँच-छः क्षण वर्तमान रहता है। पहिले क्षण में वह अपने कारण की सत्ता से सम्बद्ध रहता है; दूसरे क्षण में उसमें सामान्य जाति की अभिव्यक्ति होती है; तीसरे क्षण में उसके अवयवों में क्रिया उत्पन्न होती है; चौथे क्षण में अवयवों का विभाग होता है; पाँचवें क्षण में अवयवों के पूर्व-संयोग का विनाश होता है और छटे में जाकर दीपक का विनाश होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कोई भी पदार्थ पाँच क्षणों के पहिले नष्ट नहीं हो सकता। इस काल में दीपक की सत्ता दूर नहीं होती। छः क्षणों की प्रक्रिया न मानकर अकारण ही प्रत्येक क्षण में दीपक का विनाश मानना उचित नहीं[2]।

६—यदि विनाश का कारण ही न मानने के कारण यह कहा जाये कि विनाश निर्निमित्त ही हुआ करता है, अतः उसके लिए किसी की अपेक्षा न होने के कारण प्रत्येक क्षण में उसका हो पड़ना स्वाभाविक है, इसलिए क्षणभङ्ग अवश्य मान्य है तो इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि बिना कारण के पदार्थ दो तरह के हो सकते हैं—(१) नित्य और (२) असत्। ऐसी परिस्थिति में निर्निमित्त मान्य होने के कारण विनाश को असत् न मानकर नित्य भी माना

१. तात्पर्यटीका—३।२।१७, पृष्ठ ५४४।
२. न्यायवार्तिक—३।२।१४, पृष्ठ ४१५।

जा सकता है और ऐसा मानने पर विनाश ही सदा रह जाने के कारण पुनः उत्पत्ति न हो सकेगी क्योंकि उत्पाद और विनाश परस्पर विरुद्ध हुआ करते हैं और यदि विरोध न माना जाये तो विनाश होते हुए भी आत्यन्तिक स्थिति अर्थात् नित्यता नश्वर पदार्थ में मान्य हो उठेगी क्योंकि भाव और अभाव में विरोध नहीं माना गया।

७—क्षणिकवाद के अनुसार वस्तु क्षण-क्षण विनष्ट हुआ करती है, फिर वस्तु के प्रतिक्षण उत्पन्न होने का क्या कारण हो सकता है? बौद्धों की यह युक्ति कि एक विनाशक ही दूसरे का उत्पादक होगा, जैसे कच्चे घड़े के गुणों को नष्ट करनेवाला अग्निसंयोग ही घड़े में नये गुणों को उत्पन्न करता है। न्याय इस मत को नहीं मान सकता क्योंकि दोनों स्थितियों में अग्निसंयोग एक ही नहीं होता अपितु भिन्न-भिन्न होते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उत्पादक विनाशक नहीं हो सकता। हो सकता है, लेकिन कालभेद से। पानी अङ्कुर को उत्पन्न करता है किन्तु वही पानी उसको नष्ट भी कर सकता है (बाढ़ से बहाकर या सड़ाकर)।

८—'क्षणिक वस्तु का विनाश' ये शब्द भी उपर्युक्त अर्थ को नहीं अभिहित करते क्योंकि यदि 'क्षणिक' शब्द का अर्थ 'जिसका विनाश हो' लिया जाये तो जिस क्षण में क्षणिक वस्तु का अस्तित्व होगा उस समय उसका विनाश नहीं होगा और जिस समय उसका विनाश होगा उस समय क्षणिक वस्तु का अस्तित्व नहीं होगा।

९—बौद्ध काल को संज्ञामात्र मानते हैं। वार्तिककार ने बौद्धों को पाँच वस्तुओं की नाममात्र से ही सत्ता मानने वाला बताया है—

'पंच भिक्षवः संज्ञाभेदमात्रमिति शास्त्रम्'[1] ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि बौद्धों की दृष्टि में काल की सत्ता काल्पनिक है, यथार्थतः नहीं। अतएव उनकी दृष्टि में पदार्थ को वस्तुतः क्षणिक नहीं होना चाहिये।

१०—क्षणिकवाद के समर्थन में बौद्ध यह युक्ति उपस्थित करते हैं कि गमनशील पदार्थ स्थान बदलता रहता है। पहिले स्थान में उसकी सत्ता रहती है, दूसरे में नहीं, फिर दूसरे में उसकी सत्ता रहती है, तीसरे में नहीं। जिसमें उसकी सत्ता नहीं रहती है वहाँ विनष्ट माना जाता है और जहाँ उसकी सत्ता रहती है वहाँ उत्पन्न। इस प्रकार विषय के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष न होने का कारण क्षण-क्षण उत्पाद और विनाश मान्य है। इस बौद्ध युक्ति की आलोचना

---

१. न्यायवार्तिक—३।२।१४, पृष्ठ ४१६।

करते हुये कहा गया है कि विभिन्न स्थानों में पदार्थ के दर्शन और अदर्शन का कारण क्षण-क्षण पदार्थ की उत्पत्ति एवं उसका विनाश नहीं, अपितु पदार्थ का विभिन्न स्थानों से संयोग एवं विभाग है[1]।

उक्त प्रकार से क्षणिकवाद का खण्डन 'न्यायवार्तिक' में पाया जाता है। आत्मा की सत्ता की सिद्धि विभिन्न युक्तियों के द्वारा करके वार्तिककार ने क्षण-भंगवाद का खण्डन किया है।

परिशिष्ट

'न्यायवार्तिक' में प्राप्त उद्धरणों का विवरण

'न्यायवार्तिक' में बौद्ध, सांख्य तथा योगदर्शन के ग्रंथों से उद्धरण लेने के अतिरिक्त जैमिनि, कणाद तथा पाणिनि के सूत्रों को भी उद्धृत किया गया है। वैदिक साहित्य के भी कुछ उद्धरण प्राप्त होते हैं। वार्तिक में प्राप्त प्रायः सभी उद्धरणों को यहाँ उद्धृत किया गया है। वार्तिककार उद्धरण देते समय सम्बद्ध आचार्य अथवा ग्रंथ का उल्लेख नहीं करते। तात्पर्यटीकाकार ने यत्र-तत्र सम्बद्ध आचार्यों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त डॉ० रैंडिल तथा डॉ० विद्याभूषण ने बौद्धदर्शन के कुछ उद्धरणों के मूल स्रोत का निर्देश किया है। कुछ उद्धरणों के मूल स्रोतों का पता नहीं चलता और कुछ उद्धरण सामान्य प्रयोग में आते हैं। उक्त दो प्रकार के उद्धरणों के मूल स्रोत का उल्लेख यहाँ नहीं हो सका है। अन्य उद्धरणों से सम्बद्ध आचार्यों एवं ग्रंथों का विवरण प्रस्तुत करने का यथासम्भव प्रयास किया गया है।

१—'अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात्' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ २६७)

विशेष—यह उद्धरण 'न्यायभाष्य' (२।१।५९) में भी मिलता है।

२—'अग्निर्माणवकः' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ ४९४)

विशेष—यह उद्धरण 'न्यायभाष्य' (४।१।६०) में भी मिलता है।

३—'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ २६८)

४—'अग्निहोत्रं जुहुयात्' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ २६८, ४८३)

विशेष—यह उद्धरण 'न्यायभाष्य' में भी अनेक स्थलों पर मिलता है (न्यायभाष्य—२।१।५८, ४।१।६०)।

५—'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥' (न्यायवार्तिक, पृष्ठ ४६७)

---

1. न्यायवार्तिक—३।२।१४, पृष्ठ ४१६–१७।

६—'अद्रव्यद्रव्यत्वात् परमाणावनुपलब्धिः, रूपसंस्काराभावाद्वायोरनुपलब्धिः'
(न्यायवार्तिक—पृष्ठ २११)

विशेष—यह उद्धरण पाठभेद के साथ वैशेषिक सूत्र (४।१।७) है। वैशेषिक सूत्र इस प्रकार है—

'सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः'

७—'अधीष्व यजस्व ब्रह्मचर्यं चर' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ ४९५)

विशेष—यह उद्धरण न्यायभाष्य ४।१।६० में भी मिलता है।

८—'अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्भावो नास्तिताऽसति' (न्यायवार्तिक, पृष्ठ ५५)

मूलस्रोत—दिङ्नागकृत 'प्रमाणसमुच्चय' के अध्याय २ से उद्धृत Vidyabhusana : A History of Indian Logic, p. 288.

९—'अनेक द्रव्यसमवायाद्रूपसमवायाच्च रूपोपलब्धिः'
(न्यायवार्तिक—पृष्ठ १६१)

मूलस्रोत—यह वैशेषिक सूत्र (४।१।८) है।

१०—'अनेन रसगंधस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम्' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ १६१)

विशेष—यह उद्धरण पाठभेद के साथ वैशेषिक सूत्र (४।१।९) है। वैशेषिक सूत्र इस प्रकार है—

'तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम्'

११—'इन्द्रियार्था ह्यनर्थाय यदि स्युरविकल्पिताः।
सर्वोऽनर्थेन युज्येत चरन्निन्द्रियगोचरः'॥ (न्यायवार्तिक—पृष्ठ २०८)

१२—'इषावयुगपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतवः'
(न्यायवार्तिक—पृष्ठ १४०)

विशेष—यह पाठभेद के साथ वैशेषिक सूत्र (५।१।१६) है।

१३—'उदाहरणसाधर्म्याच्च किमन्यत्साध्यसाधनम्' (न्यायवार्तिक, पृष्ठ १२०)

विशेष—डॉ॰ रैंडिल के अनुसार यह उद्धरण बौद्ध आचार्य दिङ्नाग की कृति से उद्धृत होना चाहिये।

(Randle : Fragments from Dinnaga, p. 43)

१४—'उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यं समयाध्युषिते होतव्यम्'
(न्यायवार्तिक, पृष्ठ २६७)

विशेष—यह उद्धरण न्यायभाष्य (२।१।५८) में भी मिलता है।

१५—'उपनयनिगमने नावयवान्तरे अर्थाविशेषात्' (न्यायवार्तिक, पृष्ठ १३७)

१६—'ऋणवान् जायते' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ ४९४)

विशेष—यह उद्धरण न्यायभाष्य (४।१।५९) में भी मिलता है।

१७—एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागयोरनपेक्षकारणं कर्मेति'

(न्यायवार्तिक—पृष्ठ २२०)

विशेष—यह उद्धरण पाठभेद के साथ वैशेषिक सूत्र (१।१।१७) है।

वैशेषिक सूत्र इस प्रकार है :—

'एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षम्'

१८—कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ ११२)

मूलस्रोत—यह पाणिनि का (१।४।४९) सूत्र है।

१९—'कामं कामयमानस्य यदा कामः समृध्यति ।

अथैनमपरः कामः क्षिप्रमेव प्रबाधते ॥" (न्यायवार्तिक-पृष्ठ ४९२)

विशेष—यह उद्धरण न्यायभाष्य (४।१।५७) में भी मिलता है।

२०—'कारके'—(न्यायवार्तिक—पृष्ठ १९७)

मूलस्रोत—यह पाणिनि का (१।४।२३) सूत्र है।

२१—'कार्योत्पत्तिर्विना तेन शब्दायस्कान्तकर्मवत्' (न्यायवार्तिक–पृष्ठ २१९)

२२—'ग्रामकामो यजेत' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ २७१)

२३—'ग्राह्यधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुः' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ १३१)

मूलस्रोत—दिङ्नाग से उद्धृत (तात्पर्यटीका—पृष्ठ ९१)

२४—जीवन्नेव विद्वान् संहर्षायासाभ्यां मुच्यते' (न्यायवार्तिक–पृष्ठ ५०२)

२५—ततोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षम्' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ ४०)

मूलस्रोत—वसुबन्धु से उद्धृत (तात्पर्यटीका—पृष्ठ १५०)

२६—'तत्र यः सन् सजातीये द्वेधा चासंस्तदत्यये' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ१२९)

मूलस्रोत—दिङ्नाग से उद्धृत (तात्पर्यटीका—पृष्ठ २९०)

२७—'तथा युक्तं चानीप्सितम्' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ १९६)

मूलस्रोत—यह पाणिनि का (१।४।५०) सूत्र है।

२८—'तथा सिद्धो दृष्टान्तः' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ १३६)

मूलस्रोत—नागार्जुन से उद्धृत Vidyabhusana : A History of Indian Logic, p. 128.

२९—'तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ १७२)

मूलस्रोत—योगभाष्य से उद्धृत

३०—'तस्य भावस्त्वतलौ' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ २८१)

मूलस्रोत—यह पाणिनि का (५।१।१९) सूत्र है।

३१—'तादृगविनाभाविधर्मोपदर्शनं हेतुः' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ ५५)

मूलस्रोत—दिङ्नाग से उद्धृत (तात्पर्यटीका–पृष्ठ १८९)

३२—द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः' (न्यायवार्तिक–पृष्ठ ३४३)

मूलस्रोत—यह वैशेषिकसूत्र—(५।२।१९) है।

३३—'द्वादशमासाः संवत्सरः' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ २६७)

३४—'न तच्चक्षुषि नो रूपे नान्तराले तयोः स्थितम्।
न तदस्ति न तन्नास्ति यत्र तन्निष्ठितं भवेत्' ॥
(न्यायवार्तिक—पृष्ठ ३६३)

३५—'नान्तरीयकार्थदर्शनं तद्विदोऽनुमानम्' (न्यायवार्तिक–पृष्ठ ५४)

मूलस्रोत—दिङ्नाग से उद्धृत (तात्पर्यटीका—पृष्ठ १८९)

३६—'नोदनाभिघातसंयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म'
(न्यायवार्तिक—पृष्ठ २३७)

मूलस्रोत—यह वैशेषिक सूत्र (५।२।१) है।

३७—पक्षधर्मत्वसंबन्धसाध्योक्तेरन्यवर्जनम्' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ १३८)

३८—'पक्षपर्याय एव सिद्धान्तः' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ १०६)

३९—'पक्षो यः साधयितुमिष्टः' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ ११३)

मूलस्रोत—वसुबन्धु से उद्धृत (देखिये उद्धरण संख्या ५६)

४०—'पुत्रकाम इष्टिं कुर्वीत' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ २६७)

४१—'पृथिव्यां ते शरीरम्' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ २६७)

४२—'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ ४१)

मूलस्रोत—दिङ्नाग के 'प्रमाणसमुच्चय' के प्रथम अध्याय से उद्धृत
Vidyabhusana : A History of Indian Logic, p. 277.

४३—'प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षमनःप्रकाशविशेषेषु सत्सु'
(न्यायवार्तिक—पृष्ठ ४३)

४४—'भारं वो भिक्षवो देशयिष्यामि भारहारं च, भारः पञ्चस्कन्धा
भारहारश्च पुद्गल इति।
यश्चात्मा नास्तीति स मिथ्यादृष्टिको भवति' (न्यायवार्तिक–पृष्ठ ३३९)

मूलस्रोत—संयुक्तनिकाय (भाग ३, अध्याय ३, पृष्ठ २५)
Vidyabhusana : A History of Indian Logic, p. 126.

४५—'भिक्षो रूपं न त्वं वेदना संस्कारो विज्ञानं या न त्वम्'
(न्यायवार्तिक—पृष्ठ ३३८)

४६—'भूमिरावपनं महत्' (न्यायवार्तिक–पृष्ठ २६८)
४७—'महदनेकद्रव्यवत्त्वाद्रूपवत्त्वाच्चोपलब्धिरित्युपलब्धिः'
(न्यायवार्तिक—पृष्ठ ३७७)

मूलस्रोत–यह वैशेषिक सूत्र—(४।१।१९) है।

४८–'यथा तदेत्युपसंहारे कृते तथेत्यनेन शब्देन सर्वसामान्यं वा, कृतकसामान्यं वाभिधीयते ? कृतकत्वविशेषो वा ? सर्वसामान्यं तावन्नयुक्तम्, तथेति व्यपदेशाशक्यत्वादिति। कृतकत्वविशेषोऽपि न युक्तः, अन्यथा शब्दस्य कृतकत्वात्। परिशेषात् कृतकत्वसामान्यम्। तच्च हेतुनैवोक्तम्।'
(न्यायवार्तिक–१३८)

४९—यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति" ॥
(न्यायवार्तिक—पृष्ठ ४६७)

५०—'यस्माद्विषाणी तस्मादश्वः' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ ३०३)
५१—'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ २५८)
५२—'रूपं भदन्त नाहं वेदना संस्कारो विज्ञानं भदन्त नाहम्'
(न्यायवार्तिक–पृष्ठ ३३८)
५३—'रूपोपलब्धिसंवर्तकेन कर्मणा तत्तृष्णापूर्वकेण चक्षुरभिनिर्वृत्तमतो रूपोपलब्धेः कारणं भवति' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ ३३)
५४—'वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोर्भयम्।
चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः ॥"
(न्यायवार्तिक—पृष्ठ ३५५)

५५—'विनयादिभ्यष्ठक्' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ २८३)
मूलस्रोत—यह पाणिनि का (५।४।३४) सूत्र है।
५६—'विरुद्धार्थानिराकृतः' (न्यायवार्तिक, पृष्ठ ११६)
मूलस्रोत—वसुवन्धु से उद्धृत

विशेष—'विरुद्धार्थानिराकृतः' और 'साध्यत्वेनेप्सितः पक्षः' ये दोनों अंश वार्तिक (पृष्ठ ११६) में अलग-अलग पाये जाते हैं। तात्पर्यटीका में दोनों मिलकर एक ही उद्धरण—

'साध्यत्वेनेप्सितः पक्षो विरुद्धार्थानिराकृतः' (पृष्ठ २७३ पंक्ति ६) इस रूप में प्राप्त होते हैं।

डॉ० रैंडिल 'पक्षो यः साधयितुमिष्टः' (न्यायवार्तिक–पृष्ठ ११३ पंक्ति ६) और 'साध्यत्वेनेप्सितः पक्षो विरुद्धार्थानिराकृतः' इन दोनों वाक्यों को दिङ्नाग

से उद्धृत मानने के पक्ष में हैं (Randle : Fragments from (Dinnaga foot note, pp. 27-28)

डॉ० रैंडिल का कथन है कि यद्यपि डॉ० झा ने 'पक्षो यः साधयितुमिष्टः' को वसुबन्धु का पक्षलक्षण माना है किन्तु उन्होंने अपनी मान्यता को उपयुक्त सिद्ध करने के लिये प्रमाण नहीं दिया है और वाचस्पति ने इस लक्षण में केवल 'भदन्तेनान्यथा लक्षणं प्रणीतम्' (तात्पर्यटीका—पृष्ठ २७ पंक्ति ८) ही कहा है, किन्तु वसुबन्धु के नाम का उल्लेख नहीं किया है। डॉ० रैंडिल दोनों पक्षलक्षण एक ही व्यक्ति दिङ्नाग के मानते हैं क्योंकि वाचस्पति मिश्र ने दूसरे लक्षण के अवसर पर 'स्थानान्तरीयं च भदन्तस्य लक्षणम्' (तात्पर्यटीका—पृष्ठ २७३, पंक्ति ५) कहा है।

किन्तु वाचस्पति मिश्र के निम्नलिखित वाक्य के आधार पर डॉ० रैंडिल का कथन उचित नहीं प्रतीत होता है। दोनों लक्षण वसुबन्धु कृत प्रतीत होते हैं। वाचस्पति मिश्र का वाक्य यह है—

'तथा पक्षो यः साधयितुमिष्ट, इत्यत्रापि च वसुबन्धुलक्षणे विरुद्धार्थानिराकृत-ग्रहणं न कर्तव्यम्'। (तात्पर्यटीका—पृष्ठ ७२ पंक्ति ८–१०)

५७—'ब्राह्मणेन सुरा पेया' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ ११३)

स्रोत—यह उद्धरण प्रशस्तपादभाष्य में प्राप्त होता है।

५८—'श्रोत्रादिवृत्तिः' (न्यायवार्तिक—पृष्ठ ४३)

मूलस्रोत—यह अंश सांख्याचार्य वार्षगण्य से उद्धृत है।

(तात्पर्यटीका—पृष्ठ १५५)

५९—'षट्केन युगपद् योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्वे पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥'

मूलस्रोत—प्रकृत उद्धरण वसुबन्धुरचित 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' की १२वीं कारिका है।

६०—'सत्संप्रयोगे पुरुषेन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्'।

(न्यायवार्तिक—पृष्ठ ४३)

मूलस्रोत—यह जैमिनि के (१।१।४) सूत्र का अंश है।

६१—'संस्थानविशेषावस्थानम्'। (न्यायवार्तिक—पृष्ठ २१८)

६२—'संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्'। (न्यायवार्तिक—पृष्ठ २८६)

मूलस्रोत—यह वैशेषिक सूत्र (७।५।१) है।

६३—'सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्'।

(न्यायवार्तिक—पृष्ठ १००)

६४—'साधर्म्यदर्शनाद् विशेषोपलिप्सोर्विमर्षः संशयः'।
(न्यायवार्तिक—पृष्ठ १००)

६५—'साध्यत्वेनेप्सितः पक्षः'। (न्यायवार्तिक—पृष्ठ ११६)
मूलस्रोत—वसुबन्धु से उद्धृत
विशेष—देखिये उद्धरण संख्या ५६।

६६—'साध्याभिधानं प्रतिज्ञा'।
मूलस्रोत—'वादविधि' नामक बौद्ध ग्रंथ से उद्धृत।

६७—'साध्येनानुगमो हेतोः साध्याभावे च नास्तिता'।
(न्यायवार्तिक—पृष्ठ १३७)

६८—'सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः'।
(न्यायवार्तिक—पृष्ठ ९९)
मूलस्रोत—यह वैशेषिक सूत्र (२।२।१७) है।

६९—'सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाभावात् तत एव ज्ञानम्'।
(न्यायवार्तिक—पृष्ठ ३१६)
मूलस्रोत—यह वैशेषिक सूत्र (५।८।१) है।

७०—'सूर्यं ते चक्षुः स्पृणोमि'। (न्यायवार्तिक—पृष्ठ ३७२)
विशेष—इस मंत्रांश को भाष्यकार (३।१।३१) ने भी उद्धृत किया है।

७१—'सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतु पृथिवीं ते शरीरम्'। (न्यायवार्तिक—पृष्ठ ३७२)
विशेष—इस मंत्रांश को भाष्यकार (३।१।३१) में थोड़े पाठभेद के साथ उद्धृत किया है।

७२—'स्वपरपक्षयोः सिद्ध्यसिद्ध्यर्थं वचनं वादः'।
(न्यायवार्तिक—पृष्ठ १२१, १५०)
मूलस्रोत—वसुबन्धु से उद्धृत, देखिये तात्पर्यटीका—पृष्ठ ३१७।

७३—'हेतुर्विपक्षाद् विशेषः'। (न्यायवार्तिक—पृष्ठ १२५)

उपसंहार

डॉ० रैंडिल 'न्यायवार्तिक' को 'तर्कशास्त्र' पर लिखे गये विश्व के उच्चतम निबन्धों में से अन्यतम मानते हैं[1]। न्यायवार्तिक जैसे—प्रौढ़ ग्रन्थ का परवर्ती भारतीय दर्शनसम्पत्ति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। वार्तिक में दिङ्नाग जैसे

1. 'Udyotakara's Nyāyavārtika is on the other land one of the world's great treatises on logic.
(Randle : Indian Logic in the Early Schools p. 35)

मेधावी बौद्धों की आलोचना होने के कारण बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति को 'न्यायविन्दु' नामक ग्रन्थ लिखना पड़ा जिसमें उन्होंने दिङ्नाग पर किये गये वार्तिक के आक्षेपों एवं आलोचनाओं का उत्तर देने का प्रयास किया है। वार्तिककार की प्रखर आलोचना के कारण धर्मकीर्ति को दिङ्नाग के शब्दों में संशोधन करना पड़ा, जैसे दिङ्नाग के प्रत्यक्षलक्षण में धर्मकीर्ति को 'अभ्रान्तम्' पद जोड़ना पड़ा[1]।

'न्यायवार्तिक' की व्याख्या 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' का वाचस्पति मिश्र द्वारा लिखा जाना ही न्यायवार्तिक के महान् प्रभाव का सूचक है। 'न्याय-वार्तिक' जैसे दुरूह ग्रंथ पर व्याख्या लिखना सरल काम न था। बहुत काल तक यह ग्रंथ अव्याख्यात ही पड़ा रहा इसीलिये वाचस्पति मिश्र ने वार्तिक की उपमा 'अतिजरती'[2] गाय से दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय वार्तिक का 'तात्पर्य' समझना भी कठिन हो गया था, जिसे स्पष्ट करने के लिये वाचस्पति ने 'तात्पर्यटीका' लिखी।

उदयनाचार्य ने तात्पर्यटीका पर 'न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि', वर्धमान ने 'तात्पर्यपरिशुद्धि' पर 'न्यायवावार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिप्रकाश', पद्मनाभ ने 'प्रकाश' पर 'वर्धमानेन्दु' और शंकर मिश्र ने 'वर्धमानेन्दु' पर 'न्यायतात्पर्यमण्डन' नामक टीकायें लिखीं। ये ग्रन्थ भी न्यायवार्तिक के सिद्धान्तों से सर्वथा प्रभावित रहे हैं।

'न्यायवार्तिक' के पश्चात् लिखी गई मुख्य व्याख्याओं के नामों—'न्याय-वार्तिकतात्पर्यटीका', 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि' और 'न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीकापरिशुद्धिप्रकाश' में पूर्वपद के रूप में 'न्यायवार्तिक' के प्रयोग से भी न्यायवार्तिक की महत्ता का ज्ञान होता है। पूर्वपद के रूप में 'सूत्र' अथवा 'भाष्य' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

'न्यायवार्तिक' के बाद न्याय तथा अन्य दर्शनों की कृतियों पर न्यायवार्तिक का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। न्यायवार्तिक के अनेक सिद्धान्तों को ग्रहण कर लिया गया है। कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जिनकी भारतीय दर्शन पर अमिट छाप है; उदाहरण के लिये षट् सन्निकर्षों का सिद्धान्त, उपमान का वैधर्म्योपमान प्रभेद, शब्दार्थप्रत्यय का सिद्धान्त इत्यादि।

न्याय के अतिरिक्त वेदान्त, वैशेषिक आदि दर्शनों के बहुत से ग्रन्थों में न्यायवार्तिक अथवा उद्योतकर का उल्लेख मिलता है। श्रीधर (९९१ ई० सन्)

१. न्यायविन्दु (प्रथम परिच्छेद)।
२. तात्पर्यटीका—१।१।१, प्रस्तावना, पृष्ठ १।

ने 'न्यायकन्दली' में उद्योतकर का उल्लेख किया है—'यथाहोद्योतकरः समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणार्थः'। वर्धमान उपाध्याय (ईसा की १३वीं शताब्दी) ने 'किरणावलीप्रकाश' में—तस्य संस्कारात् कालाद्वा विनाश इति वार्तिकविरोधाच्च'; चित्सुखाचार्य (ईसा की १३वीं शताब्दी) ने 'प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका' में—'तथा च भगवदक्षपादप्रणीतं सूत्रं प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानमिति। व्याख्यातं चैतदुद्योतकरेण वार्तिककृता आगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सादृश्यज्ञानमुपमानमिति'; शंकर मिश्र (ईसा की १५ वीं शताब्दी) ने 'वैशेषिकसूत्रोपस्कार' में 'न्यायवार्तिकेऽपि यत्कारणभेदेन संशये त्रित्वमुक्तम्' और विश्वनाथ (ईसा की १७वीं शताब्दी) ने 'गौतमसूत्रवृत्ति' में—'अत्र वार्तिकं यदि वादे देशनीयत्वात्...' इस प्रकार वार्तिक का उल्लेख किया है। इस प्रकार परवर्ती न्यायदर्शन के अतिरिक्त बौद्ध, वेदान्त, वैशेषिक आदि दर्शनों पर वार्तिक का प्रभाव पड़ने से उसकी महत्ता का अनुमान किया जाता है।

ग्रन्थसूची

प्रस्तुत प्रबन्ध में उद्धृत एवं उल्लिखित मुख्य ग्रन्थों की सूची यहाँ दी जा रही है। जहाँ कहीं केवल 'सूत्र', 'भाष्य', 'वार्तिक' एवं 'तात्पर्यटीका' का उल्लेख हो उसे क्रमशः 'न्यायसूत्र', 'न्यायभाष्य', 'न्यायवार्तिक' एवं 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' समझना चाहिये। इन ग्रन्थों के संदर्भों का अवलोकन प्रकृतसूची में उल्लिखित ग्रन्थों के द्वारा सरलतया हो सकेगा, जिसमें ग्रन्थों के प्रकाशन आदि का अपेक्षित विवरण दे दिया गया है।

१—उपायहृदय

यह ग्रन्थ 'Pre-Dinnaga Buddhist Texts on Logic from Chinese Sources : Tucci' शीर्षक ग्रंथ का एक अंग है।

२—तर्कभाषा—केशव मिश्र।

३—तर्कशास्त्र

यह ग्रन्थ 'Pre—Dinnaga Buddhist Texts on Logic from Chinese Sources : Tucci' संज्ञक ग्रंथ का एक अंग है।

४—तात्पर्यटीका—देखिये 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' के अन्तर्गत

५—न्यायभाष्य—वात्स्यायन

महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा तथा पं० ढुण्ढिराज शास्त्री द्वारा सम्पादित। चौखम्बा संस्कृत सीरीज काशी। सन् १९२५। इसी ग्रंथ में रघूत्तमकृत 'भाष्यचन्द्र' एवं डॉ० गंगानाथ झा कृत 'खद्योत' संज्ञक 'न्यायभाष्य' की व्याख्यायें भी प्रकाशित हुई हैं।

६—न्यायप्रवेश
(Edited by A. B. Druva, M. A, LL. B. Oriental Institute, Baroda.)

७—न्यायवार्तिक—उद्योतकर।
सम्पादक—पण्डित विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी। चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९१६ ईसवी।

८—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका—वाचस्पति मिश्र
सम्पादक—पण्डित राजेश्वर शास्त्री द्राविड़। चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी। सन् १९२५।

९—न्यायसूत्र (वात्स्यायन भाष्य सहित) देखिये पुस्तक संख्या ५

१०—न्यायसूत्रवृत्ति—विश्वनाथ न्यायपञ्चानन भट्टाचार्य।

११—पदार्थधर्मसंग्रह—प्रशस्तपाद।
सम्पादक—पं० ढुण्ढिराज शास्त्री चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी। १९२३ ई०।

इस ग्रन्थ का नाम प्रशस्तपाद भाष्य भी है।

१२—प्रमाणसमुच्चय -दिङ्नाग।
(Edited by H.R. Rangaswamy Iyengar, M.A. Government Oriental Library. Mysore.)

१३—प्रशस्तपादभाष्य—प्रशस्तदेव। देखिये पुस्तक संख्या ११।

१४—भाष्यचन्द्—रघूत्तम। देखिये पुस्तक संख्या ५।

१४—वादविधि–धर्मकीर्ति। सम्पादक–राहुल सांकृत्यायन। महाबोधिसभा सारनाथ, बनारस। १९३६ ई०।

१५—विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि—वसुबन्धु।
अनुवादक—डॉ० महेश तिवारी। चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी। १९६७

16—A History of Indian Logic : Vidyabhusana.
17—A History of Indian Philosophy : Dasgupta.
18—Indian Logic and Atomism : Keith.
19—Indian Logic in the Early Schools : Randle.
20—Indian Philosophy : Radhakrishnan.
21—Fragments from Dinnaga : Randle.
22—Mediaeval Logic : Vidyabhusana.
23—Pre—Dinnaga Buddhist Texts On Logic from Chinese Sources : Tucci.